भारतरत्न डाक्टर भगवान्‌दास

श्री प्रकाश जी की अन्य पुस्तकें

पाकिस्तान के प्रारम्भिक दिन
हमारा आन्तरिक जीवन
गृहस्थ गीता
Pakistan : Birth and Early Days
State Governors in India
Education in a Democracy
Dr. Bhagavan Das remembered by his son

भारतरत्न

डाक्टर भगवान्‌दास

श्री प्रकाश

आधुनिक भारत के महानतम मनीषी
के पुत्र के
संस्मरण एवं श्रद्धाञ्जली

१९७०

अपने प्रिय पुत्र
पिताजी के सबसे अधिक स्नेहभाजन पौत्र
तपोवर्धन
(१९२४–१९५६)
को
जिनके असामयिक देहावसान से कुल ने
एक ज्योतिर्मय रत्न खो दिया

बहुत सी सुख दुःख की स्मृतियों सहित
समर्पित

भूमिका

बहुत वर्षों से मेरी हार्दिक अभिलाषा रही कि मैं अपने पूज्य पिताजी डाक्टर भगवान्दास जी के सम्बन्ध में कुछ लिखूं। उनकी साठवी (१६२६) और सत्तरवी (१६३६) वर्षगाँठों को तो मैंने उनके मित्रों और निकट सम्बन्धियों को निमन्त्रित कर अपने घर पर ही मनाया था। उनकी पचहत्तरवी वर्षगाँठ को बहुत सी सार्वजनिक संस्थाओं ने मिल कर काशी (वाराणसी) के टाउनहाल मे सार्वजनिक रूप से १६४४ मे मनायी थी जब कितने ही विशिष्ट व्यक्तियो ने उनके प्रति श्रद्धाजलियाँ अर्पित की थी। उनकी अस्सीवी वर्षगाँठ पर मैंने साहस करके उनके सम्बन्ध मे लेख लिखा था जो एक स्थानीय पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, जिसमे मैंने यह कहने की धृष्टता की थी कि यद्यपि संसार पिताजी को एक बडे विद्वान् दार्शनिक के रूप में ही जानता है, और उनका सम्मान करता है, पर उनके जीवन का बहुत शोभनीय और अनुकरणीय व्यावहारिक अग है जिसका साधारण तौर से लोगों को ज्ञान नही है, और जिसका जानना आवश्यक है। सन् १६५६ मे उनकी ६०वी वर्षगाँठ मनाने की मुझे बडी उत्कण्ठा थी पर अपनी उस जन्म तिथि के चार महीने पहले ही वे संसार से उठ गये।

पिताजी बड़े ही कार्य-कुशल व्यक्ति थे, जैसा कि विद्याव्यसनी विशेषकर दार्शनिकगण साधारणत: नही होते। उन्होने पुत्र, पिता, पति, मित्र, गृहस्थ, बडे हिन्दू कुटुम्ब के कर्त्ता, पैतृक सम्पत्ति के प्रबन्धक के रूप मे हर प्रकार से आदर्श जीवन व्यतीत किया, और इससे शिक्षा लेकर लोग अपने लिए और अपने समुदाय के लिए बहुत लाभ उठा सकते हैं। उनके दिन-प्रतिदिन के साधारण से साधारण प्रसग मे आचरण और उनकी सुव्यवस्थित दिनचर्या मे भी हम अपने लिए बहुत कुछ सीख सकते हैं। उस लेख मे मैंने इस सम्बन्ध मे कुछ लिखा था, और छोटी-छोटी बातो मे उनके विशेष आचार-विचार का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया था। मेरा यह विश्वास है कि मनुष्य का वास्तविक चरित्र बड़ी-बडी बातों में नही, छोटी-छोटी बातों से ही जाना जा सकता है। उस समय बात वही समाप्त हो गयी थी। पर इस सम्बन्ध मे विस्तृत रूप से लिखने की अभिलाषा मेरे हृदय में तभी से बराबर बनी रही।

पिताजी के देहावसान से कुछ वर्षों पहले से ही स्वराज्य की प्राप्ति के बाद मुझे बराबर घर से दूर रहना पडा, पर काशी बराबर आता जाता रहा। जब मैं मद्रास का राज्यपाल रहा पिताजी के अस्वस्थ होने का समाचार पाकर उन्हें देखने आया था सयोगवश काशी के प्रसिद्ध विद्वद्वर वैद्यराज पण्डित स

शास्त्रीजी उनसे मिलने आये। पिताजी और उनमे बड़ा सौहार्द रहा। दोनो के भारतीय पुरातन साहित्य और शास्त्रो के प्रेमी और ज्ञाता होने के कारण उनमें बडी सुन्दर और शिक्षाप्रद शास्त्रचर्चा हुआ करती थी। उस समय भी यह हुई, जिसमें मुझे भी बडा रस आया। अन्त में मैंने पिताजी से कहा कि शास्त्रीय विद्या के अतिरिक्त जो आपकी अत्यधिक जनोपयोगी सांसारिक व्यावहारिक कार्य-कुशलता है, उसके सम्बन्ध मे भी यदि आप लिखते और कहते तो हमारे समाज का बड़ा हित होता। हम वडे अव्यवस्थित और अनुशासनहीन होते जा रहे है जिससे मुझे इस वात की चिन्ता हो रही है कि जो स्वतन्त्रता हमने प्राप्त की है वह ही कहीं लुप्त न हो जाय। इस पर पण्डित सत्यनारायण जी ने कहा कि विद्वान् लोगों से यह आशा करनी उचित और सम्भव नही है कि वे 'दाल-भात' की चर्चा करेगे।

यद्यपि मेरी अवस्था उस समय प्राय ६४ वर्षों की हो चुकी थी पर बाल प्रकृति बनी रही जैसा कि पिता-माता के जीवित रहने पर सन्ततियो की रहती है, चाहे उनका स्वय का वय कितना ही अधिक क्यों न हो ? इस वार्ता के वाद मैं यह कहना चाहता ही था, यद्यपि इन वृद्ध जनो के सामने कहने का साहस नही हुआ, कि 'यदि दाल-भात की उपेक्षा की जायगी तो शरीर भी न रह जायगा, और शास्त्रचर्चा करने का कोई अवसर भी न मिलेगा।' जो कुछ हो, उस समय से अथवा इस वार्तालाप के प्रसंग से विशेष प्रेरणा प्राप्त कर मैंने यह निश्चय किया कि पिताजी के व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध मे अवश्य कुछ लिखूँगा। मैंने अपने जीवन का यह अन्तिम और सबसे अधिक आवश्यक और महत्त्व का कार्य समझ रखा, और अपनी अभिलाषा की पूर्ति करने की चिन्ता में पड़ा रहा।

जब मैं ७० वर्ष का हुआ तब बम्बई (महाराष्ट्र) का राज्यपाल था। कुछ पिताजी की परम्परा के कारण और कुछ अपने देश मे पुराने शास्त्रोक्त आदेशों और उपदेशो से प्रभावित होकर मैंने यह विचार किया कि अब गार्हस्थ्य सम्बन्धी कार्यों से छुट्टी लेनी चाहिए। मैंने प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू से कहा कि यद्यपि आपकी विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए अपने लक्ष्य, स्वराज्य, की प्राप्ति के बाद भी मैंने एक के बाद एक शासकीय पदो को स्वीकार किया, पर अब आगे ऐसा करने को मैं तैयार नहीं हूँ। मुझे आपको छुट्टी देनी ही होगी।

मैं अपने ७२वें वर्ष में था जब महाराष्ट्र के राज्यपाल के कार्य की मेरी अवधि सन् १९६२ मे समाप्त हुई। उसके करीब चार वर्ष पहले ही पिताजी और माताजी का देहान्त हो चुका था। बम्बई से घर काशी न जाकर मैं सीधे देहरादून गया जहाँ नगर से १० मील दूर ग्रामीण अचल में अपनी वृद्धावस्था के लिए मैंने कुटिया बनवायी थी। वहाँ पहुँच कर पिताजी की जीवनी लिखने का कार्य आरम्भ किया। सयोगवश उसी समय बहुत से समाचार-पत्रो की तरफ से मुझे निमन्त्रण मिला कि मैं उनमें लेख लिखूँ। विविध विषयों पर छोटे-छोटे लेख लिखने की रुचि मुझे बाल्यावस्था से ही रही इन निमन्त्रणो पर ऐसे लेख लिखने के लोभ का मैं सवरण न कर सका और

विगत सात वर्षों मे अर्थात् सन् १९६२ से आज तक मैंने सैकडों लेख लिखे जो विविध पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होते रहे। इस काम में इतना समय और शक्ति लगी कि पिताजी की जीवनी लिखने का काम रह गया जिसका असीम दुःख मेरे हृदय मे बना रहा। इस कार्य को करना मैंने अत्यावश्यक समझ विगत वर्ष दृढ़-प्रतिज्ञ होकर इसे उठाया और मुझे हर्ष और सन्तोष है कि मैं इसे कर पाया।

मैं नही कह सकता कि मैंने अपनी हार्दिक अभिलाषा की पूर्ति इस रचना मे कहाँ तक कर पायी है। मैं यह भी नही कह सकता कि पाठको को यह रुचिकर होगी या नही, और वे इसके द्वारा पिताजी को पूर्ण रूप से जान सकेंगे या नही, और उनके सम्बन्ध मे जो कुछ मैंने लिखा है उससे कुछ अपने लिए लाभ उठा सकेंगे या नही। मुझे अवश्य इस बात का सन्तोष है कि मैंने पिताजी की स्मृति को स्थायी रखने और उसके द्वारा जन-साधारण को लाभ पहुँचाने के लिए यथाशक्ति और यथाबुद्धि अपने कर्त्तव्य का पालन किया। यदि जन-साधारण ने इसका स्वागत किया तो मुझे अवश्य ही सन्तोष और आनन्द होगा।

पिताजी की निज की लिखी अधिकतर पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में हैं। इस कारण अंग्रेजी जानने वालों के अतिरिक्त उनके देशवासी उनकी रचनाओ से प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त नहीं कर सके। कई यूरोपीय भाषाओं मे उनकी पुस्तको का अनुवाद हुआ पर **सब धर्म-मजहबों की तात्विक एकता** (एसेंशल यूनिटी आफ आल रेलिजन्स) के अतिरिक्त जिसका हिन्दी भाषा मे पण्डित सुन्दर लाल जी ने अनुवाद किया उनकी अन्य किसी अंग्रेजी पुस्तक का जहाँ तक मैं जानता हूँ किसी देशी भाषा मे अनुवाद नही हुआ। तथापि लोग यह जानते और मानते थे कि वे विद्या-वारिधि हैं। सभी विषयों का उनका बड़ा विस्तृत ज्ञान है। कितने ही शास्त्रो पर वे अधिकार रखते हैं। कितनो मे ही वे पारगत पण्डित है। इसका कुछ-कुछ आस्वादन उनसे मिलने वाले लोग कर पाते थे। कितने ही विदेशी विद्वान् भी उनसे बराबर मिलने आते रहे। कितने ही विदेशी दार्शनिको ने उनकी पुस्तकें पढी और सुख-दु ख, जीवन-मरण ऐसे रहस्यों पर जो कुछ हमारे देश के पुरातन विचारक कह गये थे और जिसका प्रतिपादन सुन्दर रूप से नये शब्दों में पिताजी ने किया था, उसे उन्होने जाना। जो पिताजी के पास देश-विदेश से पत्र आते थे, उनसे मालूम होता था कि कितनो को ही उनकी रचनाओ से शान्ति और सान्त्वना मिली, और इनकी सहायता से वे अपनी व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान कर सके।

इतना होते हुए भी वास्तव मे सीमित सामाजिक और बौद्धिक क्षेत्र के लोग ही पिताजी की पुस्तको से परिचित रहे। इसके बाहर लोग उन्हें कम जानते थे। इस पुस्तक को लिखने मे मेरा यह उद्देश्य नही है कि उनके दार्शनिक विचारो का प्रतिपादन करूँ। मैंने उनके कौटुम्बिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विचारो का उल्लेख बीच-बीच में बराबर किया है और दार्शनिक विचारो का भी विशेषकर पुस्तक के अन्त में कुछ निर्देश करने का प्रयत्न किया है इस पुस्तक को लिखने

का प्रधान उद्‌देश्य यही रहा कि मैं उनके व्यक्तित्व को ससार के सामने उपस्थित करूँ और उनकी व्यक्तिगत विशेषताओ को बताऊँ जिससे मेरी समझ में साधारण सासारिक नर-नारियो को बडा लाभ पहुँच सकता है, और उन्हें अपने जीवन को सुव्यवस्थित और सुमघटित रूप से सचालन करने मे सहायता मिल सकती है। मैंने उन्हे विद्याव्यसनी दार्शनिक के रूप मे नही पर सांसारिक कार्य-व्यस्त व्यावहारिक मनुष्य के रूप मे उपस्थित करना चाहा है, और इसी का प्रयत्न भी किया है। उनके दार्शनिक गूढ तत्त्वों को व्यक्त करने की न मुझमें पर्याप्त योग्यता है, न उसे करने का मेरा उद्‌देश्य ही रहा। मैं पाठको से यही निवेदन कर सकता हूँ कि यदि वे उसे जानना चाहे और उसमें उन्हे रस हो, तो वे उनकी पुस्तकों का ही अवलोकन करे।

अंग्रेजी मे तो उनकी अनेक पुस्तकें हैं ही, पर मित्रो के आग्रह और परिवर्तित वातावरण से प्रेरित होकर कई पुस्तके उन्होंने हिन्दी में भी लिखी जिनकी सूची मैंने पुस्तक के शुरु मे ही दी है। उनके अध्ययन से भी उनके दार्शनिक विचारो का परिचय मिल सकता है। पुरातनवादी सस्कृतज्ञ विद्वानों को नई विचारधारा की तरफ प्रवृत्त करने के लिए और समय की गति के कारण हिन्दू समाज मे आयी हुई त्रुटियो और दोषो की तरफ उनका ध्यान आकर्षित करने और उनको दूर करने की आवश्यकता पर उनका ध्यान दिलाने के लिए उन्होंने सस्कृत श्लोकों मे भी पुस्तकें लिखीं। अपनी रुचि और प्रकृति के अनुसार पाठकगण इनका अध्ययन कर इनके लेख को जान और समझ सकते हैं, और इनसे लाभ उठा सकते हैं।

आज मैं पिताजी के उन मित्रों को बडी प्रसन्नता और कृतज्ञता से स्मरण करता हूँ जो हमारे काशी के मकान मे आते थे और हमारे अतिथि होते थे। अपने-अपने स्थान में ये सभी बड़े प्रतिष्ठित थे, और उनके समय के विचारो के अनुसार बडे आदरणीय थे। जो लोग वय मे पिताजी से बडे भी थे वे भी उनका बहुत आदर करते थे और एक प्रकार से उन्हें अपने से बडा ही मानते थे। भिन्न-भिन्न स्थानो से पिताजी के मित्रगण साल में एक बार अवश्य आते थे और उनके पास कुछ दिन ठहरते थे। शासन मे, सार्वजनिक जीवन मे, सामाजिक और राजनीतिक सुधार के क्षेत्रों में, कार्य करने वाले कितने ही प्रसिद्ध व्यक्ति हमारे यहाँ आये इनमें से कितनो का निर्देश मैंने इस पुस्तक मे प्रसगवश किया है। ऐसी अवस्था मे इन लोगो से मिलने और उन्हें पास से जानने का मुझे भी सुअवसर मिला, जिन्होने विविध क्षेत्रो मे देश के निर्माण में योगदान किया था। मुझे प्रसन्नता है कि मैं ऐसे समय जीवित रहा जब देश में बडी-बडी घटनाएँ घटीं। पुत्र होने के नाते मैं पिताजी से मिलने आने वाले कितने ही लोगो से मिला, और छोटे से कार्यकर्ता के रूप मे मुझे भी ऐसे राष्ट्रीय कार्यों मे सम्मिलित होने का सुअवसर मिला, जिसके कारण देश स्वतन्त्र हुआ। अपने जीवन के सन्ध्याकाल में मेरी यही अभिलाषा और प्रार्थना है कि आगे आने वाली पीढियाँ मेरे पिता की पीढी के देन के योग्य अपने को सिद्ध कर सकें।

मित्रों को जब मालूम हुआ कि मैं पिताजी की जीवनी लिखना चाहता हू

तो उन्होने मुझे इस कार्य को करने के लिए बडा प्रोत्साहित किया और कहा कि इसे अवश्य करना चाहिए। बीच-बीच मे बराबर पूछते थे कि कितना काम हुआ। इससे मुझे एक तरफ लज्जा आती थी कि काम आगे नही बढ रहा है और दूसरी तरफ मुझे प्रेरणा भी मिलती थी कि इस काम को करते जाना चाहिए और शीघ्र ही समाप्त भी करना चाहिए।

पर सबसे अधिक प्रेरणा मुझे अपने स्वतन्त्रता सग्राम और सभी सार्वजनिक कार्यों के अनन्य साथी और सहृदय मित्र श्री विश्वनाथ शर्मा से मिली। मेरे सभी कार्य-क्षेत्र मे उन्होने बडे प्रेम और कुशलता से मेरी सहायता की है। सेवा समिति, ज्ञान-मण्डल, विद्यापीठ, गाधी आश्रम और कांग्रेस, जो मेरे पाँच कार्य-क्षेत्र थे जिसके द्वारा क्रमशः यात्रियों की सेवा, साहित्य की सेवा, राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार, खादी के उत्पादन और राजनीतिक संघर्ष मे मैं योगदान कर सका, उन सब में उनका मेरा साथ रहा। मैं इनके प्रति कदापि पर्याप्त रूप से कृतज्ञता-ज्ञापन नहीं कर सकता।

इस पुस्तक का कार्य तो बिल्कुल अधूरा पड़ा रहा जब इन्होंने मुझे एक प्रकार से लग कर इसे करने के लिए विवश किया। मेरे साथ दिन-रात रह कर, मेरे बोलने पर इसे वे लिखते जाते थे। यदि वे ऐसा न करते और मुझे इसकी तरफ आकृष्ट न करते रहते, और हर प्रकार से सहायता देने को उद्यत न होते तो यह पुस्तक कभी भी न लिखी जाती।

विश्वनाथ जी पिताजी के निकट सम्पर्क में करीब ३७ वर्षों तक रहे अर्थात् विद्यापीठ की स्थापना से (वे जहाँ के विद्यार्थी थे) पिताजी की मृत्यु तक (१९२१–१९५८)। पिताजी के वे बडे प्रेमभाजन भी थे और इनकी कार्य-कुशलता, बुद्धि की तीक्ष्णता, अध्यवसायिकता, गुणग्राहिकता, और श्रद्धालु भाव और ज्ञान के संचय की तत्परता से पिताजी सदा बड़े प्रभावित थे। इस कारण बहुत निकट से पिताजी को जानने का विश्वनाथ शर्मा जी को अवसर मिला था। उनके सहयोग से मुझे यह भी बड़ा लाभ हुआ कि वे मेरी त्रुटियों को शुद्ध करते जाते थे और यदि कोई आवश्यक बात छूट जाती थी तो उसे बतलाते जाते थे जिससे कि जो बात असावधानी या मेरी अज्ञानता से रह गयी हो उसकी पूर्ति हो जाय और पुस्तक यथासम्भव पूर्ण हो। यह पुस्तक विश्वनाथ शर्मा जी की कृति उतनी ही है जितनी मेरी।

यदि हिन्दी ससार इसका स्वागत करे और इसके द्वारा अपने बीच के एक बडे मनीषी का स्मरण बनाये रहे तो मै अपने को कृत्य मानूंगा।

सेवाश्रम
वाराणसी–१
२६ जनवरी, १९७०

श्रीप्रकाश

डाक्टर भगवान्दास विरचित हिन्दी ग्रन्थो की सूची

	नाम ग्रन्थ	प्रकाशक का नाम	प्रकाशन का सन्
१.	स्वराज्य शब्द का क्या अर्थ होना चाहिए	ज्ञान मण्डल, काशी	१९२२ ई०
२.	हिन्दी साहित्य	राष्ट्रीय हिन्दी परिषद्, जबलपुर	१९२३ ई०
३.	सब धर्म-मजहबो की एकता	ज्ञान मण्डल, काशी	१९२३ ई०
४.	समन्वय	भारती भण्डार, बनारस, प्रथम संस्करण	१९२८ ई०
		सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, द्वितीय सस्करण	१९४७ ई०
		पुस्तक भवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण	१९५७ ई०
५.	मनुपादानुक्रमणी	काशी विद्यापीठ	१९३३ ई०
६.	योगमूत्र भाष्यकोष	काशी विद्यापीठ	१९३८ ई०
७.	दर्शन का प्रयोजन	ज्ञान मण्डल, वाराणसी, प्रथम सस्करण	१९४० ई०
		द्वितीय सस्करण	१९४८ ई०
		तृतीय सस्करण	१९५३ ई०
८.	मानवधर्म सार	काशी विद्यापीठ, प्रथम सस्करण	१९४० ई०
		बृहत् सस्करण	१९४४ ई०
९.	मानवार्ष भाष्य	काशी विद्यापीठ	१९४२ ई०
१०.	पुरुषार्थ	सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, प्रथम सस्करण	१९४३ ई०
		द्वितीय संस्करण	१९४७ ई०
		चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, तृतीय सस्करण	१९६६ ई०
११.	शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद	सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली	१९४५ ई०
१२	भारतीय सस्कृति	भारतीय सस्कृति सम्मेलन दिल्ली	१९५२ ई०

१३.	सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल के आदर्श	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय	१९५२ ई०
१४.	विविधार्थ	डा० भगवान्दास, वाराणसी	प्रथम संस्करण १९५८ ई०
		चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी	द्वितीय संस्करण १९६५ ई०
१५.	हिन्दू संस्कृति	सरस्वती भवन, वाराणसी	
१६.	हिन्दू धर्म और समाज की चिकित्सा	श्री घनश्याम दास बिडला, कलकत्ता[1]	

[1] अंग्रेजी ग्रन्थों की सूची के लिए देखें लेखक की पुस्तक 'डाक्टर भगवान्दास रिमैम्बर्ड बाई हिच सन'।

विषय-सूची

पहला अध्याय

वंश का इतिहास

अपने देश में ऐतिहासिक मनोवृत्ति बिल्कुल नही रही जिसका परिणाम यह हुआ कि हमने अपने पुराने इतिहास को प्रायः खो दिया। दैनन्दिनी लिखने की अपने यहाँ प्रथा ही नही थी। देश के बड़े से बडे नृपतियो, योद्धाओं, कवियों, सन्तो के नाम से तो हम कुछ-कुछ परिचित हैं, पर हमे पता नही कि वे किस समय रहे और उनका जन्म अथवा देहावसान कब हुआ, और उनका कार्यक्षेत्र कहाँ रहा? यदि इसका पता होता तो उनके समय की सामाजिक और राजनीतिक दशा का भी हमे हाल लग जाता। मुसलमानो में ऐतिहासिक भावना थी और इतिहासवेत्ता अलबेरूनी ने हमारी इस त्रुटि का उल्लेख भी किया है। पीछे अंग्रेज विद्वान् मैकाले ने भी ऐसा किया। मुगल सम्राट बाबर अपनी दैनन्दिनी छोड गए हैं। अग्रेजो में तो दैनन्दिनी लिखने की साधारण प्रथा है। यूरोपीय पुरातत्व-वेत्ताओ ने पुराने सिक्को, मूर्तियो, भवनो के भग्नावशेषो के अध्ययन से हमारे पुराने इतिहास का पता लगाया है। इनसे प्रेरणा प्राप्त कर हम भी इतिहास के प्रति प्रेम करने लगे हैं और पुरानी बातो को जानने के इच्छुक हो गये हैं। यह स्वाभाविक बात है कि इस प्रसंग मे अपने कुटुम्ब के पूर्वजों और उनकी कृतियो को जानने का हमे कुतूहल हो। साथ ही, हम हिन्दू अपनी जाति अथवा उपजाति की उत्पत्ति और उसका इतिवृत्त जानने की इच्छा करे। ऐसी भावना विशेषकर उस समय उत्पन्न होती है जब कोई विशिष्ट पुरुष किसी कुल या जाति मे उत्पन्न होता है और विशेष ख्याति प्राप्त कर अपने कुल अथवा जाति, उपजाति को गौरवान्वित करता है।

मेरे हृदय मे भी अपने पिता डाक्टर भगवान्दास के व्यक्तित्व को देखकर और उनकी कृतियो का निकट से परिचय पाकर ऐसी ही भावना उत्पन्न हुई। हमारा कुल हिन्दुओ के वैश्य वर्ण के अन्तर्गत अग्रवाल जाति का माना जाता है। इसकी उत्पत्ति के स्थान के सम्बन्ध मे बहुत से विद्वानो ने अनुसधान किया है और साधारणत इसी परिणाम पर पहुचे है कि पंजाब के हिसार जिले के अग्रोहा नाम के

जैसा कि सभी लोगों का अनुभव है जो अपने कुटुम्ब के इतिहास की खोज में पड़ते हैं, कि उन्हें पीछे की घटनाओं का पता लगाते हुए एक ऐसी दीवार का सामना करना पड़ता है जिसके पीछे वे जा ही नहीं पाते। मेरा कुटुम्ब भी इस सम्बन्ध में अपवाद नहीं है। उसके बारे में बहुत प्रकार की किंवदन्तियाँ मैंने अपनी बाल्यावस्था तथा युवावस्था मे सुनी थीं जो अब भूली जा रही हैं। विवश होकर अपने इतिवृत्त के लिए उन्हीं को आधार मानना होता है। ऐसा अनुमान करना पडता है कि अग्रोहा से निकलने के बाद हमारे पूर्वज दिल्ली मे आये और सोलहवी शताब्दी के मध्य ये लोग सम्राट् हुमायूँ की सेना के साथ आकर मिर्जापुर जिले के चुनार और अहरौरा के अंचलों में बस गये और व्यापार करते रहे।

यदि यह सत्य है तो यह मानना होगा कि उस समय के पूर्वजों की कार्य-प्रणाली और आकांक्षाएँ वही रही होंगी जो अट्ठारहवी शताब्दी में उनके उत्तराधिकारियों की रही, जब उन्होने अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दक्षिण और पश्चिम के युद्धों में सहायता की जिसका कि ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है। जो कुछ ही—सत्रहवीं शताब्दी के अन्त मे अथवा अट्ठारहवी शताब्दी के आरम्भ मे चिन्तामणिदास और कल्याणदास नाम के दो भाई काशी आये। अट्ठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत देश के विभिन्न भागों में इस कुटुम्ब का व्यापार फैला। कुटुम्ब की परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों मे इनकी बावन कोठियाँ थी जिनमे से बाइस का जिक्र दिल्ली के पुरातत्व विभाग (आरकाइव्ज) के दस्तावेजों में मिलता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि इसके व्यापार के केन्द्र सूरत, बम्बई, मद्रास, मछलीपट्टम, ऐसे दूरवर्ती स्थानो में भी थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुटुम्ब 'साह घराने' के नाम से आरम्भ से ही काशी मे प्रसिद्ध हो गया। साह कल्याणदास के पुत्र साह सुन्दरदास, गोस्वामी तुलसीदास जी के समकालीन कहे जाते हैं, और रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड से बहुत प्रेम होने के कारण उनका नाम सुन्दरदास पड़ गया। इनके पुत्र भवानी साह जी साधारण प्रकार से कुटुम्ब का व्यापार चलाते रहे। उनके पुत्र भैयाराम साह के समय कुटुम्ब के व्यापार का विस्तार हुआ।

भैयाराम साह के पुत्र गोपालदास साह कुटुम्ब के वैभव की नींव को सुदृढ करने वाले कहे जा सकते हैं। इनका ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी से बहुत निकट का सम्बन्ध था। ये कम्पनी के महाजन भी थे। समय-समय पर पर्याप्त धन देकर उसकी सहायता करते थे और वर्तमान आन्ध्र प्रदेश के मुसलीपटाम नाम की नगरी मे अपनी टकसाल में 'पगोडा' नाम का छोटा सोने का सिक्का मद्रास स्थित कम्पनी के शासन के लिए ढालते थे।

इनके पुत्र साह मनोहरदास थे जिनका ही नाम हमारे पूर्वजों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। टीपू सुल्तान के विरुद्ध १७९९ में सिरंगापटाम में अंग्रेजों का जो भीषण युद्ध हुआ था और जिसमें टीपू सुल्तान ने वीरगति प्राप्त की थी उसमें अंग्रेजों के

सेना को ये रसद पहुँचाते थे। वहाँ से ये बहुत बडी धनराशि लाये। इसके बाद कलकत्ता और काशी ही इनके व्यवसाय के केन्द्र हो गये। दिल्ली के नेशनल आरकाइव्ज और मद्रास के रेकार्ड आफिस में १७७५ से लेकर १८१५ तक की बहुत सी दस्तावेजें मिलती हैं जिनसे इन चालीस वर्षों का इस कुटुम्ब का इतिवृत्त जाना जा सकता है। इसके बाद कुटुम्ब की विविध शाखाओं और व्यापार केन्द्रों का क्या हुआ, पता नहीं लगता। ईस्ट इण्डिया कम्पनी से इस कुटुम्ब के सम्बन्ध की कहानी एकाएक लुप्त हो जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिरगापटाम से बहुत धनराशि लाने के बाद भिन्न-भिन्न स्थानों पर इसकी जो शाखाएँ थी उनकी कुटुम्ब के सदस्यों ने चिन्ता नही की। स्थायी रूप से कुटुम्बीजन काशी में रहने लगे और साह मनोहरदास की स्थापित कलकत्ता की सम्पत्ति और काशी के अपने व्यवसाय से सन्तुष्ट रहे। सम्भावना यही है कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रतिष्ठित इसके व्यवसाय केन्द्र उनके प्रतिनिधियों के हाथ में चले गये, पर इसका कोई प्रमाण नही है। न नेशनल आरकाइव्ज, न कुटुम्ब में प्रचलित परम्पराओं से इसका पता चलता है कि देश के विभिन्न भागों में स्थापित इनकी कोठियों का क्या हुआ और इनका सब कारबार क्यों और किस प्रकार समाप्त हो गया।

साह मनोहरदास व्यवसाय कुशल होते हुए बडे दानी और धार्मिक रहे होगे। किंवदन्ती के अनुसार कलकत्ते का मैदान, जो प्रायः ७५ बीघो का है, गोचर भूमि के रूप में उन्होंने ही दिया है। वहाँ पर आज भी उनके नाम का तालाब मौजूद है। साह गोपालदास के खुदवाये हुए कुएँ चुनार और मिर्जापुर के जंगली अचलो मे पाये जाते हैं। साह मनोहरदास के खुदवाये हुए तालाब बिहार के मुगेर जिले मे सीताकुण्ड और बनारस जिले के अन्तर्गत मौदहा ग्राम में अब भी प्रसिद्ध हैं। स्थान स्थान पर इन्हें मन्दिर स्थापित करने और कुएँ खुदवाने का भी शौक था। सिरगा-पटाम के युद्ध के वर्ष, अर्थात् १७९९ मे, ही इन्होंने बडा बाजार में कटरा बनवाया जो उनके नाम से प्रसिद्ध है और हमारे कुटुम्ब की आज भी प्रधान सम्पत्ति है। इसी से सटी हुई एक तरफ की सडक भी इन्ही के नाम पर मनोहरदास स्ट्रीट है।

इनके एकमात्र पुत्र मुकुन्दलाल साह ने इनका कमाया हुआ बहुत सा धन बर्बाद कर दिया और अपने विचित्र स्वभाव और कार्यों के कारण ये भक्कड साह के नाम से माने जाने लगे। इस नाम से यह कुटुम्ब आज भी काशी तथा विविध तीर्थ स्थानों पर जाना जाता है। मुकुन्दलाल साह के तृतीय पुत्र जानकीदास साह थे, जिनके पुत्र सरजूदास साह हुए। इनकी पत्नी पार्वती देवी का हमारे कुटुम्ब मे विशेष स्थान है। इनके द्वारा विषम स्थिति में हमारे कुटुम्ब की रक्षा हुई थी। बड़े साहस और त्याग के साथ सकटों का सामना करके इन्होने घर को बचाया था। वे अपने पौत्र, मेरे पिता डाक्टर भगवान्दास, के ऊपर विशेष प्रेम रखती थीं और उनकी धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण उनका प्रभाव मेरे पिता के ऊपर अत्यधिक

पड़ा। सरजूदास साह के पुत्र साह माधवदास थे जिनके द्वितीय पुत्र डाक्टर भगवान्-दास हुए।

साह माधवदास काशी के बड़े प्रतिष्ठित नागरिक थे। विविध क्षेत्रों में उन्होंने सार्वजनिक सेवाएँ की थी। कारमाइकेल लाइब्रेरी, नागरी प्रचारिणी सभा और सेन्ट्रल हिन्दू कालेज ऐसी उपयोगी संस्थाओं की स्थापना में उनका हाथ था। सन् १८९१ मे जब काशी के भदैनी मुहल्ले में हनुमान जी के मन्दिर को हटाने के सम्बन्ध मे दगा हुआ था, तो उसके शमन के लिए वे साहस के साथ निकले थे। उस अवसर पर घोड़े से गिर जाने के कारण उन्हें गहरी चोट लगी थी जिससे जीवनपर्यन्त उनके पैर बहुत कमजोर रहे। वे बड़े उदारचेता थे और आर्य समाज के जन्मदाता स्वामी दयानन्द और अलीगढ़ मुसलिम कालेज के सस्थापक सर सैयद अहमद दोनो से ही उनकी खासी मित्रता थी। दोनों का ही स्वागत उन्होंने अपने घर पर किया था।

सन् १८९७ मे ५२ वर्ष की उम्र में उनका देहान्त हो गया। उनके चार पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। मेरे पिता उनके द्वितीय पुत्र थे। उनकी स्त्री का देहान्त पहले ही हो चुका था। यद्यपि उनकी मृत्यु के समय मेरी उम्र केवल सात वर्षों की थी पर मुझे उनकी पूरी याद है। वे उस पीढ़ी के थे जब मुस्लिम संस्कृति का प्राधान्य था। वे फारसी के अच्छे ज्ञाता थे और उर्दू में लिखते थे। बहुत से स्थानीय मुस्लिम सज्जन उनके मित्र थे और उनसे मिलने आया करते थे।

गृहस्थ जीवन में मेरे पितामह पुरानी परम्परा के अनुसार ही रहते थे। उसी में उनकी सन्ततियों का लालन-पालन हुआ था। उस समय लड़कियो को पढ़ाने की प्रथा नहीं थी। पुत्रो की प्रारम्भिक पढ़ाई मौलवियो द्वारा उर्दू-फारसी मे ही की गयी थी। साधारण तौर से आजकल ऐसा विचार है कि जो मित्र है उनका एक साथ भोजन करना आवश्यक और स्वाभाविक है। यद्यपि मेरे पितामह और उनके मुस्लिम मित्र एक साथ भोजन नहीं करते थे तथापि उनकी परस्पर की मैत्री बहुत गाढ़ी थी। वे सभी एक-दूसरे के आचार-विचार का आदर करते थे। पीछे नयी भावनाओं के कारण विभिन्न जातियो और धर्मावलम्बियो के बीच सह-भोज की प्रथा चली, पर साम्प्रदायिकता और जातीय दुर्भाव घटने के बदले बढ़ते ही चले गये। जो लोग एक साथ भोजन करते थे वे ही पीछे एक-दूसरे की हर प्रकार से हानि करने में संकोच नहीं करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक जीवन का अध्ययन हमारे लिए उपयोगी और शिक्षाप्रद होगा। उस समय हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही समान स्तर के नागरिक हो गये थे और परस्पर का व्यक्तिगत, सामाजिक और आर्थिक जीवन मित्रता के साथ व्यतीत करते थे। इस भूमिका मे हमें बीसवीं शताब्दी की घटनाओं की विवेचना करनी चाहिए। वे ही अंग्रेज जिन्होंने राजनीति और प्रशासन की दृष्टि से सारे भारत को एक किया था उसका अंग भंग करके चले गये। इस प्रकार उन्होंने तीन

सौ वर्ष का अपना शुभ काम स्वय नष्ट कर दिया ।

अवश्य ही धार्मिक और सास्कृतिक दृष्टि से एकता सम्पूर्ण भारतवर्ष में अनन्तकाल से रही है, पर राजनीतिक दृष्टि से एकता की स्थापना करना अग्रेजों का ही काम था । उनकी शासन की क्षमता के कारण देश के सब भाग और श्रेणी के लोग एक होने लगे और आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक उन्नति और उत्कर्ष की उनकी आकाक्षाएँ एक आवाज से उठने लगी । ऐसी अवस्था मे विशेषकर विदेशी शासक को भेद-नीति का आश्रय अपने अस्तित्व के लिए लेना पडता है । इसी को अग्रेज 'डिवाइड एण्ड रूल' अर्थात् 'फूट डालो और राज्य करो' कहते थे । उन्होने हिन्दू और मुसलमानो मे परस्पर का वैमनस्य पैदा किया जो दिन प्रतिदिन बढता ही गया । देखते ही देखते अन्य साम्प्रदायिक समुदायो मे भी यह विष फैला और हिन्दू व मुसलमानो मे तो बहुत ही कटुता आ गयी । पाकिस्तान इसी का फल है । आज अपने देश मे अग्रेजी शासन तो नही रहा पर उसमें दो स्वतन्त्र सर्वसत्ता-प्राप्त परस्पर विरोधी पडोसी राज्यों की स्थापना हो गयी । इसके कारण ऐसी विषम समस्याएँ उत्पन्न हो गयी है जिनका समाधान करना अत्यधिक कठिन प्रतीत होता है ।

दूसरा अध्याय

जन्म और बाल्यावस्था

मेरे पिता का जन्म मौनी अमावस्या, माघ कृष्ण ३०, सम्वत् १९२५ तदनुसार १२ जनवरी सन् १८६९ को काशी में हुआ था। उनकी शिक्षा का समारम्भ ३ वर्ष की अवस्था मे ही उस समय की प्रथा के अनुसार मुस्लिम मौलवी साहब ने कराया था, और इस प्रकार उर्दू और फारसी का ज्ञान भी उन्हे आरम्भ से ही रहा। वे अपने उर्दू-फारसी पढ़ाने वाले मौलवी साहब को बड़े प्रेम और आदर से अन्त तक याद करते थे और उनके कुटुम्बीजनों को आवश्यकतानुसार सहायता देते रहे। उन्हे बहुत थोड़ी उम्र में श्रेष्ठ फारसी कवि शेख शादी की प्रसिद्ध रचनाओ 'गुलिस्ता' और 'बोस्तां' से अच्छा परिचय हो गया था। उर्दू भाषा और साहित्य का ज्ञान तो अच्छी तरह था ही।

जब तक वे पाठशाला में भर्ती होने की उम्र के हुए, बहुत से हिन्दू विचारको के मन मे यह भावना आयी कि उनकी पुरातन परम्पराओ और शास्त्रों के प्रति लोग उदासीन हो रहे है। पुराने आचार-विचार के होने के कारण मेरे पितामह का सम्पर्क काशी के संस्कृत विद्वानों से भी रहा और नयी भावनाओं से प्रेरित होकर उन्होने अपने पुत्रों के लिए संस्कृत शिक्षा की व्यवस्था की, यद्यपि उनका स्वयं सस्कृत से विशेष परिचय नही था।

उन दिनों ब्राह्मण पण्डित ही सस्कृत पढते थे और अपने ब्राह्मण शिष्यो को ही पढ़ाते थे। जो गृहस्थो के यहाँ सामाजिक और धार्मिक कृत्यो के पुरोहित का कार्य करते थे, वे सस्कृत मे ही इसे सम्पादित करते थे। मेरे पितामह के समय के उच्च श्रेणी के हिन्दू गृहस्थ सांस्कृतिक दृष्टि से फारसी और उर्दू में ही अपने को सुशिक्षित करते थे, और अपने व्यवसाय के लिए जितनी हिन्दी की आवश्यकता होती थी, उतनी ही हिन्दी जानते थे। मेरे पितामह को फारसी से इतना प्रेम था कि बहुत व्यय करके गुलिस्तां और बोस्तां की ऐसी एक-एक प्रति उपलब्ध की थी जो सचित्र थी और बड़े ही सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई थी, और जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता था कि किसी बडे विद्वान मौलवी ने शेख सादी की कब्र के पास बैठकर उसे लिखा था। उनकी मृत्यु के बाद ये पुस्तके गायब हो गयी।

मेरे पिता की पीढ़ी मे ज्ञान की पिपासा बहुत बढी और अंग्रेजी भाषा और साहित्य का बढा प्रचार हुआ इसके द्वारा ऐसे बहुत से विषयो का ज्ञान हमको मिला

जिनसे हम अब तक अपरिचित थे। पाश्चात्य देशों से ही ये हमें मिले थे। साथ ही, इसकी सहायता से हम अंग्रेजी शासन के अधीन ऊँची-ऊँची नौकरियो में प्रवेश पा सकते थे। कानून और चिकित्सा ऐसे स्वतन्त्र नये व्यवसायों में भी जो अंग्रेजो के साथ इस देश में आये, हमारे देश के नवयुवक जा सकते थे। पिताजी के समय के लोग अंग्रेजी भाषा को बड़ी लगन के साथ पढते थे। पिताजी और उनके बड़े भाई श्री गोविन्ददास जी का अंग्रेजी भाषा पर अपूर्व अधिकार था। दोनो भाइयों मे से कोई भी देश के बाहर नही गये थे। अपने ही देश मे रहकर पुस्तकों द्वारा ज्ञान का अद्भुत संचय इन दोनो भाइयों ने किया था। अंग्रेजी भाषा मे विविध विषयो की इन्होंने कई सहस्र पुस्तकें पढ़ी होंगी। दोनो की धारणा-शक्ति ऐसी तीव्र थी कि जो पढ़ते थे उसे याद रखते थे। घर पर अक्षरारम्भ करने के कुछ ही दिनो बाद वे काशी के पक्के महाल मे स्थित, अपने कौटुम्बिक निवास स्थान के पास ही, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा स्थापित पाठशाला मे भरती हुए जिसमें उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी पढना आरम्भ किया। उन्होने ७ वर्ष की अवस्था मे क्वीन्स कालेजिएट स्कूल मे प्रवेश किया। उनकी मेधा इतनी तीव्र थी कि वे १२ वर्ष की अवस्था मे ही एन्ट्रेन्स की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। प्राय: १६ वर्ष की अवस्था मे विद्यार्थीगण इस परीक्षा तक पहुँचते थे। अब तो विभिन्न कक्षाओ के नाम बदल गये हैं। परन्तु उस समय इसका नाम एन्ट्रेन्स अथवा प्रवेश इस कारण था कि इसके बाद स्कूल से कालेज अथवा पाठशाला से विद्यालय में प्रवेश किया जाता था, और यूनिवर्सिटी अर्थात् विश्वविद्यालय की पढ़ाई आरम्भ होती थी।

पिताजी निर्धारित क्रम के अनुसार चार वर्षों बाद बी० ए० की परीक्षा मे बडी सफलता के साथ उत्तीर्ण हुए तथा उन्होने स्वर्ण पदक प्राप्त किये। अपनी बौद्धिक योग्यता के कारण उसी समय से उन्हें ख्याति मिलने लगी। विद्यालय के इन चार वर्षों की पढ़ाई में एफ० ए० मे इनके पाठ्य-विषय अंग्रेजी, संस्कृत, अध्यात्म-शास्त्र (साइकालॉजी), तथा न्याय (लॉजिक), गणित और प्राचीन मिस्र, बाबिलोनिया, आसीरिया, इग्लैण्ड और भारत आदि के इतिहास, फिलोसफी थे। बी० ए० में उनके पाठ्य-विषय अंग्रेजी, संस्कृत और फिलासफी थे। पाँच अवान्तर विषय थे—साइकालॉजी अर्थात अध्यात्म शास्त्र, मेटाफीजिक्स या फिलासफी प्रापर अर्थात् आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या, लॉजिक या न्याय शास्त्र, एथिक्स या आचार नीति और हिस्ट्री ऑफ फिलासफी अर्थात् दार्शनिकों और दर्शन का इतिहास। इनका इन्होने उस छोटी अवस्था में ही अध्ययन किया।

उनके अध्ययन काल मे प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना नहीं हुई थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध काशी का क्वीन्स कालेज था, जहाँ ये पढते थे। सबसे ऊँची उपाधि परीक्षा एम० ए०, अर्थात् मास्टर ऑफ आर्टस्, थी। वहाँ तक उन्होंने पढ़ा और उसकी परीक्षा मे सम्मान सहित वे उत्तीर्ण हुए। विश्वविद्यालय की पढाई आजकल डाक्टरेट तक हो गई है और बहुत से लोग पी-एच० डी०

डी० लिट् आदि हो रहे हैं। पिताजी को डाक्टर की उपाधि बड़े सम्मान के साथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सन् १९२९ मे और प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९३७ में दी थी।

पन्द्रह वर्ष की ही अवस्था मे पिताजी का विवाह हुआ था। उस समय बाल-विवाह की ही प्रथा थी। आज तो विवाह के सम्बन्ध मे सभी उपचार परिवर्तित हो गये हैं। उन दिनों लड़कियो का विवाह उनके रजस्वला होने के पहले होना परमावश्यक माना जाता था। समझा जाता था कि यदि वे अपनी पुत्रियो का विवाह इसके पहले नही कर देते तो माता-पिता को पाप लगता है। मेरी माता की उम्र केवल दस वर्ष थी, जब उनका विवाह हुआ। वर और कन्या मे विवाह के समय साधारणत पॉच वर्षों का अन्तर उचित और उपयुक्त माना जाता था। अन्तर्जातीय विवाह नही होते थे। जन्मगत जाति के ही भीतर विवाह सीमित नही रहते थे बल्कि उपजाति यहाँ तक कि उपोप जाति तक का भी विचार कर लिया जाता था। यह बात स्मरणीय है कि वैवाहिक सम्बन्ध करते समय कन्या और वर के माता-पिता एक-दूसरे की आर्थिक स्थिति पर ध्यान न देकर कुल व शील का ही विचार करते थे। मेरे पितामह उस समय काशी के बडे वैभवशाली व धनिको मे श्रेष्ठ माने जाते थे। मेरे मातामह एक छोटे से शिक्षक थे। उनकी गृहस्थी काफी बडी थी जैसी प्राय निम्न-मध्य श्रेणी के लोगो की होती है। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही साधारण थी। परन्तु मेरे पितामह ने उनकी कन्या को मेरे पिता जैसे सुयोग्य पुत्र के लिए साग्रह स्वीकार किया।

आज तो पाश्चात्य सभ्यता और उससे आये हुए विकारों के कारण सम्पत्ति के आधार पर जातियों का विभाजन हो रहा है। जब पुरानी परम्परा के कारण जो लोग अपनी जाति और उपजाति में ही विवाह करते हैं तो परस्पर की आर्थिक स्थिति पर विशेष ध्यान देते हैं। इससे जन्मना जाति के भीतर-भीतर आर्थिक समानता के आधार पर नई उप-जातियों का निर्माण हो रहा है। मेरी माता को अपने पितृकुल का उचित अभिमान बराबर रहा और उससे वे सदा बड़ा निकट स्नेह सम्बन्ध रखती रहीं। उसकी धर्म-परायणता और सच्चरित्रता बडे ऊँचे स्तर की थी। समाज मे उसका मान भी था क्योंकि उस समय समाज मे धन का उतना मान नही रहता था जितना कुल, शील और चरित्र का था। किसी प्रसग मे मेरी माता ने मुझसे कहा था और यह कहते समय उनके मुख की मुद्रा लज्जा की नही बल्कि सम्मान की थी कि उनके पिता उनकी माता को शाक-सब्जी के लिए प्रतिदिन केवल एक पैसा देते थे। ईश्वर की कृपा से और कुटुम्बीजनो के साहस, उद्योग, परिश्रम और ईमानदारी के कारण आज वह कुटुम्ब पर्याप्त रूप से सुसम्पन्न है। मेरा निज का सम्बन्ध मेरी नानी के घराने से बड़े प्रेम और निकट का बना रहा। मेरे नाना का देहान्त मेरे जन्म के थोडे ही दिनों बाद हो गया था इसलिए उनकी याद नही है; पर नानी तो बहुत दिनों तक जीती रहीं और उनका स्नेह मुझे सदा मिलता रहा।

पिताजी के मस्तिष्क की शक्ति अपूर्व थी। इसमे वे विविध विषयो के ज्ञान का भण्डार सचय कर सकते थे, जो दूसरों के लिए सम्भव नही था। उनकी धारणा-शक्ति ऐसी तीव्र थी कि जो कुछ वे पढते थे, याद रखते थे। सभी विषयों की पुस्तके वे पढते रहते थे। ज्ञान की शायद ही कोई शाखा हो जिससे वे अपरिचित हो, और कभी-कभी तो वे विषय-विशेष के विशेषज्ञो को भी उन्हीं के विषयों की बाते बताकर उन्हे आश्चर्यचकित कर देते थे।

उनके माता-पिता का कितना और कैसा प्रभाव उन पर पडा, कहना कठिन है, पर यह स्पष्ट है कि उनके प्रति वे बडी श्रद्धा और भक्ति रखते थे और अन्त तक उन्हे बड़े सम्मान से स्मरण करते थे। उनकी माता का देहान्त सन् १८९१ में हुआ जब उनकी अवस्था २२ वर्षो की थी। उनके पिता की मृत्यु सन् १८९७ मे हुई जब वे २८ वर्षों के थे। उनके ऊपर उनकी पितामही श्रीमती पार्वती देवी का बडा प्रभाव था। उन्होंने स्वय लिखा है कि इन्हे वे अपने पास बैठाती थीं। जबकि पण्डित लोग बहुत से धार्मिक ग्रन्थ सुनाते थे। उनसे भी वे पढकर सुनाने के लिए कहती थी और यद्यपि वे अर्थ पूरी तरह नही समझते थे पर उनमें निहित दार्शनिक भावों का उनके ऊपर अवश्य प्रभाव पडा। वे लिखते हैं कि उनकी उम्र केवल १२ वर्ष की थी जब उनकी दादी का देहान्त हुआ और बहुत दुखी होकर रोते हुए उनकी अर्थी के पीछे-पीछे जब वे जा रहे थे तब उनके मन मे जन्म और मृत्यु के रहस्य को जानने की उत्कण्ठा हुई और एक प्रकार का वैराग्य उनके मन मे आया। यह भावना बढती गयी। बाल्यावस्था के सस्कारों की प्रेरणा से ही जन्म-मृत्यु आदि गूढ रहस्यों पर वे बराबर विचार और अध्ययन करते रहे तथा अपने निष्कर्षो को अपनी विविध पुस्तको द्वारा अन्त तक उन्होंने प्रकाशित और प्रचारित किया। इसके साथ-साथ वह व्यवहार बुद्धि भी बराबर रखते थे।

उनकी दादी श्रीमती पार्वती देवी की विशेषता थी कि एक तरफ वे बडी आध्यात्मिक बुद्धि रखती थी, साथ ही बडी कुशल प्रबन्धक भी थी। उनके पति की मृत्यु बड़ी छोटी उम्र मे हो गयी थी। उन्होने अपनी पैतृक सम्पत्ति को बर्बाद कर दिया था। उनकी मृत्यु के बाद इन्होंने बड़े साहस और समझदारी के साथ कुटुम्ब का सचालन किया और नष्ट होने से बचा लिया। बहुत सम्भव है कि पिताजी ने अपनी दादी से ही गृहस्थी के संचालन का और आध्यात्म की खोज दोनों का गुण पाया। यहाँ यह लिखना उचित होगा कि हमारा कुल अपनी जन्म उपजाति के अन्य कुलों की तरह वल्लभ सम्प्रदाय का था जिसका केन्द्र नाथद्वारा (उदयपुर) में है और इसके विविध स्थानो मे स्थापित केन्द्रो को गोपाल मन्दिर कहते है। मालूम पड़ता है कि अपने समय के काशी के गोपाल मन्दिर के अधिष्ठाता के आचरण से अप्रसन्न होकर पार्वती देवी ने इस सम्प्रदाय को ही छोड दिया। उस समय दक्षिण में विशिष्टाद्वैत रामानुज सम्प्रदाय के एक तपस्वी विद्वान् कृष्णामाचारी नाम के काशी मे रहते थ उन्हीं से पावती देवी ने दीक्षा ली तबसे हम एक प्रकार से वडगल अथवा

वडकलाई सम्प्रदाय के हो गये। हमारा मुख्य स्थान अहोबल मठ आन्ध्र प्रदेश के कुर्नूल जिला मे है। जब मैं मद्रास का राज्यपाल था तो इसके सर्वोच्च अधिष्ठाता से, जिन्हें जीर कहते है, मैं मिला भी था।

पिताजी ने मुझसे एक बार कहा था कि वे फूंक-फूंक कर पैर रखने वाले आदमी हैं। वे सभी काम बहुत विचारपूर्वक करते थे और व्यर्थ के खतरे उठाकर वीर पुरुष बनने की आकांक्षा नहीं रखते थे। दूसरे शब्दों में, उनमे कोई बनावटीपन नही था; और ऐसे लोगों को वे अपने से दूर रखते थे जो उनके पास आकर उनकी बहुत प्रशंसा करने लगते थे और उनकी विद्या तथा आध्यात्मिकता की सराहना करते थे। अपने को वे साधारण मनुष्य के रूप मे ही दूसरो के सामने रखना पसन्द करते थे। वे अन्त तक अपने को गृहस्थ ही मानते थे और एक प्रकार से उनको दु ख था कि वे अपने शरीर से तपस्या आदि नहीं कर सकते थे। हर प्रकार के रूपक से बहुत परहेज करते थे और यदि कोई बनता था तो उसकी वे अवहेलना करते थे।

उन्होंने मुझसे एक बार कहा था किसी समय उनके कोई चचेरे भाई किसी बात से रूठ कर घर से चले गए। उनके माता-पिता और अन्य कुटुम्बीजन बहुत चिन्तित हुए, और उनकी खोज में निकले। पिताजी ने उन लोगों से कहा—'घबड़ाइए मत। जब उसे भूख लगेगी तो वह स्वय घर लौट आयेगा।' पिताजी ने मुझसे कहा कि बाल्यावस्था से ही वे इस प्रकार से अपने से ही सन्तुष्ट रहते थे। ये भाई साहब पिताजी के कथनानुसार भूख लगने पर वापस आ ही गए।

इस सबसे यह स्पष्ट है कि व्यर्थ के आडम्बर से पिताजी बहुत दूर रहते थे। उनका यही कहना था कि 'सबको चाहिए कि जब कोई काम उठावें तो उसके परिणाम को समझ लें और अपनी आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को पूरी करने के लिए दूसरो को किसी धोखे में न डाले।' उनकी ऐसी भावना से उनके सम्बन्ध मे गलत-फहमी भी हुई जब वे थोड़े दिनों के लिए सक्रिय राजनीति में आए। पर इसकी उन्होंने चिन्ता नहीं की और सब स्थितियो में वे यही भावना बनाए रहे।

महात्मा गांधी अंग्रेज कवि और धर्मोपदेशक कार्डिनल न्यूमैन के शब्दो को बराबर उद्धृत करते रहे कि 'मेरे लिए एक कदम काफी है।' पिताजी ने एक समय जब स्वराज्य का आन्दोलन बड़ी तीव्रता से चल रहा था, गाधीजी से स्वराज्य की व्याख्या करने के लिए जोर दिया। महात्मा गांधी जी के इस उदाहरण पर उनसे कहा था कि 'एक कदम पैर के लिए पर्याप्त है, परन्तु आँख को तो सौ कदम आगे तक देखना आवश्यक है।' पिताजी गांधी जी से इसीलिए अलग हो गये कि उन्होंने स्वराज्य की व्याख्या करना यह कहकर ठीक नही माना कि मै भावी पीढ़ियो को स्वराज्य का रूप अभी से बतला कर बांधने का अधिकार नही रखता।

मैंने पहिले लिखा है कि मेरे पूर्वज साह गोपालदास और साह मनोहरदास ने अट्ठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यापार, वाणिज्य, उद्योग और साहस से प्रचुर धनराशि एकत्र की थी और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में देश के विभिन्न

भागों मे विस्तृत अपने व्यवसाय को हमारे कुटुम्बीजनो ने समेटकर कलकत्ता और काशी मे ही अपने को स्थापित किया पर विभिन्न प्रकार का व्यवसाय—महाजनी, बीमा आदि कार्य—हमारे कुटुम्ब मे मेरे दादाजी के समय तक अर्थात् उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक होता रहा। उन दिनों यद्यपि दादाजी स्वय दुर्गाजी के मन्दिर के पास अपने बगीचे मे रहते थे पर उनकी गृहस्थी शहर की कोठी लक्खी चौतरा पर ही थी। मेरी बाल्यावस्था की स्मृतियाँ कुछ दादाजी से सम्बद्ध उनके उद्यान की है पर अधिक कोठी की ही है। मुझे स्मरण है कि प्रतिदिन सायकाल व्यापार सम्बन्धी कार्य होता था और कई मुनीम और गुमाश्ते रहते थे। दादाजी स्वयं भी प्रतिदिन सायकाल कोठी पर आते थे।

हमारे कुटुम्ब की विभिन्न शाखाओ के बहुत से बगीचे काशी मे थे और ये लोग काफी बड़े और प्रतिष्ठित मकान-मालिक और जमीदार थे। साधारणत ऐसे लोग नौकरी से परहेज करते थे। उस समय स्वतन्त्र व्यापारी और व्यवसायी का पर्याप्त मान होता था और उन्हें भी अपने काम की बडी शान-रहती थी। ये लोग नौकरी करना पसन्द करते नहीं थे, उसे अधम मानते थे। पुरानी कहावत के अनुसार—

उत्तम खेती, मध्यम बान,
निषिध चाकरी, भीख निदान,

अर्थात्, खेती का व्यवसाय सबसे उत्तम है, उसके बाद वाणिज्य का, नौकरी अधम व्यवसाय है, भिक्षुक होना तो नितान्त नीचा काम है। ऐसी अवस्था में जमीदारों और व्यवसायियों का विशेष मान था। नौकरी करना उससे नीचा समझा जाता था चाहे वह सरकारी नौकरी ही क्यों न हो।

जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ हमारे यहाँ भी पूर्वकाल में शासनाधिकारियो का बड़ा महत्त्व तो अवश्य था पर वे आज की तरह वेतनभोगी कर्मचारी नही थे। उन्हे कोई नियमित मासिक रीति से तनख्वाह नही मिलती थी। अवश्य ही उन्हें जागीरे और उनकी सेवाओं के लिए अन्य प्रकार के पुरस्कार मिलते रहे होंगे, पर महीने की पहली तारीख को वेतन के रूप में निर्धारित धनराशि देने की प्रथा नहीं थी। अंग्रेजों के समय में सरकारी नौकरी ने विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की। आरम्भ में जो अंग्रेज व्यापारी के रूप मे आये, उन्होने यहाँ की राजनीतिक दुर्व्यवस्था और राष्ट्रविप्लव देखकर काफी लूट-खसोट की। ऐसी दशा मे अपने को सुसंघटित और सुव्यवस्थित करते हुए अपना शासनाधिकार बढ़ाते हुए अंग्रेज नेताओं ने नौकरी की प्रथा चलायी, जिससे सबके अधिकार और कर्तव्य निश्चित किये जा सकें और सब पर नियन्त्रण रखा जा सके।

तीसरा अध्याय

सरकारी नौकरी

जब पिताजी अपनी विद्वत्ता और विविध सार्वजनिक क्षेत्रों में कार्य करने के कारण पर्याप्त ख्याति पा चुके थे तब किसी को विश्वास नही होता था कि उन्होंने कभी सरकारी नौकरी भी की होगी। जब किसी से कहा जाता था, उन्हें आश्चर्य होता था। पर वास्तव मे आठ वर्षों तक (१८९०–१८९८) तहसीलदार और डिप्टी कलेक्टर के रूप में उन्होंने सरकारी नौकरी भी की थी। पिताजी की युवावस्था तक देश में अंग्रेजों का शासन सुदृढ़ रूप से स्थापित हो गया था और कोने-कोने मे उसके प्रबन्ध के सम्बन्ध की शाखाएँ, प्रशाखाएँ सघटित हो गयीं थीं। अंग्रेजो का दबदबा चारो तरफ फैल गया था। इस नयी अवस्था मे सरकारी नौकरी का पद बहुत ऊँचा हो गया था। सरकारी नौकरों का बडा मान था क्योंकि उनके हाथ मे शक्ति थी। उस समय परीक्षा आदि की कोई प्रथा नही थी, जिनके द्वारा कर्मचारी नियुक्त किये जाए। विविध स्तर के अंग्रेज अधिकारियो द्वारा ये नियोजित कर लिए जाते थे। अति-उच्च पद तो अंग्रेजो ने सब अपने लिए सुरक्षित रखे थे। वहाँ बिरले ही कोई भारतवासी पहुँच सकता था। पर उनके बाद के पदो पर भारतीय रखे जाते थे। उदाहरणार्थ, कमिश्नर और कलेक्टर तो अंग्रेज होते थे, पर डिप्टी कलेक्टर और तहसीलदार आदि भारतीय होते थे। जिला जज अंग्रेज थे पर सदराला (सब-जज अथवा सिविल जज), मुन्सिफ आदि भारतवासी थे। इसका प्रत्यक्ष कारण यही था कि राज्य सचालन के लिए जितने लोगो की आवश्यकता थी उतने लोगो को अंग्रेज अपने देश से नही ला सकते थे। भारत मे प्राचीन सभ्यता के बनी रहने के कारण यहाँ के सब लोग मारे भी नही डाले जा सकते थे जैसा कि यूरोपियनों के अन्य उपनिवेशों मे हुआ, जहाँ पुरातन जाति को नष्ट करके यूरोपीय जाति के लोग ही बस गये। भारत उपनिवेश नही था, पराधीन देश हो गया। १९१३–१४ मे उस समय के उत्तर प्रदेश (सयुक्त प्रान्त) के उप-राज्यपाल (लेफ्टिनेंट गवर्नर) सर जेम्स मेस्टन ने पिताजी से कहा था, 'हमें आपके कुटुम्ब से एक डिप्टी कलेक्टर बनाना आवश्यक है।' और तब उन्होंने अपने ज्येष्ठ भाई के द्वितीय पुत्र का नाम बताया था, जो डिप्टी कलेक्टर हुए। मैं ठीक नही कह सकता पर सम्भव है कि इसी प्रकार से मेरे दादाजी श्री माधवदास जी से भी आग्रह किया गया हो और उन्होंने पिताजी का नाम दिया हो

इस प्रसग में यह कह देना उचित होगा कि आरम्भ मे जब इण्डियन सिविल सर्विस के नाम से गैर-सैनिक प्रबन्ध के लिए उच्च कर्मचारियों को चुनने की व्यवस्था की गयी तो पहले इनकी भी परीक्षा नही होती थी। ये कवेनेटेड सिविल सर्वेंट कहे जाते थे। इनसे और शासन से वेतन, पेन्शन आदि के सम्बन्ध में कवेनेट (समझौता) होता था। इङ्गलैण्ड के उच्च कुल के नवयुवक इसमें आने मे अपनी शान समझते थे। अपने विस्तृत साम्राज्य के भार को वहन करने में आनन्द का अनुभव करते थे। ये भारतवासियो से पर्याप्त मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखते थे, जो बाद में दूर होता गया। सर विलियम वेडरबर्न, जो एक कुल-परम्परागत 'सर' की उपाधिधारी बैरौनेट थे, इसी कवेनेटेड सिविल सर्विस के सदस्य थे। अपने समय के भारतीय राजनीतिज्ञो से इनकी मित्रता थी।

भारतीयो की स्वशासन सम्बन्धी आकांक्षाओं से सर विलियम वेडरबर्न की सहानुभूति थी और पेन्शन पाने के बाद ये भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष भी रहे। पिताजी ने मुझको बताया था कि इनको यह धमकी दी गयी कि राजनीतिक कार्यवाहियों के कारण उनकी पेन्शन बन्द कर दी जायगी। इस पर इनका उत्तर था कि मैं अदालत मे पेन्शन का अधिकार स्थापित करा सकूंगा। मेरा कवेनेट (समझौता) ही ऐसा है। पीछे बडी कड़ी प्रतिद्वन्द्वितापूर्वक परीक्षा द्वारा इस सिविल सर्विस मे नवयुवक लिए जाने लगे। जैसा स्वाभाविक था, अपने को उच्च कुल का मानने वाले हट गये और मध्यवृत्ति से सुशिक्षित नवयुवक परीक्षाओ मे बैठकर और उसमें उत्तीर्ण होकर इस सिविल सर्विस की नौकरी में आने लगे। पुराने लोग इनको कम्पटीशन वाला कहकर इनकी हँसी उडाते थे पर इसमें आने की अभिलाषा महत्त्वाकांक्षी नवयुवकों के हृदयों मे बडी तीव्र होती थी। इस नौकरी को स्वर्गजनित (हैवेन बार्न) कहते थे।

इसके द्वारा साम्राज्य मे उच्च से उच्च पद मिलते थे। इनके सदस्य को अपरिमित अधिकार थे पर इनके ऊपर कठोर अनुशासन भी था। इन पर कानून का बन्धन था। वे सब बातें अपनी मनमानी नही कर कर सकते थे। अपने देश की अच्छी परम्परा भी लेकर ये आते ही थे जिससे कि वे अपने को यहाँ की स्थिति के अनुकूल बना लेते थे और लोकप्रिय भी हो जाते थे। इन्हें काम सीखने के लिए पद में ऊँचे रहते हुए भी एक प्रकार से इनके अधीन डिप्टी कलेक्टर के पास उन्हें बैठाया जाता था। पिताजी कहते थे कि जब वे डिप्टी कलेक्टर थे तब एक आई० सी० एस० अंग्रेज जिले का ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट इनसे काम सीखने के लिए इनके साथ बैठते थे। उन्होंने फैसला आरम्भ में और पीछे घटनाओं का वर्णन और दलीलें देना शुरू किया। पिताजी ने उन्हें फैसला लिखने का प्रकार बतलाया कि पहले घटनाओ का निर्देश करना चाहिए, उसके बाद दलील देनी चाहिए, तब अन्त में फैसला लिखना चाहिए।

पिताजी को अंग्रेजी भाषा पर अपूर्व अधिकार था फैसला अंग्रेजी में लिखा

जाता था, पर गवाही हिन्दी या उर्दू मे होती थी। मजिस्ट्रेट लोग गवाही की बातो का तर्जुमा अंग्रेजी में करके अपने स्मरण-पत्र लिखते थे। एक बार गवाह ने हिन्दी मे कहा कि 'खेत काटा गया' उसका अक्षरश: अनुवाद करके शिक्षार्थी ज्वाइन्ट मजिस्टेट ने 'कट दी फील्ड' लिखा। पिताजी ने उन्हें बताया कि 'हार्वेस्टेड दी क्राप' लिखो। इस घटना का उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि इन लोगो को अपनी बडी शान होते हुए भी काम सीखने में कोई संकोच नही होता था। इससे हम अच्छी शिक्षा ले सकते हैं, क्योंकि देखा जाता है कि हमने अंग्रेजो के दुर्गुण तो बहुत लिए पर गुणों का ग्रहण नही किया। दूसरो से शिक्षा लेने में हमे हीनता प्रतीत होती है। पर इन आई० सी० एस० अंग्रेज नवयुवको को ऐसा नही होता था। उस समय के वातावरण के अनुकूल ही मेरे पितामह ने चाहा कि उनके सुयोग्य पुत्र, मेरे पिता, सरकारी नौकरी मे जायँ। पिताजी की स्वयं इधर जरा भी रुचि नही थी। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, उनको दर्शन और आध्यात्म की तरफ आकर्षण बाल्यावस्था से ही रहा। सम्भवत: वे उसी के अध्ययन और खोज मे युवावस्था से ही लगना चाहते थे। उन्होने स्वयं लिखा है कि पिताजी की इच्छा की पूर्ति के लिए ही उन्होने सरकारी नौकरी स्वीकार की और उनके निधन के कुछ ही दिनों बाद छोड़ दी।

मेरे जीवन के प्रथम आठ वर्ष उनकी नौकरी के दिन रहे। कई स्थानो पर जहाँ वे थे वहाँ की अस्पष्ट स्मृतियाँ मेरे मन में बनी हैं। कुतूहलवश मैंने जनवरी सन् '५४ में उन्हें मद्रास से पत्र लिखा जिसमें मैंने उनसे प्रार्थना की कि यदि आपको स्मरण हो तो कृपा कर बतलावें कि सरकारी नौकरी में आप कब-कब और कहाँ-कहाँ रहे। विभिन्न कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी वे पत्रों का उत्तर नियमित रीति से शीघ्र ही देते थे। प्राय: प्रतिदिन ही मैं उनको पत्र लिखता था और वे भी इसी प्रबन्ध लिखा करते थे। उनका १३ जनवरी १९५४ का छ पृष्ठो का लिखा पत्र मेरे पास है, जिसमें विस्तार से उन्होने मेरे पत्र का उत्तर दिया है। उनका जन्म १२ जनवरी सन् १८६९ को हुआ था, अर्थात् वे ठीक ८५ वर्षों के थे जब उन्होंने इस पत्र को लिखा। उनके अक्षर सदा ही बड़े स्पष्ट और सुन्दर होते थे। इस पत्र में भी वे वैसे ही हैं। इसमे उन्होंने अपनी सरकारी सेवा के भिन्न-भिन्न स्थानों की सूची तिथियो के हिसाब से दी है। उनके समय इस प्रदेश का नाम पश्चिमोत्तर प्रान्त (नार्थ-वेस्टर्न प्रॉविन्स) ही चला आ रहा था। जो नाम इसे उस समय मिला था जब विस्तृत होते हुए अंग्रेजी राज्य की यह पश्चिमोत्तर सरहद थी। पीछे इसे आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्त के नाम से जाना गया (यूनाइटेड प्राविन्सेज ऑफ आगरा एण्ड अवध)। स्वराज्य मे इसका नामकरण उत्तर प्रदेश हुआ।

पिताजी की नौकरी फतेहपुर जिले के गाजीपुर तहसील के तहसीलदार के पद पर जुलाई सन् १८९० से आरम्भ हुई। मेरा जन्म ३ अगस्त सन् १८९० को हुआ था। उसके केवल १५–२० दिन पहले ही पिताजी ने सरकारी काम आरम्भ किया था। जो सूची उन्होने दी है उससे मालूम पडता है कि २ वर्ष वे फतेहपुर जिले

की गाजीपुर तहसील में रहे। इस स्थान के उनके कार्य के सम्बन्ध की एक घटना उद्धरणीय है। करीब ४० वर्षों पीछे मैं कांग्रेस के कार्य के लिए रेल पर कहीं जा रहा था। उसी डिब्बे में एक वृद्ध मुस्लिम सज्जन थे। हम ही दो यात्री उसमे थे। रात्रि का समय था और मैं बिस्तर फैलाकर बैठा था। ये सज्जन बार-बार मुझको देखते थे। मुझे भी कुछ कुतूहल हुआ। मैंने उनसे कहा कि सम्भवतः आप मुझे जानना चाहते है। मैं अमुक का पुत्र अमुक हूँ। वे सज्जन एकदम से अपने स्थान से उठे और मेरा गाढ आलिंगन किया। मुझे आश्चर्य हुआ।

उन्होंने तब कहा कि "जब आपके पिता मेरी तहसील मे तहसीलदार थे तब उन्होंने मेरे कुटुम्ब की रक्षा की थी। हमारे घर के झगडों को सुलझाया था। हम तो उनके एहसानात को कभी भूल नहीं सकते।" जब मैंने यह घटना पीछे पिताजी को बतलायी तो उन्होने कहा कि "मुझे तो कुछ याद नही है। आश्चर्य है कि इतनी पुरानी घटना किसी को याद रहे। पर इसका अर्थ तो यही हो सकता है कि सरकारी कर्मचारी जनसाधारण के सुख-दु.ख में रस नहीं रखते और उनके कष्ट का निवारण नही करते, जैसा कि उन्हें करना चाहिए।" इस घटना का अर्थ यह हुआ कि पिताजी केवल अपने अदालती और औपचारिक कार्यों से ही सन्तुष्ट नहीं रहते थे पर लोगो को अपने प्रभाव और व्यक्तित्व से सहायता और सान्त्वना भी देते थे। ऐसे एक दो उदाहरण मुझे और भी पीछे मिले।

अपने पिता के मित्र प्रसिद्ध सर सैयद अहमद के सम्बन्ध मे उन्होंने एक बार मुझे बतलाया था कि जब वे सदराला (सब जज) थे तब अपनी अदालत मे आये हुए भाई-भाई के कटु झगडों के मामलों को वे स्वयं अदालत के बाहर फरीकों मे समझौता कराने का प्रयत्न करते थे जिससे प्रतिष्ठित घरो के भीतर की गन्दगी बाहर प्रकट होने से बचायी जा सके। गाजीपुर तहसील के बाद तीन महीने वे फतेहपुर जिले की ही कचनपुर नामक तहसील मे थे। वे वही थे जब उनकी माता (मेरी दादीजी) का देहान्त काशी में हुआ। फिर डेढ़ वर्ष वे इलाहाबाद की सदर तहसील मे मार्च १८९६ तक थे। इसके बाद उनकी दी हुई तालिका के अनुसार वे आगरा मे पदोन्नत होकर डिप्टी कलेक्टर के रूप मे गये। मैं उस समय चार वर्षों का हो रहा था। तब से मेरी स्मृति कुछ-कुछ जाग्रत हो रही है। मुझे स्मरण आता है कि माता और सब भाई-बहनों को चादनी रात में लेकर पिताजी ताजमहल दिखलाने गये थे। मुझे यह भी याद है कि मैंने उनसे कहा कि यह तो बडी अच्छी जगह जान पडती है। हम लोग यही क्यो नही रहते? इसके बाद वे मैनपुरी और फिर मथुरा भेजे गये।

मथुरा की मुझे अधिक याद है। शुरू सन् १८९६ के चार महीने वे मथुरा मे रहे। मुझे विश्राम घाट के बडे-बडे कछुए याद पड रहे है। मुझे यह भी याद है कि अपने स्नान के लिए उन्होंने एक कुण्ड बनवाया था और चार महीनों के बाद ही बदली हो जाने के कारण उस कुण्ड को छोडते हुए उन्हें बडा दुःख हुआ था

यहाँ की दो बातें मुझे विशेष रूप से स्मरण आती हैं। एक तो दादाजी का पिताजी को देखने वहाँ आना, दूसरे मेरे छोटे भाई श्री चन्द्रभालजी की सख्त बीमारी। जब दादाजी आये थे तब बड़ा जाड़ा पड़ रहा था। पिताजी ने बहुत दिनो बाद उस समय की एक बात बतलायी थी जिसका मेरे ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा था। पिताजी ने कहा कि जब वे अपने पिताजी को लेने स्टेशन गये थे तो उन्हें ड्योढे दरजे मे शीत से कापते हुए पाया। बात यह हुई थी कि जो कुछ उनके पास था सब उस स्थान पर चोरी हो गया था जहाँ मथुरा आने के पहिले वे ठहरे थे। उनके जनेऊ मे अगूठी थी जिसकी बदौलत वे मथुरा तक का ड्योढे दरजे मात्र का टिकट खरीद पाये थे। अंगूठी तो बडे दाम की रही होगी पर उस समय उन्हें अधिक नही मिला। पिताजी के जनेऊ में भी सदा अगूठी रहती थी। मालूम नही कि इस घटना के बाद से पिताजी अपने जनेऊ में अगूठी रखने लगे या पहले से रखते थे। मुझे जब से इस बात का पता लगा मै भी अपने जनेऊ मे एक अगूठी बाँध कर रखने लगा।

मुझे बाद मे रेल मे चोरी का अनुभव तब हुआ जब मै पाकिस्तान के उच्च-आयुक्त के पद पर कराँची स्थित अपने केन्द्रीय कार्यालय से पूर्वी पाकिस्तान का हाल जानने कलकत्ता गया हुआ था। लौटते समय रेल मे रात्रि में जब मैं सोया हुआ था तब चोर डिब्बे मे घुसे और करीब-करीब सभी माल उठा ले गये और जब फिर आये तब तक मैं जाग गया था। उनसे हाथापाई हुई और वे बाहर ढकेले गये। मेरे नौकर नागेश्वरसिंह भी उसी डिब्बे मे थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी गैस से हम दोनो को उन लोगों ने बेहोश कर दिया था। बगल के खाली डिब्बे मे वे लोग मेरा सब असबाब ले गये थे और जो कुछ रुपया-पैसा और कीमती वस्त्र आदि थे उठा ले गये। सरकारी पत्रादि जिस लोहे के बक्स में रखे गये थे उसे चोरो ने काट डाला और सब पत्रादि चारो ओर फेंक दिये। जब ये फिर लौटे तो अवश्य ही जो कुछ बच गया था उसी को लेने की फिक्र मे रहें होंगे। जब वे बाहर निकाले गये तो यह देखकर मुझे सन्तोष हुआ कि मेरे टिकट और थोड़े से रुपये जो एक छोटे से मनीबेग मे तकिये के नीचे रखे हुए थे, बच गये थे। जनेऊ की अगूठी भी सही सलामत थी। किसी तरह मैं काशी घर पहुँचा और कराँची वापस चला गया।

मथुरा की दूसरी बात जो याद है वह अपने छोटे भाई चन्द्रभालजी की बीमारी के सम्बन्ध मे है। उनकी अवस्था केवल दो वर्ष की थी। ऐसा मालूम होता है कि जो दाई उनकी देखभाल करती थी उसे अफीम खाने की आदत थी। बच्चे को चुप रखने के लिए जिससे वह स्वयं रात्रि को आराम मे सो सके, उसने सम्भवत भाई को अफीम चटा दी थी। जो कुछ हो, वे बहुत बीमार हो गये। मरणासन्न हालत हो गयी। वहाँ पर गोपाल चन्द्र बनर्जी नाम के होमियोपैथी के डाक्टर थे। पिताजी को होमियोपैथी मे बहुत विश्वास था। उन्होने इन्ही डाक्टर की दवा करवायी। बच्चा अच्छा हो गया। इन डाक्टर के प्रति पिताजी ने बडा अनुग्रह माना। पीछे उन्हें काशी में बुलाकर स्थापित किया और उनके की उन्नति मे हर प्रकार

की सहायता दी। पिताजी अपनी वृद्धावस्था तक होमियोपैथी की औषधियों का एक बक्स अपने साथ रखते थे। घर के प्राणियों और पडौसियों आदि को बराबर उसमें से दवा देते थे। मथुरा के बाद कुछ महीने के लिए वे फिर आगरा भेजे गये। जहाँ से बाराबंकी गये। बाराबंकी में भी वे केवल छः महीने ही रहे। मैं इस समय छः वर्ष का हो गया था। मुझे वहाँ स्कूल में भेजा गया जिसकी स्मृति मेरे मन में बनी हुई है। एक बार पीछे कांग्रेस कार्य में बाराबंकी गया था। सडक पर जाते हुए एक मकान देखकर मुझे ऐसा भान हुआ कि यह वही स्कूल है। सन् १८९७ के अप्रैल महीने में पिताजी गाजीपुर जिले में भेजे गये। यहाँ की मुझे पूरी याद है। हम लोगों का मकान गंगाजी के किनारे था। मकान की खिड़की में से निकल कर सीढियों पर से होते हुए हम सब गंगास्नान के लिए जाया करते थे। यहाँ रामा नाम का एक स्टीमर भी चलता था जो यात्रियों को इस पार से उस पार ले जाता था। मुझे गाजीपुर की इस कारण विशेष रूप से याद है कि जिस समय हम लोग वहाँ थे भयानक भूकम्प आया था। हम सब भाई-बहन ऊपर के कमरे में खेल रहे थे, हमारी दाई अजनासी पानी से फर्श धो रही थी। इतने में भूकम्प आया। सारा मकान हिलने लगा और पानी का गगरा इधर-उधर लुढकने लगा। इतने में पिताजी दौड़े ऊपर आये और हम सब लोगों को मकान के बाहर मैदान में ले गये। उन दिनों छोटी लाइन की रेल जिसे अब नार्थ-इस्टर्न रेलवे कहते हैं और पहिले क्रमशः बंगाल नार्थ-वेस्टर्न रेलवे और अवध एण्ड तिरहुत रेलवे के नाम से जाना जाता था, नहीं थी; और हम लोग स्टीमर से गंगा पार करके बडी लाइन से बनारस आते थे।

गाजीपुर और बनारस के बीच की रेल की पटरी के लिए जमीन की खरीद का काम पिताजी के ही सुपुर्द था और उन्होंने बडे परिश्रम से इसे सम्पन्न किया था। सार्वजनिक कार्यों के लिए व्यक्तिगत मालिकों से जमीन लेना कठिन काम है; और जब यह गरीब काश्तकारों से ली जाती है तो असमंजस में पड़ना पडता है। पिताजी को वस्तुओं और जमीन आदि के दाम की अच्छी परख सदा से रही, और सबके साथ न्याय करते हुए और यथासम्भव सबको सन्तोष देते हुए इस काम को उन्होंने किया। जब छोटी लाइन की रेल की पटरी गाजीपुर से बनारस तक बिछी, उस समय उनके पास दो अरबी घोडे थे जिन्हें टमटम में वे स्वयं हाँकते थे और उसी पर वे गाजीपुर से काशी तक की रेल की लाइन की जमीन के लिए दौरा करते थे। उनके पास गेन्दिया नाम की वफादार कुतिया थी जिसे वे बराबर अपने साथ रखते थे और जब खुले मैदान में रात्रि को डेरा डालकर वे पडे रहते थे तो कुतिया को चारपाई के पाये में बाँध देते थे। जब उनके पिता श्री माधवदास जी का १६ जुलाई सन् १८९७ को देहान्त हुआ तब वे गाजीपुर में ही थे।

मेरी अवस्था उस समय करीब ७ वर्ष की थी। दादा जी की अन्त्येष्टि क्रिया मुझे अच्छी तरह याद है। मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल ५२ वर्ष की थी। उस समय हमारे देशवासी बड़े ही अल्पायु होते थे। ऐसा समझा जा रहा था कि ये

बड़े भाग्यवान है कि इतनी बडी उम्र पाई। इनकी अर्थी के चारो कोनो पर इनके चारो पुत्र उपस्थित थे। कितने ही नाती-पोते चारो तरफ बैठे थे। इनकी सौभाग्यवती पत्नी का देहान्त ५ वर्ष पहले ही हो चुका था। मुझे स्मरण है कि घाट के डोम को कीमती शाल दिया गया। दादा जी के बड़े विश्वासपात्र मुनीम श्री रामलाल जी जो उनके अन्तिम दिनों मे बड़े प्रेम और तत्परता से उनकी देखभाल करते थे, अर्थी के पास ही दु:खी होकर खड़े थे। जहाँ तक याद पडता है हम सब लड़के कोठी के मकान से हरिश्चन्द्र घाट पर बुलाये गये थे।

जब हम वहाँ पहुँचे तो श्री रामलालजी ने दादाजी के मुख पर से कफन उठा कर हम सबको उनका दर्शन कराया। मुझे यह भी स्मरण है कि मैंने श्री रामलालजी से पूछा कि दादाजी यहाँ क्यो सो रहे हैं। मेरे दोनो बड़े चचेरे भाई—पिताजी के बड़े भाई श्री गोविन्ददासजी के पुत्र श्री श्रीनिवास और श्रीविलास, तथा मैं, जो दादाजी के पौत्रो मे तीन सबसे बड़े पौत्र थे, अक्सर बगीचे मे जाकर उनकी छोटी-मोटी सेवा का प्रयत्न किया करते थे। समझ में नही आ रहा था कि आज यह सब क्या हो रहा है। मुझे यह भी याद है कि चिता जलाने के बाद जोर से पानी बरसने लगा था पर अग्नि की ज्वाला जोरों से प्रज्वलित होती ही गई। लोगों ने कहा कि वे कितने भाग्यवान् हैं कि मेघ का पानी उनकी चिता को नही बुझा पा रहा है।

काशी में दो प्रधान श्मशान घाट हैं। एक मणिकर्णिका और एक हरिश्चन्द्र। हरिश्चन्द्र घाट सुप्रसिद्ध सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा से सम्बद्ध है। यह नगर के दक्षिणी छोर पर है। मणिकर्णिका घाट शहर के भीतर है। यहीं अधिकतर शवदाह होता है। इसका बडा महत्त्व माना जाता है। दूर-दूर से लोग अपने मृत प्रियजनों को लाकर उनका दाह यहाँ करते हैं। शवो को नगर की पतली गलियो में से होकर ले जाना पडता है जहाँ मिठाई आदि की दुकानें भी है। सम्भव है कि यह स्थान किसी समय शहर के बाहर रहा हो। इस घाट पर चरणपादुका एक सुरक्षित दाह-स्थल है। किवदन्ती है कि इसकी स्थापना में मेरे पूर्वजो का बडा हाथ रहा और मेरे कुटुम्बीजनों को विशेष अधिकार है कि उनका शवदाह यहाँ हो। धीरे-धीरे कई और कुटुम्बों को भी यह अधिकार प्राप्त हुआ। परन्तु किसी कारण मेरे दादाजी ने यह आदेश दिया था कि उनके शव का दाह हरिश्चन्द्र घाट पर ही किया जाय। तब से उनकी और उनके छोटे भाई श्री मधुसूदन दास के कुटुम्बीजनो का शवदाह यही होने लगा यद्यपि शहर में रहने वाले हमारे कुटुम्ब अर्थात् साह घराने के अन्य शाखाओ के सदस्यो का शवदाह मणिकर्णिका घाट के चरणपादुका पर ही होता है। पिताजी की इच्छा के अनुसार उनके सम्बन्ध मे दादाजी की ही परम्परा बरती गई और उनका शवदाह बड़े सम्मान के साथ काशी के नागरिकों की भारी भीड की उपस्थिति में हरिश्चन्द्र घाट पर किया गया।

दादाजी के अन्तिम दिनो की एक घटना उल्लेखनीय है। उस समय पिताजी गाजीपुर मे डिप्टी कलेक्टर थे गाजीपुर सदा से गुलाब के फूल की खेती के लिए

प्रसिद्ध रहा है। यहाँ गुलाब का फूल बहुत होता है। यहाँ का गुलाब जल, गुलाब का तेल फुलेल, गुलाब का इत्र बहुत ही विख्यात है। सबसे अच्छा इत्र रूहेगुला (अर्थात् गुलाब की आत्मा) माना जाता है। दादाजी ने पिताजी से इत्र भेजने को कहा था। पिताजी भूल गये। दादाजी का देहावसान हो गया। इस भूल का दु:ख पिताजी को बराबर बना रहा जिसका पता सात वर्ष पीछे मुझे लगा। सन् १९०४ में माताजी तथा हम सब बालक-बालिकाओं को लेकर पिताजी हरिद्वार गये थे। वहाँ पर उन्होंने अपने पिता का श्राद्ध बड़ी भक्ति और श्रद्धा से किया। संयोगवश उस समय मेरे चाचाजी, मेरे पिताजी के छोटे भाई, श्री राधाचरणजी, गाजीपुर में डिप्टी कलेक्टर थे। पिताजी ने उनसे सबसे मूल्यवान एक तोला गुलाब का इत्र मंगवाया और शीशी का सारा इत्र पिण्ड पर उलट दिया। दादाजी और दादीजी का श्राद्ध प्रायः उनके बड़े भाई श्री गोविन्ददास ज्येष्ठ पुत्र के नाते काशी मे ही किया करते थे। मैंने पिताजी को यही श्राद्ध करते हुए देखा था। उस समय पिताजी ने अपने पिता की इस इत्र सम्बन्धी पुरानी इच्छा की बात मुझे बतलाई थी जिसकी पूर्ति न कर सकने का उन्हें पश्चाताप था।

सनातन धर्म के परम्परागत संस्कारों मे उनको पर्याप्त विश्वास था और इन्हें वे बुद्धिसंगत मानते थे। अपने पुत्र-पुत्रियों का अन्नप्राशन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कार विधिवत् सम्पन्न करते रहे। अपने लेखो में भी उन्होंने ऐसा ही कहा है। जिसे आज मोटे तौर से हिन्दू धर्म कहते हैं, उसके सम्बन्ध में उनका विचार था कि यह नाम ठीक और उपयुक्त नहीं है। सनातन धर्म नाम ही उन्हें पसन्द था क्योंकि उसमें बताये हुए मनुष्य के जीवन के क्रम, मनुष्य के समाज की व्यवस्था को वे सनातन अथवा अनादि-अनन्त मानते थे। उसके दूसरे नाम वे आर्य, मानव, वैदिक और वर्णाश्रम धर्म बतलाते थे। हिन्दू नाम तो सिन्धु नदी के पूर्व और दक्षिण मे रहने वालों को यूनानियों ने पहले दिया। 'स' और 'ह' का उच्चारण पर्याय माना जाता है। पीछे मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस नाम को पुष्ट किया। यह किसी धर्म-विशेष का नाम नहीं है। यह भारत के निवासियों का नाम है। इसी कारण मुस्लिम देशों में भारतीय मुस्लिमों को हिन्दू मुस्लिम आज भी कहते हैं और अमेरिका के कितने ही प्रदेशों में हिन्दू, मुस्लिम आदि सभी भारतीय हिन्दू के नाम से जाने जाते हैं जो मेरी समझ मे सर्वथा उचित और उपयुक्त है। अपने पिता की मृत्यु के बाद करीब एक साल भर तक पिताजी सरकारी नौकरी करते रहे। गाजीपुर से वे एक महीने के लिए बुलन्दशहर गये और वहाँ से नवम्बर १८९७ में वे इलाहाबाद आये। ५ महीने इलाहाबाद में रहकर उन्होंने मार्च १८९८ मे सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और वे काशी चले आये।

इलाहाबाद की मुझे पूरी स्मृति है। बड़े मैदान के बीच में चैथम लाइंस नाम के मुहल्ले में हमारा बंगलानुमा मकान था। वहाँ से बहुत दूर गंगाजी देख पडती थी पास ही कुटुम्ब के कई मित्र और रिश्तेदार रहते थे जिनके यहाँ माताजी के साथ

हम भाई-बहन जाया करते थे। मुझे यह भी याद है कि पिताजी की नौकरी के दिनो मे मैं अक्सर अपने ताऊजी श्री गोविन्ददासजी के यहाँ अपने चचेरे भाइयो के साथ पढने के लिए काशी भेज दिया जाता था। मेरे पिता और उनके भाइयो मे बहुत सौहार्द था और यद्यपि दादाजी ने अपने ही समय में अपने पुत्रों की व्यक्तिगत गृहस्थी पृथक्-पृथक् कर दी थी, पर कोई भी भाई अपने पुत्रो और भतीजो मे अन्तर नही करते थे, और आवश्यकतानुसार सभी बालक-बालिकाएँ सभी घरो में रहा करते थे।

पिताजी ने किसी प्रसग में एक मुकदमे की चर्चा करते हुए बतलाया था कि हत्या का अभियोग किसी नवयुवक पर लगा था। उसे दौरा सुपुर्द करने की आज्ञा देने के लिए मजिस्ट्रेट की हैसियत से इनके सामने वह अभियुक्त पेश किया गया। शहर कोतवाल पैरवी करते रहे। अभियुक्त ने आवेश मे आकर कोतवाल साहब को कोई कडी बात कह दी। कोतवाल साहब आपे मे बाहर होकर अभियुक्त को डांटने लगे। पिताजी ने कोतवाल से कहा कि 'यह अभियुक्त तो फासी के तख्ते पर खडा है। यह अगर कुछ सख्त कहे तो क्षमा के योग्य है। पर आपके लिए कोई कारण नही है कि आप इस प्रकार से व्यवहार करे।' अभियुक्त को दौरा सुपुर्द करते हुए पिताजी ने कहा कि 'सबूत के आधार पर तुम दोषी हो। मुझे दुःख है कि मुझे तुम्हे दौरा सुपुर्द करना ही पडता है। अगर तुम वहाँ निर्दोष सिद्ध हुए तो मुझे भी सन्तोष होगा।'

पिताजी की युवावस्था के अनन्य मित्र श्री गौरीशकर प्रसाद ने जो इस प्रदेश में सदराला (सब जज) के पद पर रहे, मुझे एक अवसर पर बतलाया था कि जब पिताजी ने त्याग-पत्र दिया तब तक इनकी कार्यकुशलता, सज्जनता और विश्वासपात्रता की इतनी प्रसिद्धि हो गई थी कि उस समय के उपराज्यपाल ने इनसे कहा कि 'आप हमारी नौकरी मत छोडिए। भारतीयों को जो उच्च से उच्च पद दिया जा सकता है वह मैं आपको देने को तैयार हूँ।' श्री गौरीशंकर प्रसाद ने बतलाया कि उस समय वह पद डिस्ट्रिक्ट और सैशन्स जज अर्थात् जिला और दौरा जज का था। उन्होने मुझ से कहा कि पिताजी ने उत्तर दिया कि 'मैं पाव भर अन्न प्रतिदिन पचा सकता हूँ और इसका प्रबन्ध मेरे पूर्वज कर गये है। यदि आप मुझे सवा पाव पचाने की शक्ति दें तो मैं आपकी नौकरी करने को तैयार हूँ क्योंकि इतने का प्रबन्ध मेरे पास नही है।' इतना कहकर और त्याग-पत्र देकर वे चले आये। मुझे कभी पिताजी से इसकी पुष्टि करने का अवसर नही मिला। मैं नहीं कह सकता कि यह घटना कहाँ तक सत्य है।

अपनी सरकारी नौकरी के दिनो की एक घटना की चर्चा पिताजी ने एक बार मुझ से की थी जो यहाँ पर उल्लेख करने योग्य समझी जा सकती है। इससे उस समय के विशिष्ट लोगो के आन्तरिक भावो का पता लगता है। पिताजी के चाचाजी साह मधुसूदनदासजी को उच्च यूरोपीय अफसरों से व्यक्तिगत सम्बन्ध रखने का शौक था एक बार वे में थे जब पिताजी भी वहाँ गये हुए थे

उस समय पिताजी गाजीपुर मे डिप्टी कलेक्टर थे। लार्ड एलगिन वाइसराय रहे। उन्होंने कलकत्ता मे लेवी नाम का समारोह किया। इसके लिए साह मधुसूदनदास को भी निमन्त्रण मिला। बहुत सम्भव है कि मनोहरदास कटरा के मालिक को बहुत बड़ा और सम्मानित नागरिक समझा गया और वे इसमे बुलाये गये। उनकी यह इच्छा थी कि उनके भतीजे (पिताजी) उनके साथ जायँ। इसलिए उनके लिए भी निमन्त्रण देने का निवेदन किया। निमन्त्रण आया और पिताजी उसमे सम्मिलित हुए। जब वे वापस गाजीपुर आये तो गाजीपुर के कलेक्टर ने पूछा कि 'आपको वाइसराय की लेवी में जाने का शौक कैसे हुआ ?' पिताजी को आश्चर्य हुआ कि इनको यह कैसे मालूम हुआ। अवश्य ही कलकत्ता से उनके बारे मे पूछा गया होगा क्योंकि विशेष पद वालों को ही लेवी मे जाने का अधिकार था। पिताजी यह भी कहते थे कि लार्ड एलगिन बहुत नाटे आदमी थे। उनमे शारीरिक क्षमता पर्याप्त रही होगी क्योंकि वे घण्टो खड़े रहे जबकि लेवी मे आमन्त्रित सज्जन एक के बाद एक उनके सामने जाते रहे। लेवी कैसी होती है इसका मुझे पता नही। जब मैं राज्यपाल हुआ तब तक लेवी आदि समारोहों की प्रथा उठा दी गई थी और न मैं किसी लेवी में गया और न स्वय ही इसकी व्यवस्था की।

यद्यपि वे अपने काम मे बहुत व्यस्त रहते थे तथापि नाना प्रकार की पुस्तको का लगातार अध्ययन करते रहते थे। मुझ से उन्होंने एक बार कहा था कि प्रत्येक रविवार को वे शेक्सपीयर का एक नाटक पढ़ जाते थे। माताजी को नलोपाख्यान आदि कथाओ को मूल सस्कृत मे कंठस्थ करने के लिए बराबर प्रोत्साहित करते थे। पाठकों को जानकर कुतूहल होगा कि उन्हें कहानियों के पढने का शौक अन्त तक रहा। उन्नीसवी शताब्दी में अंग्रेजी मे बहुत बडे-बड़े और बहुत सुन्दर ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यास जिसे वे आख्यायिका कहते थे, लिखे गये। उन्होने उन सबको ही पढ़ा। साथ ही अंग्रेजी अनुवाद मे फ्रेन्च और जर्मन भाषाओ के उपन्यासो को भी उन्होने पढा। छोटी-छोटी कहानियो को पढने मे भी उन्हे बडा रस आता था। काम से जो कुछ समय उन्हें मिलता था वह पठन-पाठन मे लगाते थे। अपने सरकारी काम के सम्बन्ध मे तो वे विशेषज्ञ हो ही गये थे।

जैसा सभी का कटु अनुभव है कि वर्तमान समय मे सरकारी कर्मचारियो की काफी भीड हो गई है। शासन की विविध शाखा-प्रशाखाओं में अनन्त कर्मचारी नियुक्त हो गये है। सभी विभागों मे तथाकथित विशेषज्ञों की नियुक्तियाँ हो रही हैं। पिताजी कहते थे कि जब वे डिप्टी कलेक्टर थे तब वे ही ट्रेजरी अफसर, एक्साइज अफसर, इन्कम टैक्स अफसर थे। मजिस्ट्रेट और सब-डिवीजनल अफसर तो थे ही। उनका यही विचार था कि इतने आदमियों की आवश्यकता नही है। इससे काम में बाधा पडती है। कार्य में सुविधा नही होती। इन्कम टैक्स के सम्बन्ध मे जब एक बार पूछताछ हुई तो उन्होने कहा कि मेरे वक्त बहुत अधिक नुक्ताचीनी इनी की मनाही थी जब कभी कोई -दाता

अपना फार्म ठीक तरह से नहीं भर पाता था तो वे उसे स्वयं मदद देकर फार्म भरा देते थे। आज कौन ऐसा करता है। अफसर साहबान अपनी गलती को करदाता के ऊपर ही मढ देते हैं और सब पर ही वे अविश्वास करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि जनसाधारण उन पर अविश्वास करता है। एक दूसरे की मदद करना तो दूर रहा।

इस प्रकार उन्होंने प्राय आठ वर्ष सरकारी नौकरी मे व्यतीत किये। वे बड़े परिश्रम और कुशलता के साथ जनसाधारण की वास्तविक सेवा के भाव से काम करते रहे। इस कारण वे बहुत लोकप्रिय भी रहे। जब उनके पिता की मृत्यु हो गई तब उन्होंने इस काम से हटकर अपनी हार्दिक इच्छा का कार्य करने का निश्चय किया। करीब एक वर्ष तक वे अपने सरकारी पद पर बने रहे। उसके बाद चले आये।

चौथा अध्याय

थियासोफी और हिन्दू कालेज

सरकारी नौकरी से आते ही पिताजी ने अपना मनोवाछित कार्य आरम्भ किया। थियासोफी की तरफ वे छोटी ही अवस्था से आकर्षित रहे। जैसा मैं पहले लिख आया हूँ, पिताजी को देश के पुरातन शास्त्रो का परिचय अपनी दादी श्रीमती पार्वती देवी द्वारा बहुत ही छोटी अवस्था मे हो गया था। इन शास्त्रो में ब्रह्मविद्या की ही विवेचना आरम्भ से अन्त तक की गयी है। सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु आदि ऐसे गूढ विषयो पर ब्रह्मविद्या के उपासक अन्वेषण करते है। इनके सम्बन्ध में जितना मनन अपने देश मे किया गया है उतना किसी और स्थान पर सम्भवत. नही किया गया है। पाश्चात्य सभ्यता की प्रवृत्तियो से और उसकी घोर लौकिकता तथा सघर्षों से ऊब कर कतिपय दूरदर्शी यूरोपीय स्त्री-पुरुषों ने भी अध्यात्म की तरफ ध्यान दिया और ब्रह्मविद्या की खोज मे भारत के पुरातन ग्रन्थों से परिचय पाया, और उस तरफ आकृष्ट होकर उसका अध्ययन आरम्भ किया।

इस सम्बन्ध में दो विशिष्ट व्यक्तियों का नाम उल्लेख करना आवश्यक है। एक तो रूस के उच्चकुल की महिला मैडम हेलेना पेट्रोव्या ब्लावाडस्की थी और दूसरे अमरीका के उत्तर-पश्चिम के युद्ध में ख्यातिप्राप्त कर्नल हेनरी स्टील आलकाट थे। इन दोनो ने मिलकर अमरीका के प्रसिद्ध न्यूयार्क नगर में सन् १८७५ में थियासोफिकल सोसाइटी की स्थापना की, जिसके तीन मुख्य उद्देश्य थे—

(१) सारे संसार मे जाति, रग, लिंग का बिना विचार किये मनुष्य-मात्र मे भ्रातृभावना का संचार करना;

(२) तुलनात्मक दृष्टि से ससार मे स्थापित विविध धर्मो और दर्शनो का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करना, और

(३) मनुष्य में निहित गुप्त शक्तियों का अन्वेषण करना।

इस सस्था अर्थात् थियासोफिकल सोसाइटी का अब महत्त्व कम हो गया हो पर उसके द्वारा विशेषकर हमारे देश के पुरातन विचारो का जो प्रचार हुआ और जिसके कारण ससार ने हमे जाना और हमारा मान किया, उसे हमे भूलना नही चाहिए। थियासोफिकल सोसाइटी की स्थापना का वह समय था जब भारत पूर्णरूप से विदेशी ब्रिटिश शासन के अधीन था। हमे कोई पूछता नही था। पराजित

जाति होने के कारण हमारे पूर्वजो की महिमा दूसरो के लिए हास्य का साधन हो रही थी। उस समय थियासोफिकल सोसाइटी के नेतागण ने यह घोषित किया कि भारत ही अध्यात्म और ब्रह्मविद्या का केन्द्र रहा है और मानव अपनी वास्तविक उन्नति इन्ही के ग्रन्थों के मनन और अध्ययन से कर सकता है। यह सारे ससार का गुरुधाम है। विदेशियों के मुँह से ऐसी बातो को सुनकर अवश्य हमारे हृदय प्रफुल्लित हुए। हम में आत्म-सम्मान का सचार हुआ। हमे अपने पूर्वजो पर गर्व करने का अवसर मिला और हमारे मन मे यह आशा हुई कि हम भी एक दिन स्वतन्त्र जाति के रूप में ससार के उच्चतम राष्ट्रों की पक्ति मे बैठ सकते है।

थियासोफिकल सोसाइटी में रगभेद नही माना जाता था। ससार में उस समय श्वेत और अश्वेत का बडा अन्तर हो गया था और हम अपने रग के कारण हीन समझे जाते थे। थियासोफिकल सोसाइटी ने रंगभेद दूर किया और मानव-जाति के विकास मे भारत को विशेष स्थान दिया। यदि वह केवल इतना ही कर जाती तो वह हमारे हार्दिक अनुग्रह और कृतज्ञता का पात्र सदा के लिए रहती। पर उसने हमे भारतीय के नाते उठाया ही नही; उसने हमारे आध्यात्मिक और दार्शनिक ग्रन्थो का प्रचार किया और सबको यह बतलाया कि इसी मे वास्तविक सुख और श्रेय है। साथ ही साथ उसने हमारे बहुत से आचारों का वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थ लगाया और उनकी उपयोगिता और औचित्य बतलाया यह वह समय था जब हम स्वयं उन्हें अन्ध-विश्वास या रूढिवाद मानकर उन पर श्रद्धा छोड रहे थे।

पिताजी थियासोफिकल सोसाइटी की विचार-शैली से पूर्णरूप से सहमत थे। उन्हें अपने देश और देश के पुराने विचारों और सस्कारो से बड़ा प्रेम था। वे १६ वर्ष के ही थे जब उन्होने थियासोफिकल सोसाइटी की सदस्यता स्वीकार की और आजीवन उसके सदस्य बने रहे। थियासोफिकल सोसाइटी की शाखाएँ भारत के विभिन्न नगरों मे स्थापित हुई। सभी स्थानो मे अग्रेजी शिक्षा प्राप्त कितने ही नवयुवक इसमें आये। सार्वभौम थियासोफिकल सोसाइटी का प्रधान केन्द्र अडयार, मद्रास मे स्थापित हुआ। अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए इसके प्रवर्तको ने स्थान-स्थान पर पाठशाला और विद्यालय स्थापित किये। काशी मे सन् १८९८ मे सेन्ट्रल हिन्दू कालेज नाम के सुविख्यात विद्यालय का प्रारम्भ हुआ। मेरे पिताजी ने मार्च सन् १८९८ मे अपनी सरकारी नौकरी से इस्तीफा दिया और उसी साल की जुलाई में इस विद्यालय का कार्य आरम्भ हुआ।

इसकी सस्थापिका श्रीमती एनी बेसेन्ट थी। उनके बराबर का उस समय सम्भवत' वाग्मी कोई नहीं था। जिस धारा-प्रवाह से इनका व्याख्यान होता था उसको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे। अपने देश इग्लैण्ड में अपनी साहसपूर्ण सार्वजनिक सेवाओ के लिए सुविख्यात पहले ही ये हो चुकी थी। अपनी कौटुम्बिक परम्पराओ के अनुसार ईसाइ धर्म की ये उपासिका थीं। ईसाइ पादरी से इन्होंने विवाह भी किया। पीछे कुछ घटनाओं के कारण इनका ईश्वर पर से ही विश्वास

उठ गया। ये नास्तिक हो गयी। पति से इनका विच्छेद हो गया। समाजवादी नेता चार्ल्स ब्राडला का इनका साथ हुआ और इन्होने श्रमजीवी स्त्रियों की दयनीय स्थिति को सुधारने के लिए हडतालों का आयोजन किया। साथ ही दरिद्रों मे परिवार नियोजन के सम्बन्ध में प्रचार करना आरम्भ किया। उस समय ऐसा करना वहाँ के कानून के विरुद्ध था। ये सत्याग्रह करने को उद्यत हुई। पीछे सयोगवश मैडम ब्लावाडस्की की कुछ पुस्तकों को समालोचन के लिए प्रसिद्ध अग्रेज सम्पादक विलियम स्टेड ने इनके पास भेजा। इनको पढते हुए ऐसा मालूम हुआ कि नयी रोशनी मिली। थियासोफी की तरफ इनका प्रबल आकर्षण हुआ और थियासोफिकल सोसाइटी की कर्नल आलकाट और मैडम ब्लावडस्की के पश्चात् ये तीसरी नेतृ हुई।

थियासोफी से प्रेरित होकर थियासोफिकल सोसाइटी की सेवा में सन् १८९३ मे ये भारत आयी। ये भारत को अपना स्वदेश और पवित्र तीर्थ स्थान मानने लगीं। आर्य हिन्दू धर्म का प्राचीन, प्रसिद्ध, श्रेष्ठ तीर्थ स्थान काशी मे इनका आना स्वाभाविक ही था। बम्बई से काशी आते हुए ये इलाहाबाद से गुजरी। उस समय पिताजी इलाहाबाद में डिप्टी कलेक्टर थे। ये उनसे स्टेशन पर मिलने गये। मिलते ही दोनो मे अगाध प्रेम उमड पडा और ऐसा प्रतीत होता है कि साथ मिलकर सार्वजनिक कार्य करने का निर्णय दोनो ने ही तत्काल किया।

सन् १८९३ से १८९८ तक श्रीमती एनीबेसेन्ट किस प्रकार से अपनी अभिलाषाओं और आदर्शो को कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्न करती रही, इसका मुझे पता नहीं। मेरे दादा जी साहु माधवदास और मेरे ताऊ जी श्री गोविन्ददास उनके कार्य मे सहानुभूति रखते थे और उनको सहायता देने को उद्यत थे। पिताजी सरकारी नौकरी पर इन वर्षो मे विविध जिलों में नियुक्त होने रहे। ऐसा मुझे अवश्य स्मरण आता है कि श्रीमती एनी बेसेन्ट काशी में मेरे घर पर आया करती थी और जब मैं वहाँ रहता था तो इनके दर्शन हो जाते थे। ये प्रति वर्ष इग्लैण्ड जाया करती थी और वहाँ से बहुत से खिलौने लाती थीं जिन्हें हम बालक-बालिकाओं को उपहार-स्वरूप ये देती थी। पिताजी मार्च १८९८ मे सरकारी नौकरी छोड कर स्थायी रूप से काशी आ गये और सेन्ट्रल हिन्दू कालेज का शुभारम्भ जुलाई सन् १८९८ मे काशी नगरी के अन्तर्गत सप्तसागर (काशीपुरा) मुहल्ले में हुआ। उस समय का उत्सव मुझे अच्छी तरह याद है। मेरी अवस्था करीब आठ वर्ष की थी। आरम्भ मे स्कूल की अन्तिम दो तथा कालेज की प्रारम्भिक दो अर्थात् कुल चार कक्षाओं से इस विद्यालय का कार्य आरम्भ हुआ था। मुझे यह भी स्मरण आता है कि काशी के ठठेरी बाजार से सलग्न अंग्रेजी कोठी में इसकी कुछ कक्षाएँ लगती थी। यही श्रीमती एनी बेसेन्ट का महाभारत के ऊपर भाषण भी हुआ था। थोड़े ही दिन बाद काशी नरेश श्री प्रभुनारायण सिह की उदारता से कमच्छा मुहल्ला मे पर्याप्त भूमि मिली जहाँ थियासोफिकल सोसाइटी और सेन्ट्रल हिन्दू कालेज दोनो

ही के भवन तैयार हुए। सोसाइटी की भारतीय शाखा का यही केन्द्र था और साथ ही साथ श्रीमती एनी बेसेन्ट के शिक्षा सम्बन्धी आयोजन के प्रधान पीठ की स्थापना यही हुई। वे स्वयं भी यही रहने लगी।

पिताजी ने श्रीमती एनी बेसेन्ट का साथ पूरी तरह इन दोनों कार्यों मे दिया। कालेज के वे प्रधानमन्त्री आरम्भ से ही रहे। थियासोफिकल सोसाइटी का कार्य विशेषकर उनके मित्र श्री उपेन्द्रनाथ बसु देखते रहे जिनका और जिनके भाइयो श्री ज्ञानेन्द्रनाथ बसु और श्री कालीचरण मित्र का निकट सम्बन्ध दोनों ही कार्यो मे रहा। श्रीमती एनी बेसेन्ट से इन दोनों कुलों से बड़ी ही निकट मैत्री रही।

पिताजी अपने अन्य भाइयो के साथ दुर्गाकुंड स्थित अपने कौटुम्बिक उद्यान मे रहते थे। इनका जीवन बडा ही व्यस्त रहा। प्रात काल से तीसर पहर तक तो ये अपना साहित्यिक कार्य करते थे और पढते-लिखते ही बराबर दिखलायी पडते थे। तीसरे पहर ये कालेज जाते थे और वहाँ दफ्तर का कार्य कई घन्टे करते थे। उसके बाद मिसेज बेसेन्ट के निवास स्थान शान्ति कुंज में जो पास ही था, चले जाते थे और प्राय. देर मे घर वापस आते थे।

शरीर से पिताजी बडे पुष्ट थे। उनके हाथों मे बड़ा बल था। ये नियमित रीति से दण्ड, बैठक करते और गदा और मुग्दर फेरते थे। घोडे पर भी चढ़ते थे और अपने हाथ टमटम हाँकते थे। ये इतने बलवान थे कि प्रखट की दो मन पानी से भरी मोट खींच लेते थे जिसे साधारणत दो बैल मिलकर खींचते हैं। यदि एक तरफ बहुत सी पुस्तकें पढते थे तो दूसरी तरफ भोजन भी अधिक मात्रा मे करते थे। विविध विषयो का ये लगातार अध्ययन करते रहते थे। अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओ पर इनको अपूर्व अधिकार था और शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसका इनको निकट से ज्ञान न हो। दर्शन मे तो विशेष रुचि ही थी परन्तु इतिहास, विज्ञान, साहित्य आदि विषयों में ये छोटी अवस्था से ही अभिज्ञ थे। इनको मुख्याति बहुत छोटी अवस्था मे मिली और कितने ही विद्वान् देश-विदेशो से इनसे मिलने आते थे। स्थानीय पण्डितों का तो बराबर ही आना-जाना रहता था। इनकी सभाएँ भी हमारे यहाँ हुआ करती थी जिनमे विभिन्न विषयो पर शास्त्रार्थ होता था।

हमारे यहाँ नाना प्रकार के अतिथि भी बराबर आते रहते थे। उच्च सरकारी कर्मचारी, धनी व्यापारी और उद्योगपति तथा विविध विषयो के विद्वद्‌गण अतिथि के रूप में आते रहे। राजनीति-प्रवीण लोग भी इनसे मिलने या इनके पास ठहरने आते थे। पिताजी का पत्र-व्यवहार भी बड़ा विस्तृत था और पत्रों का उत्तर भी ये नियमित रीति से देते थे। इनका सम्पर्क प्रायः उच्च श्रेणी के ही व्यक्तियो से रहा। अवश्य ही उनमे प्रमुख विद्वान् भी होते थे। इतने व्यस्त जीवन मे वे बडी-बडी पुस्तकें भी लिख लेते थे। वे तीस वर्षो के ही रहे होंगे जब उनकी प्रथम पुस्तक अंग्रेजी मे 'दि साइन्स आफ इमोशस' अर्थात् 'भावशास्त्र' प्रकाशित हुई। उन्होने कितनी ही पुस्तकें लिखी और पिचासी वर्ष की अवस्था तक लिखते ही रहे। उनकी

आखिरी पुस्तक का नाम जो उनकी ८५ वर्ष की अवस्था में प्रकाशित हुई वह 'एसेंशल युनिटी ऑफ ऑल रेलिजन्स' अर्थात् 'सब धर्मों मजहबों की मौलिक एकता' का परिवर्द्धित सस्करण था। कुतूहल की बात है कि दिसम्बर सन् १९३० मे काशी मे उन्होंने सर्वधर्म सम्मेलन में 'यूनिटी आफ एशियाटिक थाट' अर्थात् 'एशिया महाद्वीप के आन्तरिक विचारो की एकता' पर छोटा सा व्याख्यान दिया था। उसी का विस्तार ये करते गये। कई सस्करण निकले। अमेरिका के एक सज्जन इससे इतने प्रभावित हुए कि अपने खर्चे से इसकी पाँच हजार प्रतियाँ छपवाकर उन्होंने सारे ससार के प्रमुख व्यक्तियों और विधान सभाओ के सदस्यों को बाँटा। इसी का सशोधित सस्करण सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ जब पिताजी ८५ वर्ष के थे।

अग्रेजी भाषा मे ही उन्होंने अधिकतर लिखा। उनका ऐसा विचार था कि अग्रेजी भाषा में ही लिखकर वे अपने देश के प्राचीन विचारों को अन्य देशो मे प्रचारित और प्रसारित कर सकेंगे। उनकी कुछ पुस्तको का अनुवाद अन्य यूरोपीय भाषाओं में भी हुआ। मित्रों के आग्रह पर लेखों के अतिरिक्त तीन पुस्तके उन्होने हिन्दी मे भी लिखी। पुरातन विचार के देश के ब्राह्मण पण्डितो के हृदय मे प्रवेश करने के हेतु उन्होंने सस्कृत मे भी ग्रन्थ लिखे। लोगो को इस बात का दु ख है कि उन्होने हिन्दी मे न लिखकर अधिकतर अग्रेजी भाषा मे ही अपने विचारों को व्यक्त किया। अग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ लोगों को उनके भावो से परिचय नही हुआ। लोग यह तो जानते थे कि वे बड़े विद्वान हैं और यह जानकर उनका सम्मान भी करते थे पर उनके आदर्शों और गूढ दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक विचारों को नही जानते थे और मानव-मात्र के हित के लिए जो उनकी शिक्षा थी जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन को उन्नत कर सकता है, इससे वे अपरिचित रह गये।

इसमे सन्देह नही कि संसार के विभिन्न देशो के थोडे से लोगों ने उनकी पुस्तके अवश्य पढी और उनसे आध्यात्मिक लाभ भी उठाया जैसा कि उन पत्रों से प्रमाणित होता है जो देश-विदेशो से उनकी पुस्तको के सम्बन्ध मे उनके पास आते थे। साथ ही इसमें भी सन्देह नही कि यदि हिन्दी मे उनकी पुस्तके लिखी जाती तो अत्यधिक लोग उन्हे पढते। इनका प्रचार और उपयोगिता भी विस्तृत क्षेत्र में होती। यह भी असम्भव नही था कि इनका अनुवाद भी प्रेमी लोग अन्य भाषाओ मे करते। अपने देश की अन्य भाषाओ मे तो अनुवाद अवश्य ही होता जैसा कि नही हुआ। कविवर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बगला में ही लिखा। उनकी रचनाओ का अनुवाद कई भाषाओ मे हुआ। हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री प्रेमचन्द की पुस्तकों का भी अनुवाद इसी प्रकार हो रहा है। कोई कारण नही कि पिताजी की पुस्तकों का भी अनुवाद क्यों न होता।

इनकी पुस्तकों में अपने देश के पुरातन दार्शनिक विचारो का सुन्दर रूप से स्पष्टीकरण किया गया है। मनुष्य समाज के सुसंघटन का भी इनमे अपने देश की पुरानी परम्परा के आधार पर व्यावहारिक मार्ग बतलाया गया है। मनुस्मृति जैसे

ग्रन्थों के सम्बन्ध मे जो गलतफहमियाँ है उनका भी पिताजी ने निराकरण किया। वे कहते थे कि मनुस्मृति हमारे लिए अन्धे की लकडी की तरह है। जब भी उन्हें किसी बात की शंका होती थी, मनुस्मृति का ही सहारा खोजते थे और मनुस्मृति की उन्होने बृहत् व्याख्या अंग्रेजी मे 'साइंस ऑफ सोशल आर्गनिजेशन' अर्थात् 'सामाजिक सघटन का विज्ञान' के नाम से तीन मोटी-मोटी जिल्दों मे की है। आरम्भ मे उन्होने दिसम्बर सन् १९०९ के थियासोफिकल सोसाइटी के वार्षिकोत्सव मे इस सम्बन्ध में चार व्याख्यान दिये थे। उन्ही का यह विस्तार है।

पिताजी की आस्था सनातन धर्म में अविचलित थी और उनको इस बात का अपार दुःख था कि समय की गति से और नाना प्रकार के आक्रमणों और सघर्षों के बीच मे और विशेषकर हमारे धर्माधिकारियों की अनुदारता और संकीर्णता के कारण वह सुन्दर व्यवस्था, सामाजिक सघटन और जीवन-क्रम जिसे सनातन धर्म कहते है, विकृत हो गया है। उनका विश्वास था कि यदि इसका पुनरुद्धार हो और उसके अनुसार वास्तव में लोग चले तो मानव जाति का सच्चा कल्याण हो सकता है। उन्होंने सनातन धर्म की तह तक पहुँचकर उसका शुद्ध रूप ससार के सामने उपस्थित करने का सतत् प्रयत्न किया। वे बड़े से बड़े विद्वान पण्डितों से सम्पर्क रखते थे और उन्हें देश और समाज की दशा को बतलाकर पुराने धर्म को पुन जाग्रत करना चाहते थे।

उनका कहना था कि जो इस धर्म को हिन्दू नाम दिया गया है वह ठीक नही है। वास्तव में पहले यूनानियो ने और पीछे मुसलमानों ने सिन्धु नदी के पूर्व और दक्षिण में रहने वाले लोगों को हिन्दू के नाम से जाना। हिन्दू किसी धर्म या मजहब या सम्प्रदाय का नाम नही है, यह भारत के निवासियों का नाम है, पीछे उनके धर्म अर्थात् सनातन धर्म को हिन्दू नाम दे दिया गया। पिताजी का कहना था कि इसे आर्य, मानव, वैदिक, सनातन या वर्णाश्रम धर्म के नाम से जानना चाहिए। जैसा सर्वविदित है, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य' के नाम से ही इसे ससार मे प्रतिष्ठित किया। पर जैसी हमारे देश की दुखद प्रथा है, आर्य समाज का एक पृथक् सम्प्रदाय सा पैदा हो गया। यहाँ जब-जब सुधार करने का प्रयत्न हुआ है और समाज की कुरीतियो को दूर करने का आयोजन किया गया है तब तब ऐसा ही हुआ है। बौद्ध धर्म, सिख धर्म और नाना प्रकार के सम्प्रदाय सब इसी मानसिक प्रवृत्ति के द्योतक हैं। चार वर्ण के स्थान पर चार हजार जातियाँ और उपजातियाँ पैदा हो गई हैं। पिताजी चाहते थे कि हमारे धार्मिक नेतागण चेतें और ह्रास होते हुए अपने धर्म और समाज को सँभालें। वह इस भयावह स्थिति को उपेक्षा की दृष्टि से न देखे कि तीन-चौथाई हिन्दू कहलाने वाले लोगों ने जो वास्तव में सनातन धर्मी थे, अन्य मजहबो को स्वीकार कर लिया; और समाज और देश दोनों के ही द्रोही हो गये।

इन्ही सब भावो से प्रेरित होकर पिताजी ने श्रीमती एनी बेसेंट का साथ

दिया और सेण्ट्रल हिन्दू कालिज के लिए अथक परिश्रम किया। सन् १९०१ की ग्रीष्म ऋतु मे श्रीमती एनी बेसेंट के साथ कश्मीर में रहे। उस समय के कश्मीर नरेश महाराज प्रतापसिंह, श्रीमती एनी बेसेंट और पिता जी के प्रेमी मित्र थे। वहाँ पर उस समय उन्होने सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल—कालेज, पाठशाला और विद्यालय—के विद्यार्थियों के लिए सनातन धर्म के सम्बन्ध में सुन्दर पुस्तके लिखीं जिनसे नवयुवक और नवयुवतियाँ सरलता के साथ सनातन धर्म का सार जान ले। पिताजी का यह अटूट विश्वास था कि सनातन धर्म में मनुष्य मात्र अर्थात् मानव जाति को सुसघटित करने का सुन्दर और व्यावहारिक मार्ग दिखलाया गया है। यह आर्य अर्थात् अच्छे लोगो का धर्म है। इसके द्वारा मनुष्य अच्छा बनता है। यह वैदिक धर्म है अर्थात् यह विद्वानो के बुद्धिसगत जीवन-क्रम का निरूपण करता है। यह मानव धर्म है अर्थात् मनुष्य मात्र के लिए यह है। यह सनातन है इसका आदि-अन्त नही है। इसमे निहित सत्य सदा के लिए है। मनुष्य की प्रकृति जो सृष्टि के अन्त तक रहेगी उसी के अनुकूल आचरण करना यह बतलाता है। इस कारण इसका प्रतिपादन होना ही चाहिए। यह वर्णाश्रम धर्म इस कारण है कि इसमे व्यक्तिगत जीवन के लिए आश्रमो का निरूपण किया गया है और संघटित समाज की शान्तिपूर्ण व्यवस्था के लिए वर्णों का विभाजन किया गया है जिससे सब लोग अपने-अपने कर्तव्यो का पालन करे, व्यर्थ की प्रतिद्वन्द्विता न हो और सबका जीवन यथासम्भव आरम्भ से अन्त तक सुखमय बना रहे।

हिन्दू कालेज मे वे अपने सारगर्भित भाषणो द्वारा धर्म की शिक्षा स्वय देते थे। अग्रेजी में कहते हैं कि तीन 'आर' अर्थात् रीडिग (पढाई) राइटिग (लिखाई) और रिथमेटिक (गणित), की शिक्षा सबको होनी चाहिए। पिताजी का कहना था कि चार 'आर' होना चाहिए। चौथा 'आर' रेलिजन अर्थात् 'धर्म' है। उनका कहना था कि यह ठीक नही है कि धर्म के कारण कलह या संग्राम होता है। लोग धर्म का नाम लेते हैं, पर वास्तव में लौकिक वस्तुओं के लोभ से वे परस्पर का युद्ध करते है और मनोमालिन्य रखते है। वे हिन्दू कालेज के द्वारा सनातन धर्म के प्रचार की अभिलाषा रखते थे। वहाँ के नवयुवकों में वे देशभक्ति का प्रचार करते थे। वे आत्म-सम्मानी, लोकसेवी, शिष्ट नागरिको को पैदा करने की अभिलाषा रखते थे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये वे तन-मन-धन से हिन्दू कालेज की सेवा मे वर्षो तक बराबर लगे रहे।

उनकी पुस्तको मे प्रणववाद का विशेष उल्लेख करना उचित होगा क्योकि कहानी भी उसकी विचित्र है। पडित धनराज नामक बहुत ही अल्पवयस्क युवक से उनको अपनी सरकारी नौकरी के समय बाराबंकी मे अपने मित्र पडित परमेश्वरीदास के यहाँ परिचय हुआ। ये अद्भुत युवक थे और सस्कृत के लाखो श्लोक उन्हें कण्ठस्थ थे। इनको पिताजी ने काशी मे निमन्त्रित किया। मैं दस वर्षों का ही रहा हूँगा, जब ये आये। ये अन्धे थे और अपने एक सहायक पर ही जीवन यात्रा के लिए

आश्रित थे। ये हमारे यहाँ ठहरे। बस्ती जिले के अन्तर्गत किसी ग्राम के ये निवासी थे और उनका कहना था कि बहुत से पंडितों के पास संस्कृत की पाण्डुलिपियाँ वहाँ हैं जिनमें से कितनी ही इनको कण्ठस्थ हैं। पीछे पिताजी ने उनके ही बतलाये हुए पंडितों की खोज करायी पर न तो पंडितों का पता लगा न पाण्डुलिपियाँ ही मिलीं। जो कुछ हो इन्होंने प्रणववाद अर्थात् 'ओउम्' शब्द के सम्बन्ध में वार्ता चलायी और कहा कि उस पर उन्हें एक बड़ा ग्रन्थ कण्ठस्थ है तो पिताजी को कुतूहल हुआ और इसी को लिखने की अभिलाषा से उन्होंने पंडित धनराज को अपने यहाँ निमन्त्रित किया।

ये पण्डित जी बड़े रहस्यमय व्यक्ति थे और हजार प्रयत्न करने पर भी पिताजी इनकी कहानी नहीं जान सके और न इन्हें समझ सके। जो एक बार लिखवा देते थे उसे दुहराते नहीं थे। पिताजी के मित्र पण्डित गंगानाथ झा जब काशी में आते थे तो पण्डित धनराज के द्वारा उच्चरित श्लोकों को शीघ्रता से लिखते जाते थे। कहाँ से वे ये श्लोक लाये यह कहा नहीं जा सकता। पिताजी ने कई प्रकार से उनकी परीक्षा लेना चाही। वे इतने विद्वान् नहीं थे कि कहा जा सके कि ये श्लोक उनके खुद के बनाये हुए हैं। जो कुछ हो प्रणववाद की पोथी पिताजी ने बड़े प्रेम से इन पण्डित जी के द्वारा तैयार की और कई वर्षों तक इस पर घोर परिश्रम करके तीन मोटी-मोटी जिल्दों में अंग्रेजी भाषा में इसका सार प्रकाशित किया। इसका नाम उन्होंने 'दि साइन्स ऑफ दी सीक्रेड वर्ड' अर्थात्, 'पवित्र शब्द का विज्ञान' दिया। इसका तृतीय खण्ड १९१३ में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार इसकी लिखाई के आरम्भ से और इसके प्रकाशित होने तक करीब १४ वर्षों का समय व्यतीत हुआ।

इस लम्बी अवधि में अन्य बहुत से कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी पिताजी का मन इसमें लगा हुआ था तथा इस पर बराबर काम करते रहते थे। इनकी सबसे बड़ी पुस्तक यही है। इसमें बड़े विस्तार से 'ओउम्' शब्द की विवेचना की गई है और उसका महत्त्व बतलाया गया है। यह तो मानी हुई बात है कि ओउम् शब्द को हिन्दू अथवा आर्यजन बहुत ही पवित्र मानते हैं। बहुत से लोगों का विचार है कि मृत्यु के समय ओउम् शब्द उच्चरित करने से परम श्रेयस अथवा मोक्ष प्राप्त होता है। इसका बहुत बड़ा स्थान उनके जीवन में है। सभी कार्यों का आरम्भ इसी शब्द से किया जाता है। सभी मन्त्रों का प्रथम शब्द यही होता है। पिताजी को इसका बड़ा भान था और इस पुस्तक को प्राप्त कर उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि उनको नई रोशनी मिली और संसार के रहस्य का ज्ञान हो गया। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है पिताजी की सभी पुस्तकों और पुस्तिकाओं को मैंने पढ़ा है। यदि सब संस्करण नहीं पढ़ पाया तो कम से कम प्रथम दो संस्करण तो पढ़ा ही। परन्तु इस महाग्रन्थ को पढ़ने का साहस मुझे नहीं हुआ।

इस प्रसंग में सम्भवतः यह कह देना असंगत न होगा कि जब पिताजी इस
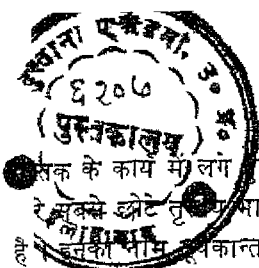
लेखक के कार्य में लगे हुए थे उस समय सन् १९०० मे उन्हे पुत्र लाभ हुआ। यह मेरे सबसे छोटे तृतीय भाई और पिताजी की अन्तिम सन्तान थे। मुझे इनका स्मरण है। इनका नाम सूर्यकान्त रखा गया था। ये बहुत ही सुन्दर बालक थे। तीन वर्ष की अवस्था मे सन् १९०३ में इनका देहान्त हुआ। ये न बोल सकते थे और न खड़े हो सकते थे। माता-पिता के ये बड़े ही प्रिय थे। गर्मी इन्हें जरा भी बर्दाश्त नही थी। ग्रीष्म-ऋतु मे बहुत ही अस्वस्थ रहते थे। माताजी का यही विश्वास था कि पहाड़ों के किसी ठडे प्रदेश का महान् जीव उनके घर में आया है। इनकी मृत्यु के कारण उनको बड़ा शोक हुआ। इनके कपड़े कितने ही वर्षों तक एक गठरी में बाँध कर अपने सामने लटकाए हुए रखती थी। इस बालक को केला बहुत प्रिय था। इनकी मृत्यु के बाद मेरी माता ने केला खाना छोड दिया। उस समय की स्त्रियो की भाँति मेरी माताजी बहुत व्रत तथा उपवास किया करती थी। यद्यपि इस बालक की मृत्यु के बाद माताजी छप्पन वर्षो तक जीती रहीं—उनकी मृत्यु सन् १९५९ मे हुई। उन्होंने रात्रि का भोजन नही किया। वे जिस बात का निश्चय कर लेती थी उससे विचलित नही होती थी। उन्होंने अपना व्रत इतनी लम्बी अवधि तक निबाहा।

पिताजी ने इस महान् ग्रन्थ को मानव जाति को समर्पित करते हुए लिखा है कि इसके मूल की रचना करुणामय ऋषि गार्गायन ने मनुष्य मात्र के हित के लिए की थी। इसके अन्त मे पिताजी ने सुन्दर श्लोको मे सूर्यकान्त की स्मृति को जाग्रत किया है। पिताजी की अन्य रचनाओ की भाँति अड्यार मद्रास स्थित थियासोफिकल सोसाइटी ने इसका भी प्रकाशन किया। इसकी कुछ प्रतियाँ वहाँ की नमकीन समुद्री हवा में नष्ट हो गई। खेद है कि अब भारत के पुराने विचारों का द्योतक यह शिक्षाप्रद तथा उपयोगी ग्रन्थ दुर्लभ है। पिताजी का स्वय यह विश्वास है कि इसके द्वारा उनकी सब शकाओं का समाधान हुआ और सब आध्यात्मिक और दार्शनिक प्रश्नो का उत्तर मिल गया।

पिताजी श्रीमती एनी बेसेन्ट के साथ थियासोफी और हिन्दू कालेज की सेवा मे देश भर का दौरा करते थे। इन दौरो का उद्देश्य थियासोफी का प्रचार करना और हिन्दू कालेज के लिए धन-संग्रह करना था। सभी स्थानों पर इनका वडे सम्मान से स्वागत होता था और हिन्दू नरेश तो विशेष रूप से इनके जीवन लक्ष्य की प्रशसा करते थे और हर तरह से इनको सहायता देते थे। सभी स्थानो मे श्रीमती एनी बेसेन्ट का भाषण होता था इसे वडे प्रेम से लोग सुनते थे। इनकी अलौकिक वाक्शक्ति सभी को मोह लेती थी। इनके सब भाषण अंग्रेजी भाषा मे होते थे। अंग्रेजी पढे हिन्दू लोग विशेष रूप से इनसे प्रभावित होते थे। वे अपने धर्म को, अपने देश की परम्पराओ को, अपने आचार-विचारों को नई दृष्टि से देखने लगे और उन पर उनकी श्रद्धा होने लगी।

श्रीमती एनी बेसेन्ट को भारत के पुराने शास्त्रो का ज्ञान विशेषकर पिताजी

के ही द्वारा हुआ। हमारे भारतीय ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद वे पढ़ती भी थी। उनका विशाल मस्तिष्क पिताजी की सहायता से बहुत शीघ्र ही उनका मर्म पकड़ लेता था और वे बड़ी सुन्दर भाषा में उसे व्यक्त करती थीं। हिन्दू कालेज के लिए इस प्रकार से अर्थ का संग्रह भी अच्छा होता था। श्रीमती एनी बेसेन्ट पृथ्वी के भिन्न-भिन्न देशों में भी भ्रमण करती थीं और वहाँ भी अपने व्याख्यानों द्वारा भारत का सन्देश पहुँचाती थी, उसकी तरफ अपने श्रोताओं की सहानुभूति आकर्षित करती थी और उसके पुरातन विचारों की सुन्दरता को प्रकट कर उसका गौरव बढ़ाती थी।

पिताजी सफर करने से बहुत घबराते थे। वे बहुत यात्रा करना पसन्द नहीं करते थे। इधर-उधर बहुत फिरने से उनको शारीरिक कष्ट होता था। श्रीमती एनी बेसेन्ट के साथ भारत के कोने-कोने मे तो वे अवश्य गये परन्तु उनके बहुत आग्रह करने पर भी देश के बाहर जाना उन्होने स्वीकार नहीं किया। श्रीमती एनी बेसेन्ट की इच्छा थी कि पिताजी भी देश के बाहर जाकर धर्म आदि के सम्बन्ध में लोगो को ज्ञान दें। यहाँ पर यह भी कह देना उचित होगा कि पिताजी भाषण देने से भी बड़ा परहेज करते थे। उनके लिए अलिखित (एक्सटेपोर) भाषण देना असम्भव प्राय: था। जो कुछ उन्हें कहना होता था उसे बड़ी सावधानी से पहले लिख लेते थे और उसी को सार्वजनिक सभाओं मे भी पढ़कर सुनाते थे। करीब १५ वर्षों तक इस प्रकार से उन्होने हिन्दू कालेज और थियासोफी की सेवा की। इस बीच मे उनकी बहुत सी पुस्तक-पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित हुई। जिनमें 'साइन्स आफ पीस' 'शान्ति विज्ञान या मोक्ष-शास्त्र' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सम्भवत: थियासोफिकल सोसाइटी के विस्तृत साहित्य मे उन्हीं की पुस्तकें सबसे गूढ़ और विद्वत्तापूर्ण हैं। इनमें किन्हीं अलौकिक बातों की चर्चा नहीं है जैसे कि थियासोफी के अन्य लेखकों श्री लेडबीटर आदि की पुस्तकों मे है। इनकी सब बातें बौद्धिक स्तर पर होतीं और रहती थी। इनकी अगाध विद्या से आकर्षित होकर देश-विदेश के बहुत से लोग इनसे मिलने आते थे। मैंने देखा कि विदेशियों से ये बहुत धैर्य के साथ भारतीय दर्शन-शास्त्र और समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध मे बातें करते और उनको समझाते थे। बहुत से अपने देश के लोग भी इनके पास आते थे। उनकी शंका समाधान के बाद उनसे प्राय. ये यही कहते थे कि मेरे ग्रन्थों को आप पढ़ें। उनसे ही आपको सब प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा। इनके पास बहुत से यूरोपीय पादरी भी आते थे। बड़े सम्मान से उनसे मिलते थे। अपने विश्वासो पर आग्रह रखते हुए भी वे इनकी बातें बड़े आदर से सुनते थे। इस प्रकार बड़े नियमित रूप से इनका १५ वर्षों का जीवन बीता।

श्रीमती एनी बेसेन्ट से इनका अगाध प्रेम था। जब उनके साथ दौरे पर नहीं जाते थे तो वे इन्हे प्रतिदिन पत्र लिखती थी और ये भी बराबर पत्र लिखते थे। जब श्रीमती एनी बेसेन्ट विदेश जाती थीं तो प्रति सप्ताह उनका पत्र आता था। उन दिनों हवाई जहाज नहीं चले थे। सप्ताह मे एक बार ही पानी के जहाज से विदेशो

से डाक लाने का प्रबन्ध था। इस बीच मे एक कौटुम्बिक घटना का उल्लेख करना सम्भवत. असगत न होगा। सन् १६०५ मे काशी मे प्लेग का बडा प्रकोप हुआ। हम सब अपने पैतृक उद्यान दुर्गाकुण्ड मे रहते थे। हमारे कुटुम्ब का एक मकान जो करीब ३०० वर्षो से हमारे पास रहा है और अब भी है, शहर के पुराने अचल मे है। इसे हम सब कोठी कहते रहे हैं। कोठी और उद्यान में आना-जाना लगा रहता था। दोनो ही स्थानो पर गृहस्थी का प्रबन्ध भी रहता था। एक दिन हम सब भाई प्रति-दिन की भाँति स्कूल गये थे। दोपहर के समय जो नौकर हमारा नाश्ता लाये उन्होने कहा कि बीबी अर्थात् मेरी छोटी बहिन बहुत बीमार हो गई है। डाक्टरो का ख्याल है कि उन्हें प्लेग हो गया है। इसलिए हम लोगों को स्कूल से कोठी जाना होगा, बगीचे नही। हम सब दुर्गाकुण्ड न जाकर अपने शहर के मकान लक्खी चौतरा पर गये। तीन दिनो के बाद मेरी बहिन का देहान्त हो गया। तब शोकाकुल मेरे माता-पिता भी शहर के मकान मे आ गये। यह कहते हुए कुछ आश्चर्य भी होता है और कुतूहल भी होता है कि फिर पिताजी ने दुर्गाकुण्ड के उद्यान में निवास नही किया और कुछ महीने कोठी पर रहने के बाद सिगरा स्थित रानी सतासी के बगीचे के नाम से प्रसिद्ध उद्यान को खरीदा और वही अप्रैल सन् १६०५ मे हम सब भाई बहिनों को लेकर चले आये और हम सब वही रहने लगे। इसका नाम उन्होने सेवा-आश्रम रखा। मेरे पिताजी के दो भाई उसी दुर्गाकुण्ड वाले उद्यान मे रहते थे जिसका कि बँटवारा इन दोनों के बीच हुआ। चौथे भाई ने भी नया उद्यान खरीदा।

इस नये स्थान पर पिताजी आये तो वे बहुत ही हृष्ट-पुष्ट थे और उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। परन्तु १०-१२ दिनो के भीतर ही वे बहुत बीमार होकर शीघ्र ही मरणासन्न हो गये। मेरी अवस्था पूरे १५ वर्षों की भी नही थी। हम सभी लोग बड़े चिन्ताग्रस्त हुए। माताजी तो बहुत ही विह्वल हो गईं। मैं सबसे बडा पुत्र था। मेरे भाई मुझसे चार वर्ष छोटे थे। मुझे स्मरण है अपने दिन-भर के व्यस्त कार्यक्रम को पूरा करके श्रीमती एनी बेसेन्ट सायकाल आ जाती थी और रात्रि-भर सेवा-सुश्रुषा करती थी। रोगियो की परिचर्या के कार्य से वे सदा से अभ्यस्त थी। उनकी अध्यवसायिता प्रसिद्ध तो थी ही। उनके मित्र और सहयोगी प्रसिद्ध लेखक जार्ज बर्नार्ड शा ने इनके पुराने दिनो की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में लिखा है कि दिन भर अपने विविध कार्यो को बडे परिश्रम से सम्पन्न कर ये किन्ही अस्वस्थ साथी की सेवा सुश्रुषा करने चली जाती थीं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण अपनी आँखों पिताजी की बीमारी के समय देखा।

पिताजी की अवस्था उस समय ३६ वर्षो की थी। वे करीब ६ महीने तक लगातार किसी न किसी बीमारी के शिकार होते गये और यद्यपि वे इसके बाद प्राय ५४ वर्षों तक जीते रहे परन्तु उनका स्वास्थ्य पूर्णरूप से कभी नही सुधरा। अपने नियमित जीवन के बल पर उन्होने प्राय. ९०वर्षो की आयु प्राप्त की। हमारे कुल मे २०० वर्षों मे ये ही सबसे दीर्घ-जीवी हुए।

पाँचवाँ अध्याय

आध्यात्मिक संघर्ष तथा मानसिक ताप

जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, और उन दिनो की याद मैं कर सकता हूँ, नौकरी के छोड़ने के बाद अर्थात् १८९८ से लेकर सन् १९१० तक पिताजी के सबसे सुखमय दिन रहे। इसमें वे अपना अभीष्ट कार्य पूर्ण रूप से कर सके और करते रहे। अपने प्रिय सनातन धर्म का प्रचार और प्रसार, हिन्दू कॉलेज द्वारा युवको में और थियासोफी द्वारा वयस्कों में वे करते रहे। इससे उन्हे वास्तविक सुख और शान्ति मिलती थी। आर्थिक दृष्टि से वे स्वतन्त्र थे। सम्पन्न कुल में जन्म लेने से उन्हें दिन-प्रति-दिन के व्यय के सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं थी। अपव्यय से दूर रहने और किसी प्रकार का हानिकर व्यसन न होने के कारण उन्हे कभी कोई कमी नही हुई। वे हर प्रकार से सन्तुष्ट रहे। उन्हें अधिक धन आदि का लोभ नहीं था। जो कुछ उनके पास रहा उसे वे अपने लिए पर्याप्त मानते थे। ऐसी आर्थिक और प्राकृतिक स्थिति मे वे अपना सब कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते थे और करते रहे।

अवश्य ही इस बीच मे उन्हें सन् १९०३ में अपने पुत्र और सन् १९०५ मे अपनी कन्या का वियोग सहना पडा। दोनों का ही प्रभाव उन पर पडा। जब कोई उनसे यह कहता था कि आप तो इतने ज्ञानी है, आपको दुःख कैसा ? तो उनका उत्तर होता था कि 'मैं वेदान्ती हूँ परन्तु इसका अर्थ यह नही हो सकता कि यदि कोई मेरी जीभ पर मिर्चा रख दे तो मुझे तीता न लगे। सुख-दुःख तो होता ही है पर ज्ञानी उसे धैर्य से सहता है, अपने को विह्वल नही होने देता।'

सन् १९०९ में एक और बडे संघर्ष का सामना हमारे कुल को करना पडा था। जन्म से हम वैश्य वर्ण के अन्तर्गत बीसा अग्रवाल उपजाति के माने गये है। काशी मे इसका बडा दृढ संघटन रहा। इसकी बहुत बडी मर्यादा भी थी। समाज मे इसका बडा सम्मान था। उस समय इसमें कई विशिष्ट नागरिक थे जो शिक्षा मे, साहित्य सृजन मे, राज सेवा में, व्यापार मे ख्याति प्राप्त किये हुए थे। इनमें बहुत से धनी जमीदार भी थे। इस उपजाति के लोग पुरानी रूढियो और परम्पराओ मे बँधे हुए थे। नये विचारो का संचार उस समय बहुत कम हुआ था, यद्यपि सुधार की आवाज बीच-बीच मे उठती थी। उदाहरणार्थ, सन् १९०५ में काशी मे वैश्य कॉन्फ्रेंस की बैठक हुई थी जिसमें, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि के वैश्य वर्ण के अन्तर्गत सभी जातियों और उपजातियो के प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। जहाँ तक मुझे

याद पड़ता है—मैं उस समय पूरे १५ वर्ष का भी नही था और वहाँ स्वयंसेवक था—इसमे अग्रवाल जाति के लोगों का प्राधान्य था। उत्तर प्रदेश के उस समय के प्रसिद्ध जिला जज राय बहादुर लाला बैजनाथ इसके महामन्त्री थे। ये भी वही बीसा अग्रवाल थे। पजाब से लाला मुरलीधर आये हुए थे जिन्होने बडा मनोरजक भाषण किया था। यहाँ बहुत से सुधार सम्बन्धी प्रस्ताव पारित हुए थे।

सुधार का रूप था कि बाल विवाह की प्रथा दूर हो, स्त्री शिक्षा का प्रचार हो, विदेश यात्रा की अनुमति हो, विधवा विवाह की रोक हटे, पर्दे की प्रथा दूर की जाय, और वैश्यान्तर्गत उपजातियो मे विवाह हो सके। मुझे स्मरण है कि बहुत बडे विद्वान् महामहोपाध्याय श्री रामशास्त्री ने विशेष रूप से सम्मेलन मे आकर विधवा विवाह का समर्थन किया था किन्तु इस सबका काशी के अग्रवालों पर कोई प्रभाव नही पडा। मेरे कुल के सदस्यो के अतिरिक्त बहुत कम स्थानीय अग्रवालो ने इसमे भाग लिया था।

इमके थोडे ही दिनों बाद श्री लक्ष्मीचन्द्र नाम के एक उत्साही, उद्योगी, विद्वान् नवयुवक उच्च शिक्षा के लिये इङ्गलैण्ड गये। १६०६ मे ये लौटे। हम कुछ अग्रवाल नवयुवकों ने इनको निमन्त्रित किया और इनके साथ भोजन किया। हमने अपना नाम दूसरे दिन एक स्थानीय समाचार पत्र मे प्रकाशित करा दिया। इस पर इस बिरादरी में बड़ा कोलाहल मचा। बिरादरी की बैठके हुई जिनमे बडे रोष और आवेश के वातावरण में इन नवयुवकों को ही नही इनके सारे कुटुम्ब के कुटुम्ब को बिरादरी से निष्कासित किया गया। इनमें से जिनके पिता अथवा अभिभावकों ने बिरादरी की बैठक मे आकर यह प्रतिज्ञा की कि वे इनको घर से अलग रखेंगे, वे क्षमा कर दिये गये। इस भोज मे मेरे ताऊजी श्री गोविन्ददास के दो बड़े पुत्र, तथा हम दोनों भाई सम्मिलित थे। पिताजी और उनके सब भाइयो ने हम नवयुवकों का पूरा समर्थन किया और हमारा पूरा कुटुम्ब ही निष्कासित रहा।

उस समय की बात याद करके आज हँसी आती है, पर हिन्दू समाज में बिरादरी से निष्कासित किया जाना बडा ही कठोर दण्ड है और आज भी इसका अत्यधिक प्रभाव है, यद्यपि कुछ वर्गो में यह कम होता जा रहा है। यह उल्लेखनीय है कि तीस वर्षों तक मेरे कुल के किसी नवयुवक, नवयुवती का विवाह काशी मे नही हुआ। इस घटना के पहले सन् १६०७ में हमारे चचेरे भाई श्री श्रीविलास का विवाह काशी में हुआ था और इसके बाद सन् १६३७ मे मेरे एक दूसरे चचेरे भाई डाक्टर श्रीरजन की कन्या का विवाह काशी मे हुआ। काशी के बाहर के अग्रवालों ने यहाँ की बिरादरी के आदेश के अधीन अपने को नही माना। इस कारण यद्यपि कुटुम्ब मे विवाह अग्रवालों में ही होता था पर काशी के बाहर और हमारा सम्बन्ध भागलपुर-पटना से लेकर दिल्ली-हिसार तक होता रहा।

बिरादरी से निष्कासन से क्रुद्ध होकर और सुधार की आकांक्षा रखते हुए मेरे ताऊजी श्री जी ने मान-हानि के कुछ मुकदमे भी किये जिनमें

तो नहीं मिली पर बिरादरी का संघटन टूट गया। दु:ख से इसे स्वीकार करना ह पड़ेगा कि खराबियों के साथ समाज की जो अच्छाइयाँ थीं वे भी इसके कारण जार्त रहीं। नवयुवकों और नवयुवतियों पर नैतिक और धार्मिक अनुशासन के ज बन्धन थे वे भी टूटने लगे। उनका स्थान उच्छृङ्खलता और उद्दण्डता ने ले लिया ; जिससे सभी विचारवानों को मार्मिक दु:ख ही हो सकता है।

यह बात विशेष रूप से जानने के योग्य है कि यद्यपि बहुत से लोग सनातन धर्म का अर्थ यह लगाते हैं कि समय की गति के कारण जितने अच्छे-बुरे आचार विचार रूढ़िवाद के रूप में समाज में आ गये हैं, वे ही सनातन धर्म हैं, पर पिताजी विशुद्ध सनातन धर्म का ही प्रतिपादन करते थे और सुधार के नाम से समाज से बुराइयों और सकीर्णताओं को हटाने का जो आन्दोलन था उसके वे समर्थक थे। उनके सनातन धर्म पर सदा जोर देते रहने से कितने ही उग्र समाज सुधारक उनको प्रतिक्रियावादी और पुरातनवादी कहते थे और उचित सुधारों को अपने जीवन में कार्यान्वित करने के कारण कितने ही लोग उन्हें समाज-विध्वसक और धर्मनाशक भी कहते थे। वे अपनी विचारशैली और कार्य प्रणाली पर सदा दृढ़ रहे। परन्तु उनके सम्बन्ध में परस्पर के विरोधी विचारों को स्मरण कर अवश्य मुझे विस्मय होता है। उपर्युक्त वियोगों और सामाजिक सघर्षों के अतिरिक्त सन् १८९८ से सन् १९१० तक पिताजी का जीवन बहुत सुख और शान्ति में बीता। वे अपने साहित्यिक और शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में लगे रहे। समाज में उनका बड़ा आदर था और उन्हें हर प्रकार का कौटुम्बिक सुख भी था।

सन् १९१० में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनका अपूर्व प्रभाव पिताजी पर पड़ा और जिनके कारण उनके जीवन-क्रम में ही एक प्रकार से अन्तर हो गया। थियासोफिकल सोसाइटी के मुख्य सदस्यों में सी० डब्लू० लेडबीटर नाम के एक सज्जन थे। ये बड़े ही अच्छे लेखक थे और अलौकिक बातों में इनको विशेष रस था। इनकी यह सब मनोकल्पना थी या वास्तविक अनुभव थे, यह कहना कठिन है; पर इस सम्बन्ध के इनके लेखों और रहस्यमय व्यक्तित्व के कारण थियासोफिकल सोसाइटी के बहुत से सदस्यों का इनके प्रति आकर्षण था। इनके कुछ व्यक्तिगत आचरण के सम्बन्ध में शंका होने से ये बदनाम भी हो गये थे और एक प्रकार से इनका निष्कासन भी हो गया था। कहा नहीं जा सकता कि कैसे, पर सन् १९१० में ये थियासोफिकल सोसाइटी में बड़े सम्मान के साथ वापस आये और श्रीमती एनी बेसेंट पर उनका अपूर्व प्रभाव पड़ा। वे एक प्रकार से इनके वशीभूत हो गयीं।

यहाँ पर इस प्रसंग में यह लिखना आवश्यक है कि थियासोफिकल सोसाइटी के संस्थापक और प्रथम आजीवन अध्यक्ष कर्नल आलकाट का सन् १९०७ में देहान्त ुआ। इनकी मृत्यु के पहिले जैसा कि होता है इनके उत्तराधिकारी के सम्बन्ध की चर्चा होने लगी। इनसे भी पूछा गया। ये श्रीमती एनी बेसेंट को ही अपना उत्तराधिकारी सूचित कर रहे थे। सोसाइटी के प्राथमिक और बड़े उत्साही सदस्यों और

कार्यकर्ताओं में बर्ट्राम कीटली नाम के एक अंग्रेज सज्जन थे। कई साथी इन्हें कर्नल आलकाट का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। ये भी उस पद के इच्छुक थे। सुना है कि श्रीमती एनी बेसेंट ने कर्नल आलकाट से कहा कि वे भी श्री बर्ट्राम कीटली को ही अपना उत्तराधिकारी बनाने की सिफारिश करें पर उन्होंने श्रीमती एनी बेसेंट को ही पसन्द किया।

सन् १९०७ में कर्नल आलकाट की मृत्यु के बाद सारे संसार में फैले हुए थियासोफिकल सोसाइटी के सदस्यों (थियासोफिस्टों) ने अपना अध्यक्ष चुनने के लिए मत दिया। सोसाइटी का विधान कर्नल आलकाट ने बनाया था जो अमेरिकन थे। वहाँ की परम्परा के अनुसार यदि एक ही व्यक्ति किसी निर्वाचन के लिए खड़ा हो तब भी मतगणना होती है और उसे निर्वाचकों के काफी बड़े अनुपात का मत प्राप्त करना अनिवार्य होता है। श्रीमती एनी बेसेंट अध्यक्ष के पद के लिए खड़ी हुईं कोई दूसरा नहीं खड़ा हुआ। मतगणना हुई। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है ९१ प्रतिशत वोट इन्हें मिले। ये इतनी लोकप्रिय थीं पर इससे पुराने प्रतिष्ठित थियासोफिस्टों में मनोमालिन्य भी हुआ। कीटली के समर्थक श्रीमती एनी बेसेंट के ऐसे अनन्य मित्र जैसे श्री उपेन्द्रनाथ वसु, श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त और देश-विदेश के कतिपय अन्य साथी पृथक् हो गये, अर्थात् थियासोफिकल सोसाइटी और थियासोफी में उनको रस नहीं रह गया। उसके कार्य से उन्होंने हाथ खींच लिया।

अध्यक्ष चुने जाने के बाद श्रीमती एनी बेसेंट ने अपने कार्य का केन्द्र काशी छोड़कर अडयार (मद्रास) को ही बनाया, जो सार्वभौमिक थियासोफिकल सोसाइटी का प्रधान कार्यालय था। लेडबीटर साहब काशी नहीं आते थे और कर्नल आलकाट के समय एक प्रकार से सोसाइटी से पृथक् कर दिये गये थे, फिर अडयार में प्रतिष्ठापूर्वक सोसाइटी में वापस आ गये। यहाँ पर सन् १९१० में इनका दो सोलह वर्ष और बारह वर्ष के बालकों से परिचय हुआ जिनका नाम श्री जे० कृष्ण-मूर्ति और श्री जे० नित्यानन्दन था। श्री लेड बीटर के अनुसार ये पहुँचे हुए जीव थे। उन्होंने इनके सहस्रों वर्षों के पूर्वजन्मों की कथा बतलायी और प्रकाशित की। इनका ऐसा कहना था कि श्री कृष्णमूर्ति भावी ईसामसीह हैं। श्रीमती एनी बेसेंट का अब काशी में रहना नहीं होता था। यहाँ के मित्रों और साथियों से उनका सम्पर्क छूटता गया और मद्रास में रहते हुए इन पर श्री लेडबीटर का प्रभाव बहुत बढ़ता गया।

इन दोनों बालकों को उन्होंने अपने पास रखा। इनकी शिक्षा-दीक्षा पर अत्यधिक धन व्यय करना आरम्भ किया। इनको इङ्गलैंड ले गयीं। ये लोग बड़े ही उच्चस्तर का जीवन व्यतीत करने लगे। श्री कृष्णमूर्ति के नाम से एक नया समुदाय तैयार हो गया। श्रीमती एनीबेसेंट के जो निकटतम अनुयायी थे वे इस सम्प्रदाय के हो गये। धीरे-धीरे थियासोफिकल सोसाइटी से ही वे लोग पृथक होने लगे। सोसाइटी के भीतर जो यह नया आयोजन हुआ उससे मेरे पिता बहुत ही क्षुब्ध हुए।

उनको ऐसा लगा कि थियासोफी के मूल सिद्धान्तो का ही हनन हो रहा है। इस नये सम्प्रदाय के कारण सोसाइटी मे भयकर फूट पड गयी। श्रीमती एनी बेसेट थियासोफिकल सोसाइटी की अध्यक्ष निर्वाचित होकर सन् १९३३ मे अपनी मृत्यु तक बराबर अध्यक्ष बनी रही। इनके प्रभाव के कारण श्री कृष्णमूर्ति का भी बल बढता गया। लोग उनके पृथक् से अनुयायी होने लगे। श्रीमती एनी बेसेंट से भी उनका पार्थक्य हो गया। जहाँ तक मुझे मालूम है श्रीमती एनी बेसेंट के विचारों का वे समर्थन नही करते थे। श्रीमती एनी बेसेंट को इससे बडा धक्का लगा। उनके अन्तिम दिन कष्टमय रहे। शारीरिक और मानसिक व्यथा उन्हें सताये हुए रही। जहाँ तक मैं समझ सका श्री कृष्णमूर्ति सम्बन्धी उनकी अभिलाषाओं का कार्यान्वित न होना उनके लिए बहुत ही दुखदायी स्थिति रही पर वे अपना कार्य करती रही और उधर श्री कृष्णमूर्ति का जोर भी बढता गया।

१९१०–११ से ही पिताजी सशंक रहे। श्रीमती एनी बेसेंट को अपने विचारानुसार गलत रास्ते पर जाते हुए देख वे दु:खी और रुष्ट दोनो ही हुए। सन् १९१२ मे वे थियासोफिकल सोसाइटी की भारतीय शाखा के मन्त्री निर्वाचित हुए। इस पद के कारण वे शाखा की पत्रिका के सम्पादक भी रहे और इसमे उन्होंने नये सम्प्रदाय और श्रीमती एनी बेसेंट के नये दल के सम्बन्ध में भयकर विवाद छेड़ दिया। प्रतिमास इस पत्रिका मे उनके रोष भरे लेख निकलते रहे। श्रीमती एनी बेसेंट से एक प्रकार से उनकी मित्रता ही टूट गयी। दु:ख की बात है कि सार्वजनिक बातो पर मतभेद के कारण व्यक्तिगत हृदयभेद भी हो जाता है। इस प्रसंग में भी यही हुआ। इस अगाध मैत्री के टूटने का मुझे बहुत दु:ख हुआ। इस मैत्री के कारण पिताजी को जो वैयक्तिक आनन्द था वह तो था ही, साथ ही सुन्दर, उपयोगी, धार्मिक और शिक्षा सम्बन्धी कार्य भी बडी कुशलता से हो रहा था। मैत्री भी गयी और कार्य पर भी बडा आघात पहुँचा।

श्रीमती एनी बेसेंट और उनके निजी अनुयायीगण जो कि हिन्दू कालेज को बडे त्याग से चला रहे थे पृथक् हो गये। उन्होंने नई शिक्षा संस्थाएँ खोलीं। पिताजी एकाकी हो गये उनके सभी सहायक एक प्रकार से यकायक अलग हो गये। हिन्दू कालेज का कार्य चलाते रहने में उन्हें अत्यन्त कठिनाई प्रतीत होने लगी। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि हिन्दू कालेज स्वतन्त्र शिक्षा संस्था थी। इसके अपने विशेष उद्देश्य और आदर्श थे। उसके संस्थापकों ने यह निर्णय किया था कि हम शासन से कोई आर्थिक सहायता न लेंगे न उसका नियन्त्रण ही किसी प्रकार से होने देंगे। शिक्षा मे शासन का हाथ श्रीमती एनी बेसेंट भयावह और हानिकारक मानती थी। उनमे यह शक्ति भी थी कि गैर-सरकारी तौर से देश-विदेशो से वे इतना धन एकत्र कर ले कि विद्यालय का काम सुचारु रूप से चलता रहे।

मुझे स्वयं मालूम है कि उत्तर प्रदेश के उस समय के एक गवर्नर के बाद दूसरे गवर्नर पिताजी से आग्रह करते थे कि आप शासन से धन लेना स्वीकार

कीजिए। उनका कहना था कि सब धन देश का है। कहीं बाहर से नहीं आया है। परन्तु पिताजी का यही उत्तर होता था कि जिस दिन हम रुपया लेंगे उसी दिन से शासन अपना नियन्त्रण आरम्भ कर देगा जिसे हमें स्वीकार करना ही होगा, और जिसके कारण हमारी सब स्वतन्त्रता छिन जायगी।

श्रीमती एनी बेसेंट और उनके निकटतम अनुयायियों के पृथक् हो जाने के बाद पिताजी ने यह अनुभव किया कि मेरे पास इतनी शक्ति नहीं है कि मैं विद्यालय के चलाने का भार उठा सकूँ और उसके लिए आवश्यक धन का संग्रह कर सकूँ। अपने जीवन के सम्भवतः सबसे अधिक प्रिय मित्र और साथी श्रीमती एनी बेसेंट से मनोमालिन्य, अपने प्रेम और विद्या से सेवित थियासोफिकल सोसाइटी के गलत रास्ते पर चलने, और अपने त्याग और तपस्या से पोषित हिन्दू कालेज को न सम्भाल सकने से कितनी चिन्ता उस समय उनको व्याप्त किये रही होगी यह अनुमान किया जा सकता है। श्रीमती एनी बेसेंट की मैत्री टूटने से उन्हें कड़ी चोट लगी थी। इसके बाद दोनो ही औपचारिक रूप से एक-दूसरे से मिलते थे, पर पुरानी बात नहीं रह गई थी यह स्पष्ट था।

थियासोफिकल सोसाइटी के तत्त्वाधान में तो वे पुस्तकें लिखते ही रहे। इस प्रकार पुराना निकट सम्बन्ध न होते हुए भी उसकी और उसके द्वारा धर्म और समाज की सेवा करते ही रहे, पर हिन्दू कालेज को न चला सकने का संकट सबसे भीषण था।

इसी बीच पण्डित मदनमोहन मालवीय काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए बड़े प्रयत्नशील हो गये। वास्तव में ऐसा करने का उनका विचार बहुत दिनों से रहा। सन् १९०५ के दिसम्बर मास में जब काशी में श्री गोपालकृष्ण गोखले के सभापतित्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ था उस समय कांग्रेस पण्डाल में आयोजित सार्वजनिक सभा में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का औपचारिक रूप से पण्डित मदनमोहन मालवीय ने प्रथम बार प्रस्ताव उपस्थित किया। उस समय भारत के प्रसिद्ध वक्ता श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी इसके पक्ष में भाषण किया था। मैं उस समय वहाँ उपस्थित था। यद्यपि मेरी अवस्था केवल १५ वर्षों की थी और सब कार्यवाही अंग्रेजी में हो रही थी, मैं उसे अच्छी तरह समझ रहा था। तब से बराबर मालवीय जी इस कार्य में लगे रहे। श्रीमती एनी बेसेंट के आदर्श और उनके आदर्श में अन्तर था। मालवीय जी आरम्भ से ही शासन की सहानुभूति और उससे मान्यता प्राप्त करने की फिक्र में थे। शासन हिन्दू कालेज की स्वतन्त्रता-प्रियता से अप्रसन्न था। कई बार कालेज और शासन के अधिकारियों में संघर्ष भी हो चुका था। वे इसे अपने अधीन करने की सदा से ही अभिलाषा करते रहे।

मालवीय जी के आयोजन से उन्हें अच्छा मौका मिला। उन्होंने स्पष्ट रूप से मालवीय जी से कह दिया कि जब तक वे हिन्दू कालेज को अपनी योजना में

सम्मिलित नही कर लेते तब तक शासन हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का समर्थन नही कर सकता और न विश्वविद्यालय को मान्यता ही दे सकता है। मालवीय जी ने भी हिन्दू कालेज के ऊपर आये हुए सकट से लाभ उठाया। यो तो बीच-बीच मे वे पिताजी से वर्षों पहले से मिलते रहे पर अब वे बार-बार उनसे मिले और हिन्दू कालेज को हिन्दू यूनिवर्सिटी की योजना मे समाविष्ट करने का सुझाव पिताजी ने स्वीकार कर लिया। इसके बाद की औपचारिक कार्यवाही उन्होने बडी तत्परता से की जिससे कि हिन्दू कालेज, हिन्दू यूनिवर्सिटी के रूप में परिवर्तित हो जाय और सन् १९१५ से केन्द्र के तत्कालीन शिक्षा सदस्य सर हारकोर्ट बटलर ने हिन्दू यूनिवर्सिटी विधेयक को उस समय की केन्द्रीय विधान सभा मे उपस्थित किया और पारित होकर उसने शीघ्र ही अधिनियम का रूप ले लिया। इसके पारित होने पर सर हारकोर्ट बटलर ने वही घोषणा कर दी कि शासन की ओर से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को एक लाख रुपया साल दिया जायगा। उसी समय एक प्रकार से हिन्दू कालेज के मौलिक सिद्धान्त का हनन हो गया और उसका आधार स्तम्भ ही टूट गया। तथापि पिताजी ने पूर्णरूप से अपने वचन का पालन किया और विश्वविद्यालय की स्थापना मे मालवीय जी की हर प्रकार से सहायता करते रहे, पर उसमे कोई पद लेना उन्होने स्वीकार नहीं किया।

सन् १९१६ की ४ फरवरी को तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिग ने आकर इसका शिलान्यास किया। इसके जटिल और कठिन प्रबन्ध मे पिताजी ने अथक परिश्रम किया और सब काम सुन्दरता और सफलता से सम्पन्न हुआ। सबको इस बात का अवश्य दुःख हुआ कि वाइसराय की सुरक्षा के लिए नगर में इतना भीषण और कठोर सरकारी प्रबन्ध था कि नागरिकगण कई दिनो तक बहुत दुःखी और त्रस्त रहे।

शिलान्यास के उत्सव के लिए पण्डित मदनमोहन मालवीय के निमन्त्रण पर कितने ही नरेश और विशिष्ट जन आये हुए थे। शिलान्यास के बाद हिन्दू कालेज के काशी नरेश भवन के प्रागण मे विशिष्ट सज्जनों के सार्वजनिक भाषणों की योजना की गई थी। प्रतिदिन सायंकाल के समय ये भाषण होते थे। एक दिन महात्मा गाँधी का भाषण भी था। एक साल पहले गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका से बड़ी ख्याति प्राप्त कर स्वदेश लौटे थे। राजनीति मे ये अपना गुरु श्री गोपालकृष्ण गोखले को मानते थे। दक्षिण अफ्रीका में रहने वालों के आत्म-सम्मान और अधिकारों के लिए वे वहाँ के शासन से बड़े साहस के साथ लडे थे और, वही उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन मे अहिंसात्मक असहयोग के प्रकार का प्रयोग भी किया था और उस आन्दोलन मे बहुत कष्ट भी सहा था। अन्त में उन्हें सफलता भी मिली। अब वे स्वदेश लौटे और परामर्श के लिए श्री गोखले के पास गये तो उन्होने कहा कि एक वर्ष तक आप मौन धारण कीजिये। देश की स्थिति का अध्ययन कीजिये तब कुछ बोलियेगा और कार्य कीजियेगा। श्री गोखले ने गाँधी जी से स्पष्ट कहा कि 'भारत

दक्षिण अफ्रीका नही है। जो प्रणाली वहाँ सफल हुई वह यहाँ नही हो सकती।' थोडे ही दिनो बाद गोखले का देहावसान हो गया। पर गाँधी जी उनके आदेशानुसार चुप रहे। संयोग की बात है कि जब वे हिन्दू विश्वविद्यालय के इस उत्सव में आये तो उसी समय वह वर्ष समाप्त हुआ, और दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद उनका प्रथम सार्वजनिक भाषण इसी व्याख्यान माला मे हुआ। वह भाषण स्मरण करने योग्य है क्योंकि उससे भावी घटनाओ की सूचना मिलती है और भारत के जीवन मे गाँधी जी का क्या श्रेष्ठ स्थान रहने वाला है इसका भी आभास मिलता है।

सभा मण्डप श्रोताओ से भरा हुआ था। मच पर आभूषणों से अलंकृत कितने ही भारतीय नरेश बैठे हुए थे। आगे की तरफ शासनाधिकारी और विशिष्ट जन रहे। जन-साधारण का भारी समूह चारों तरफ एकत्र था। गाँधी जी काठियावाडी किसान के वस्त्रो मे सभा में आये। अपने भाषण मे पहले तो उन्होने इस पर दु ख प्रकट किया कि हमारे नगरो मे और विशेषकर मन्दिरो के पास इतनी भीषण गन्दगी रहती है। उन्होने कहा कि अंग्रेज अपने देश मे इतने शिष्ट रहते है पर यहाँ आकर वे इतने खराब हो जाते है, इसके लिए दोषी हम ही होगे क्योकि हमारे सम्पर्क से वे बिगड जाते हैं। आगे चलकर देश की दरिद्रता की उन्होंने चर्चा की और नरेशो को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा—'हे नरेशगण जाइये, अपने आभूषणो को बेच डालिये और जो धन उससे मिले उसे दरिद्रों के हित के लिए काम मे लाइये'। इस पर नरेशो के बीच कुछ घबराहट पैदा हुई। फिर गाँधी जी ने वाइसराय के आगमन पर जो कठोर प्रबन्ध शासन की तरफ से हुआ था उसकी चर्चा करते हुए कहा कि 'यदि वाइसराय के ऊपर गोली चली होती तो उतना हर्ज न होता जितना कि उनकी रक्षा के नाम पर आतक उत्पन्न करने और जनसाधारण को कष्ट पहुँचाने से हुआ।'

इस पर तो बडा कोलाहल मच गया और सभापति महाराज दरभगा ने महात्मा गाँधी को रोका। वे चुप हो गये। श्रोताओ ने 'बोलिये, बोलिये' का शोर मचाया। गाँधी जी ने कहा कि 'मैं केवल सभापति जी की आज्ञा मान सकता हूँ।' मच पर परस्पर परामर्श के बाद महात्मा जी को आगे बोलने की अनुमति मिली पर महात्मा जी ने उसी ढग पर अपना बोलना आरम्भ किया। नरेशगण उठकर चलने लगे। सरकारी कर्मचारी और विशिष्टगण भी उठे। सभा भग हो गई।

पिताजी बडी शान्ति के साथ बराबर बैठे रहे। मालवीय जी काफी चिन्तित हुए। स्थानीय कमिश्नर भी सभा मे मौजूद थे। रात्रि को पिताजी को लेकर कमिश्नर के यहाँ वे गये। कमिश्नर उस समय डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को आदेश का पत्र लिख ही रहे थे कि गाँधी जी को नगर से निष्कासित कर दिया जाय। अवश्य ही मालवीय जी डरे कि यदि ऐसा आदेश निकलता तो गाँधी जी उसे न मानेगे और शोचनीय स्थिति पैदा हो जायगी। उनके यह आश्वासन देने पर कि वे स्वयं गाँधी जी से चले जाने की प्रार्थना करेंगे और वे अवश्य ही इसे मान लेंगे कमिश्नर ने आदेश नहीं निकाला यह कि मेरे काशी में रहने से मालवीय जी को

असमजस हो रहा है गाँधी जी स्वय ही दूसरे दिन काशी से चले गये। इसके बाद ही उन्होने अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य करना आरम्भ किया और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर और यह समझकर कि इन्ही के द्वारा देश का कल्याण होगा दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक स्त्री-पुरुष इनके साथ होने लगे और इनके आदेश के अनुसार कार्य करने लगे। उस वर्ष (१९१६) की लखनऊ की वार्षिक कांग्रेस मे उनकी लोकप्रियता सिद्ध हुई और नेताओ मे उनको श्रेष्ठ स्थान मिला। 'महात्मा गाँधी की जय' के नारे भी वहाँ लगने लगे। इसके बाद चम्पारन मे उन्होने अपनी अहिंसात्मक असहयोग की प्रणाली का सफलतापूर्वक प्रयोग किया। चालीस वर्षों के सतत प्रयत्नो के बाद हमे स्वराज्य मिला। अपने राष्ट्रीय इतिहास के इस अध्याय की कहानी विशेष रोचक और शिक्षाप्रद है।

मेरे पिताजी और मालवीय जी का हिन्दू विश्वविद्यालय के सम्बन्ध मे बहुत दिनो तक साथ नही रह सका। मालवीय जी ने हिन्दू कालेज को प्राप्त कर इसी के आधार पर हिन्दू विश्वविद्यालय का कार्य आरम्भ किया। पिताजी का विचार था कि काशी के कमच्छा नामक अचल मे जहाँ हिन्दू कालेज था वही से हिन्दू विश्वविद्यालय का विस्तार हो। मालवीय जी गगा जी के तीर पर इसकी स्थापना करना चाहते थे। वर्षा ऋतु मे गगा जी की जहाँ तक साधारणत बाढ आती है उतनी भूमि छोडकर विश्वविद्यालय का शिलान्यास उन्होने नगवा मे कराया था। उस साल इतनी बाढ आई कि शिलान्यास का स्थान डूब गया। इस कारण वहाँ से भी दूर हटकर विश्वविद्यालय के भवन तैयार होने लगे। कहने को तो गगा जी के तट पर नगवा गाँव मे विश्वविद्यालय स्थापित किया गया—कमच्छा से नगवा के बीच मे करीब चार मील का फासला है—परन्तु वास्तव मे गंगा जी से कमच्छा जितनी दूर है उससे अधिक दूरी पर विश्वविद्यालय बना। अवश्य बाढ़ के समय गगाजी का पानी विश्वविद्यालय के पास तक आ जाता है।

पिताजी को इमारत बनाने का बहुत शौक था। इसके सम्बन्ध का उनका ज्ञान भी अत्यधिक था। पुराने हिन्दू कालेज की अधिकतर इमारतें उन्हीं की बनवायी हुई हैं जिनमे इमारतों के तीनों गुण है—ये सुन्दर हैं, मजबूत हैं और यथा सम्भव कम खर्च में बनी हैं—आगे चलकर इमारते कैसी लगेगी इसका भी वे अनुमान कर सकते थे। नगवा अचल मे, गंगा नदी का रूप धनुषाकार है और नक्शे पर विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत विभिन्न विद्यालयों अर्थात् कालेजों की स्थापना धनुषाकार रूप मे की गयी। नक्शा यदि देखा जाय तो ऐसा मालूम पड़ता है कि ये कालेजों की इमारतें भी धनुषाकार है। पर वास्तव मे उनके आगे रेखा धनुषाकार न होकर ये भवन टेढे-मेढ़े लगते हैं। पिताजी ने मालवीय जी से कहा था कि नक्शा और वास्त-विकता मे बहुत अन्तर होता है, और वैसा ही हुआ। विश्वविद्यालय से न धनुषाकार नदी दीख पडती है, न विद्यालयो के भवन धनुषाकार प्रतीत होते हैं।

जिस समय हिन्दू कालेज के निरीक्षको (ट्रस्टियो अथवा अधिकारियों) ने अपने

कालेज को हिन्दू यूनिवर्सिटी को दिया तो उनकी शर्त थी कि कालेज की निरीक्षक सभा (बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज) की अध्यक्ष श्रीमती एनी बेसेंट और अन्य निरीक्षक ट्रस्टी, विश्वविद्यालय की सर्वोच्च अधिकारिणी सभा (कोर्ट) के आजीवन सदस्य रहेगे। यद्यपि ये प्रथम कोर्ट के सदस्य रहे किन्तु पीछे भुला दिये गये। मेरी समझ मे इस बात की भी चोट हिन्दू कालेज के पुराने कार्यकर्ताओ को रही। सम्भवत सबसे बडा दुख पिताजी को इस बात का था कि हिन्दू कालेज के तत्त्वावधान मे बनायी गयी सनातन धर्म की पुस्तिकाओं की पडित मदनमोहन मालवीय ने पूर्ण-तया उपेक्षा की। पहले ये पुस्तके अनिवार्य रूप से विद्यार्थियो को पढाई जाती थी पर अब इनका कोई पता ही नहीं रहा। थियासोफिकल सोसाइटी ने इन्हे पुन प्रकाशित कर जीवित रखा नही तो ये लुप्त हो गयी होती।

हिन्दू यूनिवर्सिटी मे यह भी देखा गया कि कुछ ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर का भेद भी होने लगा। पिता जी जन्मना ब्राह्मण नहीं थे और ये ही सनातन धर्म की शिक्षा हिन्दू कालेज मे दिया करते थे। मालवीय जी को यह बात पसन्द नही आयी। जहाँ हिन्दू कालेज द्वारा समय की गति से दोषो से आवृत सनातन धर्म को एक सुन्दर और परिष्कृत समयानुकूल रूप मे प्रसारित करने का प्रयत्न हो रहा था, वहाँ विश्वविद्यालय मे उसने रूढ़िवाद का रूप ले लिया। पडित मदनमोहन मालवीय ने अपने मित्र और ब्रिटिश शासन के विश्वासपात्र और उससे सम्मानित प्रयाग के प्रसिद्ध वकील सर सुन्दरलाल को विश्वविद्यालय का मन्त्री बनाया। विश्वविद्यालय की कार्य-प्रणाली आदि के सम्बन्ध मे सर सुन्दरलाल और पिताजी से सार्वजनिक रूप से कुछ वाद-विवाद भी हुआ था। जो कुछ हो, हिन्दू यूनिवर्सिटी की कोर्ट की पहली बैठक मे ही हिन्दू विश्वविद्यालय के कार्यो से पिताजी ने अपना असन्तोष प्रकट किया था। पंडित मालवीय जी के ऊपर उसका कोई प्रभाव नही पडा। थोड़े ही दिनो मे दोनो मे पूर्णरूप से पार्थक्य हो गया।

पिताजी प्रकृत्या उन्ही लोगो के साथ काम कर सकते थे जिनके साथ उनकी सहमति होती थी। जब उनकी राय अन्यो से नहीं मिलती थी तो वे शान्तिपूर्वक पृथक् हो जाते थे और ऐसे समुदायो में तो वे जाते ही नही थे जिनमें मैतक्य की सम्भावना नही होती थी।

छठा अध्याय

राजनीति में

पिताजी को राजनीति मे कभी भी रस नही था । वे राजनीतिक पुरुष कभी भी नहीं कहलाये जा सकते थे। पर वे उन लोगो मे नही थे जो राजनीति अथवा राजनीतिक पुरुषो के विरुद्ध कहें; जैसाकि अधिकतर लोग करते है, जो राजनीति से कोई सम्बन्ध नही रखते । मुझे स्मरण है कि एक बार वे ऐसे लोगो की बहुत प्रशसा कर रहे थे जो राजनीतिक क्षेत्र मे काम करते हैं । उनका कहना था कि ये लोग खतरा उठाते है और जन-समुदाय को अपनी ओर आकृष्ट कर उनको प्रभावित करते हैं । इस कारण वे आदर के पात्र है । यह चर्चा उनके सक्रिय रूप से राजनीति में आने के बहुत पहले की है, जब यह विचार भी नही किया जा सकता था कि वे कभी राजनीति से कोई सम्पर्क रखेगे ।

मुझे स्वय राजनीतिक विषयों में बहुत थोड़ी अवस्था में रस आ गया था । हमारे घर पर काफी बड़ा पुस्तकालय था जिसकी पुस्तको का सग्रह मेरे पिता और उनके बड़े भाई श्री गोविन्ददास ने बड़े प्रेम और परिश्रम से किया था । इसमें बहुत सी राजनीति की पुस्तके भी थी । श्री गोविन्ददास को राजनीति मे रस भी था । मुझे स्मरण है कि राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रारम्भिक वर्षों के विवरण इसमे थे जिन्हें मैंने बड़ी छोटी अवस्था में पढा । दादा भाई नौरोजी, विलियम डिग्बी, सर हेनरी काटन आदि की पुस्तको के पढने का भी मुझे अवसर मिला । मेरे ताऊ जी जन्म से ही श्वास रोग से पीडित रहते थे । इस कारण वे तीव्र सार्वजनिक भावनाओ से प्रेरित होते हुए भी सीमित क्षेत्रों मे ही काम कर सकने थे । पर पुस्तकों के पढ़ने रहने का उन्हें बहुत शौक था । विविध विषयों की उन्हे जानकारी थी और उनकी धारणा-शक्ति भी अपूर्व थी ।

पिताजी और उनके भाई की परस्पर की एक वार्ता मुझे याद आ रही है । पिताजी ने यह कहा था कि दादा भाई नौरोजी का यह कहना ठीक नही हो सकता कि भारतीयो की औसत आमदनी केवल ३० रु० (तीस रुपये) वार्षिक है । पीछे इन आँकडों का समर्थन वायसराय लार्ड कर्जन ने भी किया था । आज यह विश्वास करना कठिन होगा कि बीसवी शताब्दी के आरम्भ में हमारी आय केवल इतनी ही थी । आज के आँकडों के हिसाब से तो इसकी सोलह गुनी है पर आज भोजन और अन्य आवश्यक वस्तुओं का मूल्य इतना अधिक हो गया है और रुपये की

क्रय शक्ति इतनी कम है कि इन आँकड़ों से कोई सन्तोष नही हो सकता। जहाँ तक मैं समझ पाया पिता जी इसके विरुद्ध नही थे कि राजनीतिक शक्ति के रूप मे अंग्रेजो का भारत से सम्बन्ध रहे। आंग्ल-भारतीय राष्ट्रमण्डल (इण्डो-ब्रिटिश कॉमनवेल्थ) का जो आदर्श श्रीमती एनी बेसेंट का था, उनके वे समर्थक थे। आज राष्ट्रमण्डल अथवा कॉमनवेल्थ शब्द बहुत प्रचलित हो गया है किन्तु सम्भवतः श्रीमती एनी बेसेंट ने ही इसका प्रयोग प्रथम बार इस सन्दर्भ में किया था।

पिताजी का ऐसा विचार मालूम पडता था कि भारतीयों और अंग्रेजों का श्रेणी दर श्रेणी सम्पर्क रहे। जो अंग्रेज भारत मे शासक के रूप में आते थे, वे उच्च अथवा उच्च मध्यवृत्ति की श्रेणियो के होते थे, और पिताजी चाहते थे कि वे भारत की इन्हीं श्रेणियो से विशेष मित्रता करके यहीं बने रहें। सर हेनरी लवेट नामक काशी के एक कमिश्नर ने पिताजी से एक अवसर पर कहा था—

'मैं जानता हूँ कि आप हम सबको १०० वर्ष मे भगा देंगे।'

वास्तव मे इस वार्तालाप के १०० नही उसके आधे अर्थात् पचास वर्षो मे ही अंग्रेजों का शासन भारत से उठ गया। उस समय पिताजी का कमिश्नर को यही उत्तर था 'कोई कारण नही कि आप यहाँ सदा के लिए क्यों न बने रहें। शर्त यह है कि आपका व्यवहार अच्छा हो।'

अंग्रेजो का यह दावा था कि भारत के जन-साधारण उन्हे पसन्द करते हैं उनके शासन और न्याय-प्रियता से वे सन्तुष्ट है। केवल थोडे से अंग्रेजी पढे-लिखे लोग ही राजनीतिक सुधार या स्वराज्य की माँग उठाये हुए हैं क्योकि उनकी अनुचित, व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति नही हो सकती। इसमे सन्देह नही कि बहुत से अंग्रेज देश के दरिद्रो से सहानुभूति रखते थे और उनके कष्टो और आवश्यकताओं को समझते थे। इनके दु खो को तो दूर करने के लिये उन्होने कुछ अधिक नही किया पर उन पर दया वे अवश्य करते थे। अंग्रेजी पढ़े लोग उनसे बराबरी करना चाहते थे जो उन्हें बुरा लगता था। गरीब स्त्री-पुरुषो को वे पसन्द करते थे क्योकि ये उनका बडा सम्मान करते थे। जिस अंग्रेजी शिक्षा का उन्होने देश मे प्रचार किया उससे अपने शासन के निम्न स्तरों के लिये उन्हें पर्याप्त सख्या में राजभक्त सहायक मिले। साथ ही उन्हे यहाँ की भाषाओ को सीखने का इसी कारण कष्ट नही करना पडा। पर जो अंग्रेजी पढे-लिखे भारतीय, अंग्रेजो के ही लाये हुये स्वतन्त्र व्यवसायों मे गये, विशेषकर वकील लोग, अपने गौरव की मान्यता के लिये उत्सुक थे। अंग्रेजी साहित्य से प्रेरित होकर वे अपने देश और देशवासियों का पद ऊँचा करना चाहते थे। ये लोग राजनीतिक आन्दोलनकारी हो गये। अंग्रेज उन्हें और उनकी कार्यवाहियों को पसन्द नही करते थे। इस कारण उन पर बदनीयती का आरोप लगाते थे। हमारे ऐसे देश मे जहाँ अनन्त जातियाँ और सम्प्रदाय हैं अंग्रेजी शासको के लिये यह सरल बात थी कि अपने स्थायित्व के उद्देश्य से वे एक वर्ग से दूसरे को लडाते रहे। कुछ दिनो तक तो यह चाल सफल रही किन्तु आगे अपना पाला भूत अपने को ही खा गया

पिताजी का व्यक्तिगत सम्बन्ध अग्रेज राज्याधिकारियो से सद्भावपूर्ण था। स्थानीय अधिकारी उनका बहुत सम्मान करते थे। सफाई के साथ उनसे देश की समस्याओ पर वार्तालाप करते थे और उनकी विलक्षण बुद्धि तथा विस्तृत ज्ञान का बडा आदर करते थे। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल सर जेम्स मेस्टन ने देश की स्थिति पर बाते करते हुए पिताजी से कहा—'ये ब्राह्मण लोग हमें खा जायेंगे।' स्पष्ट है कि ब्राह्मणो के प्रति द्वेष अग्रेजो के मन में भी था। इस अवसर पर पिताजी को भारत के पुरातन सामाजिक सघटन अथवा वर्ण व्यवस्था को समझाने का अच्छा मौका मिला और उन्होंने मेस्टन साहब को बतलाया कि जाति भेद नैसर्गिक रूप से ससार भर में, सारे मनुष्य समाज मे व्याप्त है। केवल हिन्दू लोग ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त नहीं है, पर ऐसा विभाजन सभी देशो के लोगो मे किया जा सकता है, और वास्तव मे मौजूद है। उन्होंने मेस्टन साहब से कहा, 'आप शासक हैं इस कारण क्षत्रिय हैं।' इस पर वे बडे प्रसन्न हुए।

इस घटना से स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के प्रति द्वेष-भाव दक्षिण भारत की ब्राह्मणेतर जातियों तक ही सीमित नही है। यह दुर्भावना अग्रेजो को भी सताती थी और सम्भव है कि जिस प्रकार वे हिन्दू-मुस्लिमो मे परस्पर की कटुता फैलाते थे वैसे ही ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतरो में भी करना चाहते थे। यह भी सम्भव है कि जानते हुए कि पिताजी ब्राह्मण नहीं थे—और ये अग्रेज शासक सब बातों की बडी जानकारी रखते थे—उन्होंने समझा हो कि पिताजी उत्तेजित हो जायेगे और उनका समर्थन करेंगे। मैंने सुना है कि किसी जिले के अग्रेज कलेक्टर से कोई मुसलमान सज्जन मिलने गये। वहाँ पर हिन्दुओं और मुसलमानो मे बड़ा मेल था। इन कलेक्टर साहब ने अपने मिलने वाले सज्जन से कहा—'मैं बहुत जिलो मे हो आया हूँ किन्तु मुसलमानो को जितना दबा हुआ यहाँ पाता हूँ उतना कही नही पाया है।' मुसलमान सज्जन उनके फन्दे में आ गये, और अपने मित्रों में कहते फिरे कि—बडा अच्छा कलेक्टर आया है। हम मुसलमानो से बडी सहानुभूति रखता है। वास्तव मे हमारा पद यहाँ बहुत नीचा है। हमको उठने का प्रयत्न करना चाहिए। सयोग की बात है कि—इसके बाद हिन्दू-मुसलमानो का सम्बन्ध वहाँ शिथिल होता गया और दगों तक की नौबत आ गयी।

यद्यपि आज अग्रेज भारत के शासक नहीं हैं, पर वे जो साम्प्रदायिक दुर्भावना उत्पन्न कर गये, वह हमें आज भी सता रही है। उसी के कारण देश का विभाजन हुआ। मुसलमानों के लिए एक पृथक् राज्य की स्थापना हुई तब भी यह कटुता नही गयी और आज भी हमारे समाज मे विष की तरह फैली हुई है।

पिताजी हिन्दू-मुस्लिम एकता के बहुत बडे पोषक और समर्थक थे। वे हिन्दू और मुसलमान में कोई अन्तर नहीं मानते थे। हमारे घर की परम्परा ही यह थी कि मुसलमानो से बड़ी मैत्री रहे। मेरे दादा जी के निकटतम मित्रों मे कई मुसलमान रहे जिनको उनके पुत्र चाचाजी कहकर पुकारा करते थे मौलवियों और

हकीमो का बराबर हमारे यहाँ जाना-आना रहा। हिन्दू और मुस्लिमो के परस्पर के मनोमालिन्य से पिताजी को मार्मिक दुःख होता था। साम्प्रदायिक दगों में वे अपने प्राणों को खतरे मे डालकर उनके शमन के लिए जाते थे। सन् १९३१ के कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दगो की जाँच के लिए जो समिति कांग्रेस ने निर्धारित की थी, उसके ये अध्यक्ष थे। बडे परिश्रम से और कानपुर में बहुत दिनो तक रहकर उन्होंने विवरण तैयार किया जो उस समय की ब्रिटिश गवर्मेंट ने जब्त कर लिया। यह वास्तव मे इस विषम समस्या और उसके निराकरण पर अच्छी रोशनी डालना है। पिताजी को देश के विभाजन से बडी चोट लगी, और हर प्रकार से मुसलमानो को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न होने पर भी जब ऐसा हुआ, तो मैंने देखा कि यद्यपि प्रकाश्य रूप से उन्होने नही कहा, पर उनके मन मे भी कुछ विकार आ ही गया था।

स्मरण रहे कि पिताजी ने संसार के विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, मजहबों का बडी तत्परता से अध्ययन किया था, और इस विषय पर उन्होंने एक बृहत् ग्रन्थ लिखा है जिसके सम्बन्ध में एक प्रकाशक ने कहा कि 'संसार भर मे ऐसा दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है।' इसमे उन्होंने दिखलाया है कि सब धर्म मौलिक रूप से एक ही बात बतलाते है, अपने अनुयायियो को एक ही लक्ष्य पर ले जाते हैं, और सब धर्मो के उपदेशकों और प्रवर्तकों का एक ही भाव रहा है। उनके विचार मे धर्म के नाम पर तो झगडा हो ही नहीं सकता। इसका बहाना लेकर स्वार्थ सिद्ध करने के लिये लोग दूसरों से झगडते हैं।

पिताजी स्वयं अपना प्रभाव साम्प्रदायिक शान्ति और एकता के लिये ही डालते थे और उनके सद्भावो और सदुद्योगों का आदर सभी करते थे। उनके कितने ही मुस्लिम मित्र थे जो बराबर उनसे मिलने आते थे और उन्ही की तरह बढती हुई साम्प्रदायिक कटुता पर दुःख प्रकट करते थे। अंग्रेजों के प्रति भी इनका मैत्रीभाव था। थियासॉफिकल सोसाइटी और हिन्दू कालेज के कारण कितनों से ही इनका निकट सम्पर्क रहा। इनका यही विचार था कि श्रेणी दर श्रेणी, वर्ग दर वर्ग, सबकी परस्पर की मैत्री होनी चाहिए, और उदारता और सद्भाव के साथ मिलकर सभी लोग देश और देशवासियों की सेवा कर सकते हैं।

यद्यपि सक्रिय राजनीति में उन्हें कोई रस नही था पर अन्य देशों मे गये हुये भारतीयों के कष्टों की कहानी सुनकर उन्हे भी मार्मिक कष्ट होता था। उन्हे इस बात का दुःख रहा कि दरिद्रता के कारण हमारे कितने ही भाइयों को जीविकोपार्जन करने के लिए भारत के बाहर जाना पड़ा, और अन्य लोगों की तरह उन्हें भी इस बात पर क्रोध आता था कि हमारे जिन भारतीय भाइयों ने अंग्रेजों को अपने उपनिवेशो को समृद्ध और वैभवशाली बनाने मे सहायता दी है, उन्ही के साथ अब दुर्व्यवहार किया जाय। स्पष्ट था कि यह इसलिए होता था कि अब उनकी आवश्यकता उनके पूर्व-स्वामियों को नही रह गयी थी।

जो विदेश चले गये या ब्रिटिश उपनिवेशों में विविध प्रकार के

शारीरिक श्रम के कार्यों के लिये ले जाये गये, उनका और विशेषकर उनकी सन्ततियो का सम्पर्क अपने देश से बिल्कुल छूट जाता था। उनको अपना देश अवश्य ही याद आता था और मैं स्वयं जानता हूँ कितने ही अपने पुराने सम्बन्धियो से सम्पर्क स्थापित करने के लिए आये, किन्तु वे स्वयं नही जानते थे कि वे कहाँ के और किस जाति के हैं। इस कारण अपने घर का पता नही पा सके और वापस चले गये। जो लोग पता लगा पाते भी थे उनके साथ अच्छा व्यवहार नही किया जाता था। उनका पैसा लेने के लिये सब लोग उद्यत रहते थे। पर उनको अपनाने के लिये तैयार नही थे। ऐसी अवस्था में कष्ट पाते और अपमानित होते हुए भी वे अपने नये देश मे वापस चला जाना पसन्द करते थे।

जो कुछ हो, हमारे भारतीय नेताओ को तो इस बात का कष्ट था ही कि हमारे भाई जिन्होंने अग्रेजो के उपनिवेशो को समृद्ध करने में इतनी सहायता की, उन्हे वहाँ साधारण नागरिकों का पद नही दिया जा रहा है, और वे हर प्रकार का कष्ट पा रहे हैं। अवश्य ही उनके हितों की रक्षा होनी चाहिए और उनको अनुचित रूप से दिये जाने वाले कष्टों का निवारण होना चाहिए। उन दिनो मे हम अपना कर्तव्य और अधिकार समझते थे कि हम अपने ऐसे देशवासियो का पक्ष ले जो इन उपनिवेशो मे बस गये हैं। उन्हे अपना भाई और देशवासी माने चाहे वे कितनी ही पीढी से क्यो न विदेशो में बसे हो।

स्वराज्य की प्राप्ति के बाद यह एक आश्चर्यजनक दृश्य देख पडा और देख पड रहा है कि अपने भाइयों के लिए कुछ कहने का अधिकार ही अब नही है। जिन ब्रिटिश उपनिवेशो को पहिले विवश होकर हमारी बात को सुनना पडता था, वे अब कहते हैं कि इस सम्बन्ध में हम कुछ नही बोल सकते। वे इन लोगों को अपनी प्रजा मानते हैं, और कहते हैं कि उन्हे अधिकार है कि जिस तरह चाहें इनके साथ व्यवहार करे। वे बडे रोष मे इनसे कहते है कि अगर आपको यहाँ रहना पसन्द नही है तो जिसे आप अपना देश समझते हैं वहाँ चले जाइए। प्रवासी भारतीयो के सम्बन्ध में जानकारी रखने वाले मेरे मित्र श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने एक बार मुझसे कहा था कि 'हमारे लोग पृथ्वी के कोने-कोने मे बसे हुए हैं और स्वतन्त्र होते ही हमे बना बनाया साम्राज्य मिल जायगा।' पर बात उल्टी ही हुई। जब हम वास्तव मे स्वतन्त्र हुए तब हमको अपने प्रवासी भाइयो के सम्बन्ध मे कुछ कहने, करने का हक ही नही रह गया।

श्री हेनरी पोलक जिन्होने महात्मा गाँधी के साथ दक्षिण अफ्रीका में बडा काम किया था, और भारतीयो की सेवा मे जिन्हें दक्षिण अफ्रीका मे हथकडी बडी पहननी पडी थी, सन् १९०९ मे या उसके आस-पास काशी आये हुए थे। दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन के समर्थन मे सार्वजनिक सभा हुई थी जिसकी अध्यक्षता श्रीमती एनी बेसेंट ने की थी। पिताजी इस सभा मे मौजूद थे। पोलक साहब काशी कई बार आते रहे वे भी ये भारत के आन्दोलन के वे

समर्थक थे और कई भारतीय नेताओ से इनकी निकट, व्यक्तिगत मैत्री थी। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयो की दयनीय स्थिति के सम्बन्ध में पिताजी से बात कर उन्होंने इस समस्या पर इनका ध्यान आकर्षित किया और इस सम्बन्ध की एक सार्वजनिक सभा की अध्यक्षता पिताजी ने की थी।

पिताजी सक्रिय रूप से राजनीति में प्रथम बार सन् १९१७ मे आये जब श्रीमती एनी बेसेंट नजरबन्द की गई। उनकी नजरबन्दी के विरोध में काशी के टाउनहाल मे सार्वजनिक सभा हुई जिसके अध्यक्ष पिताजी थे। उस समय प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) बडे जोरो से चल रहा था। जापानी अपने फौजी जहाज बगाल की खाडी तक ले आये थे। उधर यूरोप में जर्मनी की विजय होती जा रही थी। अग्रेजों की स्थिति खराब थी। इसी समय श्रीमती एनी बेसेंट ने भारत की राजनीति मे प्रवेश किया। उन्होने अपने दैनिक पत्र 'न्यू इण्डिया' और साप्ताहिक 'कामनवील' नामक प्रभावशाली पत्रो और साथ ही साथ अपने जोशीले भाषणो से भारत के स्वराज्य के लिए भीषण आन्दोलन करना आरम्भ किया। उनका कहना था कि इग्लैण्ड की कठिनाई भारत के लिए अच्छा अवसर है ('इग्लैण्ड्ज डिफिकल्टी इज इण्डियाज आपरच्युनिटी)।'

उधर हमारे राजनीतिक नेतागण असमजस के पड गये थे क्योकि नाना प्रकार के राजनीतिक सुधारो की अभिलाषा रखते हुए भी, इङ्गलैण्ड की मुसीबत के समय अपनी माँगे उपस्थित करने मे सकोच कर रहे थे। श्रीमती एनी बेसेंट ने नई जागृति उत्पन्न कर दी। जब एक विद्वान अग्रेज महिला को इस प्रकार बोलते लिखते हमारे नेताओं ने देखा तो उन्हें भी अपना आन्दोलन जारी रखने का साहस हुआ। चारों तरफ श्रीमती एनी बेसेंट की प्रशसा होने लगी। जहाँ अग्रेजी पढे-लिखे लोगो तक ही उनकी ख्याति थी, वहाँ अब जनसाधारण मे उनका नाम फैल गया। अवश्य ही अग्रेज शासकों को यह बहुत बुरा लगा कि उन्ही के देश की कोई स्त्री इस प्रकार से उनके विरुद्ध आन्दोलन करे, विशेषकर जब उनका देश सकट मे पडा हुआ था। सन् १९१६ की लखनऊ की काग्रेस का इन्हे अध्यक्ष बनाने का बहुत से लोगो ने प्रस्ताव किया पर उसके अध्यक्ष श्री अम्बिकाचरण मजूमदार हुए। उस कांग्रेस की विशेष बात यह थी कि वहाँ पर काग्रेस और मुस्लिम लीग मे समझौता हुआ कि वे साथ मिलकर स्वराज्य के लिए प्रयत्न करेगे और देश के शासन प्रबन्ध मे मुसलमानो के लिए विशेष स्थान सुरक्षित किये जायेंगे। श्रीमती एनी बेसेंट ने इस वार्ता मे भाग लिया और मुसलमानों के साथ उदारता का व्यवहार करने पर बहुत जोर दिया। लोकमान्य तिलक बहुत दिनो बाद काग्रेस में फिर आये और लखनऊ के सत्र मे सम्मिलित हुए।

श्रीमती एनी बेसेंट का आन्दोलन दिन-प्रतिदिन जोर पकडता गया और सन् १९१७ के अगस्त मास में वे नजरबन्द कर दी गयी। उनके छुडाने के लिए बडा तीव्र देशव्यापी आन्दोलन हुआ इङ्गलैण्ड में भी उनकी इतनी प्रसिद्धि थी कि उनको

मुक्त करने के लिए ब्रिटिश शासन पर वहाँ के लोगों ने भी बडा जोर दिया। तीन महीने मे ही वे छोड दी गयीं और उसके बाद दिसम्बर मे कलकत्ता में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जो वार्षिक अधिवेशन हुआ उसकी वे अध्यक्ष निर्वाचित हुई। इन्ही के आन्दोलन का यह परिणाम हुआ था कि भारत सचिव श्री माण्टेग्यू भारत आये और यहाँ की स्थिति का अन्वेषण कर उन्होने कई राजनीतिक सुधारो की योजना अपने विवरण मे दी।

श्रीमती एनी बेसेंट की नजरबन्दी के विरोध मे काशी की सभा में अध्यक्ष पद से पिताजी ने बडा कडा भाषण किया जो समाचार पत्रो में विस्तार से प्रकाशित हुआ और जिस पर देश के कितने ही लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। राजशास्त्र पर यह एक प्रकार का विद्वत्तापूर्ण निबन्ध था। उनका कहना था कि स्वराज्य की माँग कर हमारे देशवासी अपनी खोई हुई आत्मा की खोज मे निकले हैं। पिताजी कांग्रेस के बहुत कम वार्षिक अधिवेशनो मे गये पर १९१७ वाले अधिवेशन में जब श्रीमती एनी बेसेंट अध्यक्ष थीं वे मौजूद थे। वे स्वयं मुरादाबाद के सन् १९२० के उत्तर प्रदेश के राजनीतिक सम्मेलन में सभापति हुए थे। सन् १९२१ मे ब्रिटिश युवराज प्रिन्स ऑफ वेल्स के बहिष्कार का जो आन्दोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे हुआ था (दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद गाँधी जी का यह प्रथम सार्वदेशिक आन्दोलन था) उसमें पिताजी को एक वर्ष के कारावास की सजा मिली थी।

पिताजी के सभी राजनीतिक लेखों और भाषणों मे दार्शनिक और आध्यात्मिक भावो का समावेश रहता था। वे इस बात को प्रमाणित करने की अभिलाषा करते थे कि हम भारतीय भी स्वतन्त्रता-प्रिय हैं। कहीं बाहर मे यह भावना हमे नही मिली है। अग्रेजों के सम्पर्क और अग्रेजी शिक्षा से हमें स्वतन्त्र होने की अभिलाषा हुई है यह कहना ठीक नही है। परन्तु उनका कहना था कि हमारे लिए स्वतन्त्रता का अर्थ आत्मा की स्वतन्त्रता है जो इस समय विदेशी शासन के कारण बन्धन में पड गयी है। पर स्वराज्य की प्राप्ति पर उसने जो रूप लिया उससे वे असन्तुष्ट थे। उन्हे इसका दुःख था कि जीवन के भौतिक अग पर ही जोर दिया जा रहा है, आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की चर्चा न कर केवल आर्थिक स्वतन्त्रता की चर्चा की जाती है तथा साम्प्रदायिक कलह और नाना प्रकार का द्वेष और मनोमालिन्य ही देख पडता है। उन्हें इससे विशेष कष्ट होता था कि हमारे नये शासकगण लौकिकवाद (सेक्युलरिज्म) पर जोर दे रहे हैं और शिक्षा-संस्थाओ में धार्मिक शिक्षा की मनाही कर दी गई है।

भारत की स्वतन्त्रता के रूप को देखते हुए उसकी प्राप्ति के बाद वे ११ वर्षो तक जीवित रहे पर उससे वे जरा भी प्रसन्न नही थे। भारत शासन ने अपने राष्ट्रपति के हाथ उन्हें अपने सर्वोच्च अलकार 'भारतरत्न' से विभूषित किया। पर जिस रूप से शासन चल रहा था उसके वे समर्थक नहीं थे। घोर मतभेद होते हुए भी वे उच्च से उच्च शासनाधिकारियो से बराबर सम्मान प्राप्त करते रहे और

'भारतरत्न' का अलंकार प्राप्त कर उन्हें अवश्य प्रसन्नता और सन्तोष हुआ होगा जैसा हम सब कुटुम्बीजनों और मित्रो को भी हुआ कि भारत शासन ने उनकी सेवाओं को स्मरण रखा और उनका उचित सत्कार किया।

सातवाँ अध्याय

'स्वराज्य की रूपरेखा'

महात्मा गाँधी के काशी में प्रथम आगमन के समय (अर्थात् सन् १९१६ मे हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर) से ही पिताजी का और उनका सम्पर्क हो गया। महात्मा गाँधी के त्याग और तपस्या को देखकर, जिन गुणों का पिताजी को अत्यधिक आदर था, और यह भी देखते हुए कि वे कितने लोकप्रिय हैं, कितने साहसी हैं, और किस प्रकार से लोगों पर अपना प्रभाव डाल कर अपनी तरफ उन्हें प्रवृत्त कर सकते हैं अवश्य ही पिताजी उनकी तरफ आकर्षित हुए। पिताजी के प्रगाढ पाण्डित्य की प्रसिद्धि गाँधी जी के कानों तक पहुँच चुकी थी और वे उनका आरम्भ से ही बडा सम्मान करने लगे थे।

कुछ ऐसा संयोग हुआ कि देश मे लगातार भीषण घटनाएँ घटती चली गयी। सन् १९१८ मे प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ। अग्रेज और उनके मित्र राष्ट्र विजयी हुए। संसार मे इङ्गलैण्ड का उच्च स्थान बना रहा। भारत मे उनका सिक्का जमा था। इधर महात्मा गाँधी का प्रभाव बढता गया और वे देश के सामने नये प्रकार से आन्दोलन चलाने की योजना उपस्थित करने लगे। भारत मे अग्रेज शासकों को अजब पागलपन सवार हुआ और देश के दमन के लिए बडे कडे कानून बनाये जाने लगे जिसमें रौलट ऐक्ट विशेष रूप से कुप्रसिद्ध है। पजाब में, जहाँ के लोगों ने ही महायुद्ध मे अग्रेजों का सबसे अधिक साथ दिया था, विशेष रूप से दमन का चक्र चला। महात्मा गाँधी ने अपनी योजना देश के सामने रखी। आरम्भ मे ही उन्होंने कहा कि लोगों को चर्खा चलाकर सूत पर्याप्त मात्रा मे कातना चाहिए जिसे बुनकर कपड़ा तैयार किया जा सके और ऐसे कपड़ो का ही सबको प्रयोग करना चाहिए। महात्मा गाँधी जी ने अहमदाबाद के पास साबरमती नदी के निकट आश्रम स्थापित किया और धीरे-धीरे वहाँ पर उनके विचारो से सहमत लोग एकत्र होने लगे। महात्मा जी दूसरों को ऐसी बात करने को नहीं कहते थे जो पहले स्वय नही कर लेते थे। उन्होंने अपने साबरमती आश्रम मे पहले अपना रचनात्मक कार्यक्रम तैयार किया। इसमे खादी, हिन्दू-मुस्लिम एकता, राष्ट्रीय शिक्षा और नशाबन्दी का आयोजन था। जब पजाब मे दमन-चक्र आरम्भ हुआ तो उन्होंने अपने आन्दोलन का विरोधात्मक अग भी प्रस्तुत करना आरम्भ किया जिसे असहयोग आन्दोलन

का नाम दिया गया । इसके प्रधान कार्यक्रम मे सरकारी शिक्षा संस्थाओ, उपाधियो, न्यायालयो, कौंसिलो और नौकरियो का बहिष्कार था ।

अप्रैल सन् १९१९ मे जलयान वाला बाग का भीषण हत्याकाड अमृतसर मे हुआ, जहाँ एक सार्वजनिक सभा मे एकत्र नर-नारी और बालको पर अंग्रेज जनरल डायर ने गोली बरसायी । यह मैदान चारों तरफ दीवारो से घिरा था और आने जाने का जो एकमात्र सकरा सा रास्ता था वही रास्ता रोककर मशीन गनें चलायी गयी जो तब तक चलायी जाती रही जब तक कि गोलियाँ समाप्त नही हो गयी । उस स्थान से बाहर निकलने का कोई दूसरा रास्ता नही था । सैकडों निर्दोष और निरीह व्यक्ति मारे गये । मार्शल-लॉ की घोषणा के बाद अमृतसर के नागरिको का हर प्रकार से घोर अपमान किया गया । उस हत्याकाड की जाँच के लिए कांग्रेस की ओर से समिति नियुक्त हुई और महात्मा जी के अतिरिक्त पण्डित मोती लाल नेहरू, श्री चितरन्जन दास, पण्डित मदन मोहन मालवीय, ऐसे दिग्गज उसके सदस्य रहे । इस समिति के विवरण पर हस्ताक्षर काशी में श्री शिवप्रसाद गुप्त के निवास स्थान पर हुए । जलयान वाला बाग हत्याकाड के विरोध मे काशी नगर मे हड़ताल हुई और टाउनहाल मे विराट सभा का जो आयोजन हुआ था उसके सभापति पिताजी थे । जलयान वाला स्मारक कोष के लिए काशी से पर्याप्त धनराशि एकत्र हुई थी । उसी साल अमृतसर मे अखिल भारतीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन पण्डित मोती लाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ । इसके कारण नियमानुसार वे साल भर कांग्रेस के अध्यक्ष रहे । १९२० के जून मास मे देश की बढती हुई गम्भीर स्थिति पर विचार करने के लिए काशी मे अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक हुई जिसमे लोकमान्य बालगगाधर तिलक, देशबन्धु चितरन्जन दास, लाला लाजपतराय, पण्डित मोतीलाल नेहरू, पण्डित मदन मोहन मालवीय आदि दिग्गज राष्ट्रनायक एकत्र हुए थे ।

इस बैठक की कथा रोचक है और सम्भवत. उल्लेखनीय है । उन दिनो पण्डित मोतीलाल और श्री चितरन्जन दास बिहार के डमराव राज्य सम्बन्धी मुकदमे मे एक-दूसरे के विरुद्ध पैरवी कर रहे थे । किसी कारण पण्डित मोतीलाल नेहरू उन दिनों काशी के एक होटल मे रहकर इस मुकदमे के सम्बन्ध का अपना कानूनी कार्य करते थे । किसी कारण उन्हे यहाँ से काम करने मे सुविधा प्रतीत हुई थी । मुझे मालूम भी नही था कि पण्डित नेहरू काशी मे है । एक दिन ये यकायक मेरे मकान पर आये और उन्होने मुझ से कहा कि 'सर्व भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक करनी जरूरी है । मुझे और चितरन्जन दास को बडी सुविधा होगी यदि यह बैठक काशी मे हो । क्या तुम उसका प्रबन्ध कर सकोगे ।' मैंने फौरन ही उसका प्रबन्ध करना स्वीकार कर लिया ।

मैंने सोचा कि हिन्दू कालेज मे इस समय गर्मी की छुट्टी है और वहाँ सब छात्रावास और भवन खाली पडे हुए है, उनमे सरलता से लोगों के ठहरने का और समिति की बैठकों का प्रबन्ध हो पुराने दिनो में सोसाइटी

के अधिवेशन यही होते थे और प्रतिनिधियों के ठहरने के लिए यही सुविधा से प्रबन्ध भी हो जाता था। मुझे स्वप्न में भी विचार नही हो सकता था कि कालेज के तत्कालीन सर्वाधिकारी पण्डित मदनमोहन मालवीय को कालेज का भवन इस काम के लिए देने में कोई आपत्ति होगी। पर जब मैंने उनसे इस सम्बन्ध मे अनुमति माँगी तो उन्होंने मेरी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। मुझे बडा आश्चर्य और दुःख भी हुआ और मुझे चिन्ता हुई कि जिस काम को मैंने उठा लिया है वह कैसे होगा। मैंने पिताजी को स्थिति बतलायी। उन्होंने कहा कि 'थियासोफिकल सोसाइटी के भवन में सम्भवतः बैठक करने की अनुमति मिल जायगी और यहाँ यह बडी सुविधा से हो सकेगी। हाँ, सदस्यो को ठहराने के लिए प्रबन्ध करना होगा।' उन्होंने कृपा कर थियासोफिकल सोसाइटी की भारतीय शाखा के तत्कालीन सेक्रेटरी श्री पूर्णेंदुनारायण सिह को पटना में तार दिया और उनकी अनुमति मिल गयी।

बैठक आवश्यक थी क्योकि शासन की तरफ से घोषित किया गया था कि आगामी दिसम्बर मे नये विधान मण्डलो के लिए साधारण निर्वाचन होगा। भारत मन्त्री श्री माण्टेग्यू के १९१७ के दौरे के बाद राजनीतिक सुधारों के सम्बन्ध मे उनका विवरण प्रकाशित हो चुका था और उसी के अनुकूल विधान मण्डलो का विस्तार किया गया था। हमारे राष्ट्र नेताओ के सामने प्रश्न यह था कि इनके निर्वाचनो मे भाग लिया जाय या नही, क्योंकि माण्टेग्यू साहब की यात्रा के बाद के दमन से, और जलयान वाला बाग के हत्याकाड से देश मे बहुत क्षोभ फैला हुआ था। कांग्रेस को अपनी राजनीतिक कार्यवाही स्थिर करना बहुत आवश्यक था। दिसम्बर मास के पहले कांग्रेस का विशेष अधिवेशन भी आमन्त्रित करना बहुत आवश्यक था क्योंकि जब परम्परानुसार दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह मे कांग्रेस का साधारण अधिवेशन होता तो उसके पहले निर्वाचन हो चुके होते, और उनके निर्णय करने का कोई अर्थ न होता। अवश्य ही ऐसी बैठक के लिए देश के कोने-कोने से नेतागण आये और उनके ठहराने की समस्या किसी प्रकार से हल की गयी। बैठक थियासोफिकल सोसाइटी के भवन मे पण्डित मोती लाल नेहरू की अध्यक्षता मे हुई। पिताजी के ही सक्रिय सहायक होने के कारण यह बैठक सकुशलता और सुव्यवस्थित रूप से हो सकी।

इस सम्बन्ध से पण्डित मोतीलाल नेहरू और पिताजी के परस्पर के सम्पर्क के बारे मे एक घटना का उल्लेख कर देने से सम्भवतः पिताजी के आन्तरिक आत्म-सम्मान के भाव को समझने में सहायता मिले। पण्डित मोतीलाल जी के अपने घर पर आने के बाद पिताजी ने मुझ से कहा कि 'मुझे आश्चर्य होता कि ये कैसे यहाँ पर आये। ये तो बडे घमण्डी पुरुष है।' उन्होंने करीब पच्चीस वर्ष पहले की कहानी सुनायी। उस समय पिताजी प्रयाग मे डिप्टी कलेक्टर थे। वहाँ पर थियासोफिकल सोसाइटी के साथी सदस्य होने के नाते सरकारी शिक्षा विभाग के अधिकारी श्री ज्ञानेन्द्र नाथ चक्रवर्ती से पिताजी की मैत्री थी। एक दिन सायकाल दोनो सज्जन साथ घूमने गये। जब गाडी पण्डित मोती लाल नेहरू के निवास स्थान 'आनन्द भवन' के

सामने आयी तो चक्रवर्ती साहब ने पिता जी से कहा—'चलो मोतीलाल जी से मिल आवें,' और गाडी बगले मे गयी।

बिना किसी प्रसग के बातचीत करते हुए पण्डित मोतीलाल जी ने जो उस समय तक नामी वकील हो चुके थे, पिताजी से कहा—'डिप्टी साहब आपने बडी मेहरबानी की कि आप मुझ से मिलने आये, पर ऐसा न समझियेगा कि इसके कारण मैं आपसे भी मिलने आऊँगा।' अंग्रेजी में उनके शब्द थे 'रिटर्न विजिट पे' करूँगा। पिताजी ने उत्तर दिया—'वकील साहब, मैं तो आप से मिलने ही नहीं आया। चक्रवर्ती साहब आये है और मैं उनके साथ हूँ।'

मुझे इसके पहिले इस घटना का कोई पता नही था। पर मैं यह जरूर जानता था कि जब ये श्रीमती एनी बेसेन्ट के साथ प्रयाग जाते थे और श्रीमती जी पण्डित मोतीलाल के यहाँ ठहरती थीं क्योंकि दोनो मे अच्छी मैत्री थी, तो पिताजी वहाँ नही जाते थे। प्रयाग रेलवे स्टेशन और आनन्द भवन के बीच मेरे मौसा जी श्री बालेश्वर प्रसाद का मकान था। पिताजी वहीं उतर जाते थे, यद्यपि श्रीमती बेसेन्ट उनमे आग्रह करती थीं कि 'आप भी पण्डित मोतीलाल के यहाँ चलिए।'

मुझे ऐसा मालूम पडता है कि उस समय की पण्डित मोतीलाल की बाते उन्हे बहुत बुरी लगी थी और उन्होने निश्चय कर लिया था कि जब तक वे मेरे यहाँ नही आते तब तक मैं उनके यहाँ नहीं जाऊँगा। यह मेरा अनुमान है। पिताजी से कभी पूछा नहीं पर यह जानता हूँ कि इसके बाद पिताजी पण्डित मोतीलाल के निमन्त्रण पर कई बार उनके यहाँ गये और ठहरे, उनकी बड़ी पुत्री विजयालक्ष्मी जी के विवाह मे भी सम्मिलित हुए। पण्डित मोतीलाल जी भी कई बार मेरे यहाँ 'सेवाश्रम' मे ठहरे। उनके पुत्र जवाहरलाल जी और अन्य कुटुम्बीजन तो बराबर ही ठहरते रहे। बड़े से बड़े लोगो को छोटी सी बात कितनी लग जाती है यह इसका एक उदाहरण समझा जा सकता है। परस्पर के व्यवहार के सम्बन्ध मे सदा सचेत रहने की शिक्षा इससे मिलती है।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है पिताजी का राजनीति से सक्रिय सम्पर्क श्रीमती एनी बेसेण्ट की नजरबन्दी के समय सन् १९१७ से हुआ और वह बढ़ता ही गया। श्रीमती एनी बेसेन्ट के होमरूल लीग के भी ये सदस्य थे। इस प्रकार से हिन्दू कालेज और थियासोफिकल सोसाइटी से इनके निकट सम्पर्क के कारण दूर-दूर से बड़े प्रतिष्ठित सज्जन हमारे यहाँ अतिथि होते थे उसी प्रकार राजनीति मे प्रवीण सज्जन भी अब आने लगे। उनका आतिथ्य पिताजी पुरानी परम्परा के अनुसार करते थे। सबसे ही इनका सद्भावपूर्ण सम्बन्ध हुआ। सभी इनका आदर करते थे और उनको इस बात की प्रसन्नता होती थी कि ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् और विचारक राजनीतिक क्षेत्र मे आये। सभी उनको उच्चतम स्थान देने के लिये उद्यत रहे पर पिताजी के जो निश्चित सिद्धान्त थे वे उनसे हटने को तैयार ही नही थे और वे अपने विचार सबके सामने स्पष्ट रूप से प्रकट करते थे। अधिकतर लोग इन विचारों को अव्यवहार्य और

दार्शनिक कल्पना मात्र समझते थे। इस कारण वास्तव मे सक्रिय राजनीति पर उनका अधिक प्रभाव नही पड सका।

उन्होने अपने को महात्मा गाँधी के कार्यक्रम और कांग्रेस की सेवा मे कितना लगा दिया था, वह इससे ही सिद्ध हो सकता है कि तिलक स्वराज्य कोष के लिए एक करोड रुपये की धनराशि और एक करोड़ कांग्रेस सदस्यों की माँग की थी उसमे पिताजी ने पूर्ण सहयोग दिये। और जहाँ तक मुझे याद पडता है अपने प्रदेश मे सबसे अधिक धन काशी में एकत्र हुआ। पिताजी ने स्वयं और अपने कुटुम्ब की ओर से पर्याप्त धन इस कोष मे दिया। घर-घर जाकर भी जनता से धन एकत्र किया। दूसरी बात यह भी उल्लेखनीय है कि सन् १९२१ से लेकर वे बराबर खादी के ही वस्त्र पहनते रहे। जीवन के अन्त तक उनका यही नियम रहा। उनकी तरफ से सूत कातने का काम मेरी माता करती रही। उन्होंने स्वय अपने हाथ मे कभी चर्खा नही चलाया।

दिसम्बर १९२० की नागपुर कांग्रेस के बाद कांग्रेस का नेतृत्व और धीरे-धीरे देश के सारे जीवन का ही नेतृत्व गाँधी जी के हाथो में आया। सन् १९१९ के दिसम्बर की अमृतसर की कांग्रेस से लेकर दिसम्बर १९२० की कांग्रेस तक महात्मा जी अपना कार्यक्रम निर्धारित करते हुये प्रतीत होते हैं। मुझे स्मरण है कि सन् १९२० के आरम्भिक दिनो मे बम्बई मे सर्व-भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक हुई थी। पण्डित मोतीलाल जी अध्यक्ष थे। अन्य उपस्थित सज्जनों में मुझे लोकमान्य तिलक के अनन्य अनुयायी श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर तथा काशी के श्री शिव प्रसाद गुप्त याद आते हैं। १०–१२ सदस्यों से अधिक उसमे उपस्थित नहीं थे। महात्मा जी ने अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया। एक तो खादी का प्रचार था दूसरा राष्ट्रीय शिक्षा। घर-घर चरखे का पुनरुद्धार कर खादी का वे प्रचार करना चाहते थे, साथ ही वे सरकारी शिक्षा सस्थाओं का बहिष्कार कर राष्ट्रीय विद्यालयो की स्थापना पर जोर दे रहे थे।

मुझे याद है मैंने उनसे पूछा कि जब विदेशों से वस्त्र ही नही नाना प्रकार की अन्य वस्तुएँ भी आती है, तो आप विदेशी वस्त्रो के ही निष्कासन पर जोर क्यों देते है। उन्होने उत्तर दिया कि यदि तुम आँकड़ो को देखोगे तो पाओगे कि ६० करोड का विदेशी वस्त्र हमारे देश मे आता है। कोई अन्य वस्तु इतना धन देश से नही ले जाती। इस कारण इसी से कार्यारम्भ करना उचित होगा। राष्ट्रीय शिक्षा का कोई निरुपण नही किया गया था। इस कारण मेरा यह प्रस्ताव स्वीकार हुआ कि इस समय ऐसी सब शिक्षा संस्थाएँ राष्ट्रीय मानी जायेंगी जो गवर्नमेन्ट से सहायता नही पाती या लेतीं और न उसका नियन्त्रण मानती हैं। धीरे-धीरे महात्मा गाँधी ने अपना और कार्यक्रम देश के सामने उपस्थित करना शुरू किया। इसमे विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता-निवारण, नशाबन्दी, सरकारी विधान मण्डलों, अदालतो, उपाधियो और नौकरियों का बहिष्कार धीरे-धीरे सम्मिलित होता गया।

सन् १९२० की ग्रीष्मऋतु में जो काशी में सर्वभारत कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई उसका विस्तृत विवरण मैं दे चुका हूँ। महात्मा गाँधी के बढते हुए प्रभाव और उनकी लोकप्रियता ही के कारण छ महीने के भीतर कांग्रेस का महत्त्व अत्यधिक बढ गया और उसमे इतने दिग्गज सम्मिलित हुए।

सितम्बर १९२० मे कलकत्ता मे कॉंग्रेस का विशेष अधिवेशन करने का निश्चय हुआ। लोकमान्य बाल गगाधर तिलक उसके अध्यक्ष होने वाले थे पर १ अगस्त को उनकी मृत्यु हो गयी और लाला लाजपतराय ने उस अधिवेशन की अध्यक्षता की। उसमे महात्मा गाँधी जी के कार्यक्रम की तरफ ही अधिकतर लोगो का रुझान रहा और विधान मण्डलो के दिसम्बर १९२० मे होने वाले निर्वाचन का बहिष्कार करने का निश्चय किया गया। तदनुसार उनका बहिष्कार हुआ। विधान मण्डलो (कौसिलो) में कांग्रेस-विरोधी सज्जन सरलता से पहुँच गये। उनकी वहाँ की कार्यवाहियो से बहुत से कांग्रेसजनों को दुःख ही हुआ क्योंकि उनका विचार था कि यदि हम वहाँ आते तो गवर्नमेन्ट के कार्यो पर कुछ रोक-टोक कर सकते। जो कुछ हो निर्वाचन के बाद दिसम्बर के अन्त में कॉंग्रेस का जो अधिवेशन नागपुर मे हुआ उसमे महात्मा गाँधी के कार्यक्रम का पूर्ण रूप से समर्थन किया गया। उसके अध्यक्ष श्री विजयराघवाचारियर ने विह्वल होकर कहा हमारा सरकार से कहना है कि अमुक काम करो और महात्मा गाँधी से कहना है कि अमुक काम मत करो।

इस कांग्रेस के सत्र के बाद महात्मा गाँधी जी का देश के राजनीतिक जीवन के नेतृत्व मे सर्वोच्च स्थान हो गया और उन्ही की बात मानी जाने लगी। उनकी लोकप्रियता इतनी हो गयी कि जहाँ भी जाते थे अपार भीड उमड पडती थी। 'महात्मा गाँधी की जय' के नारे चारों तरफ लगने लगे। जो कांग्रेस के पुराने नेता-गण इनसे सहमत नही थे इससे पृथक् हो गये।

कांग्रेस ने तो महात्मा जी के कार्यक्रम को मान ही लिया था और उसे कार्यान्वित करने के लिये कांग्रेस जन उद्यत हुए। राष्ट्रीय विद्यालयो की स्थापना आरम्भ हुई। बनारस (वाराणसी) मे काशी विद्यापीठ, अलीगढ़ में जामिया मिल्लिया पूना में महाराष्ट्र विद्यापीठ, लाहौर मे कौमी विद्यापीठ, अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ, पटना मे बिहार विद्यापीठ की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त कितने ही राष्ट्रीय विद्यालय देश के कोने-कोने में स्थापित हुए। पिताजी का काशी विद्यापीठ से विशेष सम्बन्ध था इस कारण उसकी कथा कह देना उचित होगा।

इसके सस्थापक काशी के विशिष्ट नागरिक, देशभक्त, दानवीर श्री शिवप्रसाद गुप्त थे। उन्होने सन् १९१४–१५ मे संसार के विभिन्न देशों की यात्रा की थी। जापान मे उन्होंने एक विश्वविद्यालय देखा जो स्वतन्त्र रूप से काम करता था। न वह शासन से कोई सहायता लेता था न उसके ऊपर शासन का किसी प्रकार का नियन्त्रण था। यहाँ की शिक्षा इतनी उत्तम थी कि देश में इसके स्नातकों की बडी माँग थी। श्री शिवप्रसाद के ऊपर इसका बडा प्रभाव पडा। तभी उनके मन मे

आया कि ऐसी संस्था भारत मे भी होनी चाहिए। अपने मन मे उन्होने यह भी दृढ निश्चय किया कि यथासम्भव वे इसकी स्थापना मे सहायक होंगे। १९१६ मे वे भारत लौटे। पण्डित मदन मोहन मालवीय जी मे उनको बड़ी श्रद्धा और भक्ति थी और उन्होने मालवीय जी की सहायता हिन्दू विश्वविद्यालय के कार्य में करना आरम्भ किया। उनको सम्भवत: ऐसा विचार हुआ कि हिन्दू विश्वविद्यालय ही उनके आदर्श की पूर्ति कर सकेगा पर शासन से विश्वविद्यालय का बहुत सम्पर्क होने के कारण उनकी इधर रुचि नही रह गयी। पर उनके मन मे स्वतन्त्र शिक्षालय की कल्पना बनी रही।

सन् १९२० की काग्रेस मे वे नागपुर गये थे और जब राष्ट्रीय शिक्षालयो की चर्चा इतने जोर से हुई तब उन्होने महात्मा गाँधी से वहाँ मिलकर काशी मे विद्यापीठ स्थापित करने की बात चलायी। उनके आग्रह पर महात्मा जी ने पिताजी को पत्र लिखा कि काशी में राष्ट्रीय विद्यालय खोलने का समय आ गया है, और शिवप्रसाद जी उस सम्बन्ध में आपसे बात करेंगे। पिताजी को समुचित शिक्षा से प्रेम तो सदा ही रहा। शासन से स्वतन्त्र शिक्षा के पक्ष मे वे भी रहे। उसी आदर्श पर उन्होने हिन्दू कालेज का पोषण किया था। उसके विकसित हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप से अप्रसन्न होकर उससे वे पृथक् हो चुके थे। व्यक्तिगत रूप से उन्हे शिवप्रसाद जी के लिये बडा प्रेम और आदर था। उन्होंने काशी विद्यापीठ की स्थापना मे पूर्ण रूप से सहयोग करने का वचन दिया। जल्दी मे इसके लिये काशी के भदैनी मुहल्ले मे कुछ पुराने भवन निश्चित किये गये और १० फरवरी १९२१ को महात्मा गाँधी जी ने आकर काशी विद्यापीठ का शुभारम्भ किया।

उस समय अन्य नेताओ मे पण्डित मोतीलाल नेहरू, मौलाना अबुलकलाम आजाद, मौलाना मुहम्मदअली, श्री जवाहरलाल नेहरू आदि सम्मिलित हुए थे। जनसाधारण की अपार भीड थी। वातावरण मे बडा जोश फैला हुआ था। उस समय ग्रामीण जनो के बडे लोकप्रिय नेता बाबा रामचन्द्र की वही गिरफ्तारी भी हुई थी। शिवप्रसाद जी ने इसके लिये दस लाख की सम्पत्ति दी। उनके एक छोटे भाई हरप्रसाद जी की मृत्यु छोटी अवस्था में हो गयी थी। मिताक्षरा विधि के अनुसार पैतृक सम्पत्ति का आधा भाग उन्हे मिलता। उनके नाम से हरप्रसाद शिक्षा निधि स्थापित कर उसे भाई का हिस्सा सुपुर्द कर दिया और आदेश दिया कि इसकी ६० हजार रुपये साल की आय विद्यापीठ को दी जाया करे।

पिताजी ही विद्यापीठ के अध्यक्ष थे और नियमित रीति से यहाँ अध्यापन का कार्य भी करते थे। यहीं आचार्य नरेन्द्रदेव जी अध्यापक होकर आये। श्री जीवतराम भगवानदास कृपलानी भी आरम्भ मे अध्यापन का कार्य करते थे पर थोड़े ही दिनों बाद वे गुजरात विद्यापीठ में आचार्य अर्थात् प्रधानाध्यापक होकर चले गये। काशी में वे श्री गाँधी आश्रम नाम की संस्था स्थापित करते गये जिसके द्वारा खादी का काम विस्तृत रूप से हुआ दो वर्षों के बाद विद्यापीठ वहाँ से उठकर बनारस

छावनी स्टेशन के पास किराये के मकान में आया। जहाँ और जमीन खरीदकर उसके निज के भवन बनाये गये और विद्यापीठ का काम सुचारु रूप से चलने लगा। गाँधी आश्रम का भी काम उसी के भवन से होता रहा। पिताजी सन् १९३० तक अध्यापन का कार्य करते रहे। इसके कुलपति तो वे १६ अगस्त १९४० तक रहे। इस कार्य में उनके सहयोगियों में आचार्य नरेन्द्र देव, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री बीरबलसिंह, श्री रामशरण श्री यज्ञ नरायन उपाध्याय, श्री प्रेमचन्द्र, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री आदि थे। यहाँ के उनके शिष्यों में श्री लालबहादुर, श्री बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर, श्री त्रिभुवन नारायणसिंह, श्री कमलापति त्रिपाठी ने स्वाधीनता संग्राम में और स्वराज्य प्राप्ति के बाद राजकाज में अच्छी ख्याति पाई। इन्हीं के शिष्यों में श्री राजाराम जी भी थे जो पीछे विद्यापीठ के उपकुलपति हुए। विद्यापीठ का स्वराज्य संग्राम में बहुत बड़ा हाथ रहा। उसके अध्यापक, कार्यकर्ता और विद्यार्थी सभी उसमें सम्मिलित होते थे और कारावास का दण्ड भोगते थे। सरकार इसमें अपना तालाबन्द कर देती थी और इसे गैर कानूनी संस्था घोषित कर देती थी।

इस १९२१ के वर्ष में महात्मा गाँधी जी का स्वराज्य के लिये आन्दोलन तीव्र होता गया। ऐसा कहा जाने लगा कि वर्ष के अन्त तक स्वराज्य मिल जायगा। तिलक स्वराज्य कोष के लिये एक करोड रुपया इकट्ठा किया गया और एक करोड नर-नारियों ने महात्मा गाँधी की पुकार सुन कांग्रेस की सदस्यता स्वीकार की थी। इसी साल ब्रिटिश राजघराने के ड्यूक ऑफ कनाट आये, जिनके स्वागत का बहिष्कार गाँधी जी के आदेशानुसार किया गया। वर्ष के अन्त तक ब्रिटिश राजकुमार प्रिंस ऑफ वेल्स भी भारत आये जिनका बहिष्कार बड़े जोरों से हुआ। इस प्रसंग में देश के सभी बड़े-बड़े नेतागण पण्डित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चितरंजनदास, लाला लाजपतराय आदि की गिरफ्तारी हुई और वे भिन्न-भिन्न जेलों में रखे गये। राजकुमार के देश से वापस जाते-जाते महात्मा गाँधी की भी गिरफ्तारी हो गयी। औरों को तो छः-छः महीने, साल-साल भर की सजा दी गयी परन्तु महात्मा गाँधी को छः वर्षों के लिए जेल भेज दिया गया। पिताजी को एक वर्ष के लिये भेजा गया। इनकी गिरफ्तारी के विरुद्ध विशेष आन्दोलन हुआ और वे दो ही महीनों में छोड दिये गये। इसमें उनके मन में बडी ग्लानि हुई क्योंकि और सब साथी जेल में ही पडे थे। जेल से ये घर नहीं आये और पूरे वर्ष को कारावास का समय मानकर वे काशी विद्यापीठ भवन में रहने लगे और करीब एक साल वहीं बिताया।

सन् १९२२ के मार्च के महीने में जब ब्रिटिश राजकुमार का भारत का दौरा समाप्त हो रहा था तब महात्मा गाँधी पकडे गये और सन् १९२२ में अधिकतर नेतागण जेल में रहे। देशबन्धु चितरञ्जनदास अगस्त महीने के करीब छोड़े गये तब कलकत्ता में सर्व भारत कांग्रेस समिति की बैठक हुई। इसमें पिताजी भी सम्मिलित हुए थे बडा जोश रहा प्रधान प्रश्न यह था कि विधान मण्डलों में जाया जाय या

नही ? दूसरे साल अर्थात् सन् १९२३ मे फिर साधारण निर्वाचन होने वाला था। उसी वर्ष दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन देशबन्धु चितरन्जन दास की अध्यक्षता मे गया में हुआ। यह बहुत लम्बा सत्र था। इसमे पिताजी सम्मिलित हुए थे। इसमे प्रतिनिधियो मे अधिक जोश था। इसके सामने दो मामले विशेषकर थे। एक तो विधान मण्डलों में जाने के सम्बन्ध मे निर्णय करना आवश्यक था क्योकि कांग्रेस के आगामी सत्र तक अर्थात् दिसम्बर १९२२ तक नया निर्वाचन हो जाने वाला था। महात्मा गाँधी इस समय जेल में थे और उनके अनन्य अनुयायी श्री राजगोपालाचार्य, श्री वल्लभभाई पटेल, श्री जमनालाल बजाज, पण्डित सुन्दरलाल आदि दिन-रात फाल्गु नदी के किनारे भाषण देते रहे। कांग्रेस प्रतिनिधियो को प्रेरित करते रहे कि गाँधी जी के बताये हुए मार्ग पर चलना चाहिए और जनसाधारण को भी उसी तरह बने रहने के लिये उत्साहित करते थे।

दूसरा प्रश्न कांग्रेस के सामने खिलाफत का जोरों से आ गया था। कुछ दिन पहले से यह उठा था। देश के मुसलमान बहुत उत्तेजित हो रहे थे कि पैगम्बर मुहम्मद साहब के बाद से ही स्थापित खिलाफत प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप उखड रहा था और परम्परागत खलीफो का धार्मिक और लौकिक शासन खतरे मे पड गया था। महात्मा गाँधी ने खिलाफत के स्थायित्व का पक्ष लिया जिससे मुसलमान बहुत प्रसन्न हुए और बडी सख्या मे कांग्रेस में आये। गया की कांग्रेस मे मौलानाओ का बडा जोर था और हर बात मे उनसे सलाह ली जाती थी और उन्ही की राय मानी भी जाती थी। यद्यपि पिताजी मुसलमानो और इस्लाम धर्म से काफी सहानुभूति रखते थे पर इस प्रकार से कांग्रेस ऐसी राजनीतिक सस्था को विदेशो की धार्मिक समस्याओ मे पडने से सशक थे।

मुझे स्मरण आता है कि लाला लाजपतराय ने जो उस समय जेल मे थे गुप्त रूप से अध्यक्ष के पास पत्र भेजा था जिसमें उन्होने इस प्रकार से खिलाफत के प्रश्न को उठाने और मौलानाओ के अधीन कांग्रेस को कर देने का विरोध किया था। दो-दो बजे रात तक विषय निर्वाचिनी समिति की जो कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति भी थी, बैठके होती रही। लोग थक-थक जाते थे पर इतना जोश था कि बैठे रहते थे। खिलाफत सम्बन्धी मसलों पर विषय निर्वाचिनी समिति द्वारा मत निर्णय करने के लिए कांग्रेस दिन भर के लिये स्थगित हो जाती थी। इसी कारण साधारण ३ या ४ दिनों के बदले ७-८ दिन तक यह सत्र चलता रहा। इससे स्वागत समिति के अध्यक्ष श्री राजेन्द्रप्रसाद जी हैरान हो गये और कांग्रेस के अधिवेशन का सारा प्रबन्ध ही गड़बड होने लगा। कांग्रेसजन परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी अर्थात् विधान मण्डल में जाने के पक्ष और विपक्ष दो दलो मे विभक्त हो गये। अधिकतर मत अपरिवर्तनवादियो की तरफ रहा। क्रुद्ध और दुखी होकर अध्यक्ष देशबन्धुदास ने कहा कि 'मैं अपने पद से इस्तीफा देता हूँ।'

देशो के खिलाफत तोड़ने के प्रस्ताव का विरोध किया ।

गया कांग्रेस के बाद ही पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चितरजनदास, हकीम अजमल खाँ, श्री विट्ठलभाई पटेल के नेतृत्व मे कांग्रेस खिलाफत स्वराज्य पार्टी बनी जो पीछे थोड़े मे स्वराज्य पार्टी के नाम से ही जानी गयी । उसके द्वारा देश मे विधान मण्डलो में जाने के पक्ष मे काफी आन्दोलन हुआ ।

परिणामस्वरूप छ महीने के बाद दिल्ली मे काग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ जिसमे यह निर्णय हुआ कि काग्रेसजनों को स्वतन्त्र रूप से विधान मण्डल मे जाने की अनुमति दी जाती है। इसके कारण स्वराज्य पार्टी के तत्वाधान मे दिसम्बर १९२३ के निर्वाचनों मे कांग्रेसजन खडे हुए और उनकी पर्याप्त जीत भी हुई ।

गया कांग्रेस के बाद देशबन्धु चितरंजनदास विश्राम के लिये काशी आये और बहुत दिनों तक श्री शिवप्रसाद गुप्त के गंगाजी के तट पर विशाल निवास स्थान 'सेवा उद्यान' में अपनी पत्नी और साथियो के साथ अतिथि रहे । इनसे पिताजी प्रति दिन वहाँ पर मिलते रहे । जब से पिताजी कांग्रेस में आये तब से ही उनको इस बात की चिन्ता हुई कि स्वराज्य की परिभाषा होनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे महात्मा गाँधी जी से बराबर पत्र-व्यवहार करते रहे और जब-जब महात्मा गाँधी जी काशी आये तब तब उनसे इस सम्बन्ध मे वार्तालाप भी किया ।

अवश्य ही पिताजी के मन मे यह धारणा तो थी कि देश की जैसी स्थिति है और ब्रिटिश शासन का जैसा उग्र भाव है उसमें एक न एक दिन स्वराज्य तो होगा ही । महात्मा गाँधी जी के त्याग और तपस्या, सत्यनिष्ठा और लोकप्रियता को देख कर अवश्य ही उनकी यह धारणा हुई कि ये कुछ कर जायेंगे । साथ ही यह तो स्पष्ट था ही कि कोई देश किसी दूसरे देश पर अनन्त काल तक राज्य नही कर सकता । अधीन देश अपने को स्वतन्त्र तो करेगा ही । पिताजी को भय था कि जब हम स्वतन्त्र होंगे और स्वराज्य का रूप-रंग पहले से न समझे रहेंगे तो भारी आन्तरिक पारस्परिक संघर्ष उठ खडा होगा जिससे कि संकट का सामना करना पड जायगा ।

महात्माजी इस विचार का समर्थन नहीं करते थे। जैसा मैं पहले ही लिख चुका हूँ कार्डिनल न्यूमैन की उक्ति 'वन स्टेप एनफ फार मी' का वे बार-बार उद्धरण करते थे। पिताजी का उत्तर था कि यद्यपि पैर के लिये एक पग पर्याप्त है परन्तु आँख को तो १०० पग पहिले से देख लेना आवश्यक है । बहुत बहस के बाद महात्माजी ने एक प्रकार से अपना अन्तिम मत यह प्रकट किया कि मुझे कोई अधिकार नही है कि आगे की पीढियों को मैं इस सम्बन्ध मे अपनी राय से बाँध दूं । उनका कहना था कि समय की गति के अनुसार आने वाले लोग जैसा उचित समझेंगे करेंगे । पिताजी को इस पर बड़ी ग्लानि हुई । इस मत को उन्होने देश के भविष्य के लिये भयावह समझा । वे काग्रेस से पृथक् हो गये । पर इससे पहले उनको काशी मे देशबन्धु चितरजनदास से विचार विमर्श करने का पर्याप्त अवसर मिला था उसका उन्होंने पूर्ण रूप से उपयोग किया देशबन्धु f

बहुत बडे वकील होते हुए भी दार्शनिक प्रवृत्ति के थे। बगाल के भक्तिमार्ग से उनका बहुत सम्बन्ध था। पिताजी की बातें उन्हें पसन्द आयी और दोनों ने मिलकर स्वराज्य की योजना तैयार की जो पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित हुई। अंग्रेजी मे इसका नाम 'आउट लाइन स्कीम आफ स्वराज्य' और हिन्दी मे इसका नाम 'स्वराज्य की रूप-रेखा' था।

थोड़े मे पिताजी की यह राय थी कि सारी शासन शक्ति किसी एक स्थान पर केन्द्रीभूत नही होनी चाहिए और गाँव से नगर, जिला, प्रान्त सबमे पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त पचायतें होनी चाहिएँ। सर्व भारतीय केन्द्रीय शासन को सबके निरीक्षण का और आवश्यकता पडने पर नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिए। उन्होंने सबसे अधिक जोर निर्वाचन की पद्धति पर दिया था। पुरुष निर्वाचक को २५ वर्ष और स्त्री निर्वाचक को २१ वर्ष से कम न होना चाहिए। निर्वाचित को ४० वर्ष की उम्र से कम नही होना चाहिए और इनकी योग्यताओं का बहुत ख्याल रखना चाहिए। उन्हें शिक्षित और लोकसेवी होना चाहिए। उन्हे ऐसा होना चाहिए जो स्वार्थ पर नही लोकहित पर ध्यान देते हैं। उन्हें अपने लिये किसी प्रकार की पैरवी नही करनी चाहिए। निर्वाचकों के आग्रह पर उन्हें खडा होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्वाचक तो कोई भी हो सकता है पर निर्वाचितो की योग्यता बहुत बडी होनी चाहिए। निम्नतम पंचायतें तो सभी २५ वर्ष के पुरुष और २१ वर्ष की स्त्रियो द्वारा निर्वाचित होनी चाहिये पर इसके बाद अप्रत्यक्ष निर्वाचन का प्रबन्ध होना चाहिए। ग्राम पंचायतों के सदस्य जिला पचायतो को चुने, जिला पचायतें प्रान्तीय पचायतों को चुने और प्रान्तीय पचायतें सर्व-देशीय पचायत को चुने। लोक हित पर विशेष ध्यान दिया जाय और शिक्षा, मनोविनोद और रक्षा का प्रबन्ध हो। व्यापार और उद्योग को प्रोत्साहित किया जाय और व्यक्तिगत धनोपार्जन की सुविधा हो। अनुचित और समाज-विरोधी कार्यवाहियों पर रुकावट रहे। पिताजी का ख्याल था कि अच्छे ही लोग अच्छा कानून बना सकते हैं। जो लोग ससार से लिप्त है वे यदि विधान मण्डलों में जायेंगे तो स्वार्थवश वे अपने ही हित का अधिनियम बनायेंगे, लोकहित का विचार न करेंगे।

निर्वाचनो मे जो अत्यधिक व्यय होता है वह इसके विरुद्ध थे। निर्वाचन मे प्रत्याशियों के अपने लिए मत माँगने के वे घोर विरोधी थे। स्वराज्य के बाद जो दुर्दशा देश पर पड रही है उससे पिताजी के विचारों का समर्थन होता है। स्वराज्य की परिभाषा न होने के कारण सभी लोग अपने को गाँधीवादी कहते है और परस्पर विरोधी भाव प्रदर्शित करते हैं। स्वराज्य का भिन्न-भिन्न अर्थ करते है। सभी लोग पैसे के मद मे पड गये हैं और किसी को भी ठीक रास्ता नही दीख पडता। देश सकट मे पडा हुआ प्रतीत होता है और उसके नेताओं की विचार शैलियों और कार्य प्रणालियों मे इतना भयकर मतभेद है।

पिताजी के इन विचारो के मे कुछ विवेचना करना है

जब कोई मनुष्य किसी काम के लिये अत्यधिक धन व्यय करता है और अन्य लोगो के सामने प्रत्याशी के रूप में जाता है तो दूसरो का यह विचार करना स्वाभाविक है कि यह किसी स्वार्थ सिद्धि के लिये हमारे पास आया है और इतना अधिक व्यय करने के लिये तैयार हुआ है। मैं स्वय अपने अनुभव के आधार पर इसे कह रहा हूँ। मे सन् १९२६ में केन्द्रीय विधान सभा के लिये खडा हुआ था। निर्वाचन-क्षेत्र बहुत लम्बा-चौडा था। उसके अन्तर्गत एक नगरी के एक मुहल्ले मे मैं पहुँचा जहाँ कुछ प्रभावशाली सम्पन्न लोग रहते थे। मैंने जब एक वयोवृद्ध सज्जन से अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं निर्वाचन में खडा हूँ और आपका मत लेने आया हूँ तब उन्होने स्पष्ट पूछा कि आप क्यो खडे हुए हैं। मैंने उत्तर दिया कि मै काग्रेस की तरफ से खडा हूँ और स्वराज्य की आकांक्षा करता हूँ। मेरा ऐसा विचार है कि काग्रेस के द्वारा ही हमे स्वराज्य मिल सकता है।

इस पर वे सज्जन बोले 'वाह साहब, आपने भी खूब कहा। क्या कोई बिना मतलब के इतना धन व्यय करता है और दौडता फिरता है।' मैं चुपचाप उठ कर चला आया और मैंने अनुभव किया कि साधारण जन को यह समझाना कठिन है कि बिना स्वार्थ के किसी आदर्श की प्राप्ति मात्र के लिये कोई किसी प्रकार का कष्ट उठाने के लिये तैयार हो सकता है। मैंने इस घटना के बाद पूर्ण रूप से अनुभव किया कि पिताजी का यह विचार सर्वथा उपयुक्त है कि यदि हम अपने लिए निर्वाचन मे चेष्टा करेगे और उसके लिए अपने पास का धन लगायेगे तो चाहे हमारा उद्देश्य कितना ही शुद्ध क्यो न हो, कोई यह मानने को नहीं तैयार होगा कि हम लोकहित की दृष्टि से काम कर रहे है। जब हम बडे आग्रह के साथ अपने लिए कुछ मांगते है चाहे वह विधान मण्डल का मत ही क्यो न हो, तो दूसरों के लिए यह विचार करना अनुचित नही समझा जा सकता कि इसमे हमारा कुछ स्वार्थ जरूर होगा।

पिताजी ऐसा कहते थे कि लोकसेवा नि स्वार्थ भाव और परहित की ही दृष्टि से करनी चाहिए। यदि कोई हमारी सेवा चाहता है और समझता है कि मैं उसे कर सकता हूँ और हमे अपने विश्वास का पात्र मानता है और कार्य विशेष के लिये योग्य समझता है तो उसे मेरे पास स्वय आना चाहिए और कहना चाहिए कि आप जनहित के लिए यह भार उठाइए और निर्वाचन के लिए हमे स्वयं नही दूसरो को ही यत्न करना चाहिए। यह बड़ा उच्च आदर्श हो सकता है पर सिद्धान्तत भी यह ठीक है। प्राय. यह शिकायत सुनने में आती है कि निर्वाचनों मे बहुत घूस दी गयी। घूस तो स्वार्थ सिद्धि के लिए ही दी जा सकती है। यह तो शका बहुत साधारण है कि कितने ही निर्वाचितगण अनुचित रूप से अपने पद का लाभ उठाते है, अपना घर भरते हैं, और निर्वाचन मे जितना व्यय किये हुए रहते है उससे अधिक बना लेते है। ऐसी अवस्था मे निर्वाचक और निर्वाचित सस्थाएं सभी बदनाम हो जाती है।

पिताजी के इस विचार से सहमत होना कठिन प्रतीत होता है कि अच्छे लोग

ही अच्छा कानून बना सकते हैं। ऐसा देखा गया है कि अच्छे लोग बुराई की तरफ इतनी तीव्र दृष्टि रखते हैं कि जिन्हें वे बुरा समझते हैं उन्हे वे बडा कठोर दड देना चाहते हैं और उनके विरुद्ध बहुत कड़ा कानून बनाने के लिए उद्यत हो सकते हैं। जो स्वय खराब है वह मनुष्य की प्रकृति को देखते हुए दूसरों की कमजोरियों को सहानुभूति से देख सकता है और अपनी खराबियो को अनुभव करते हुए और उन्हें दूर करने की अभिलाषा से, दूसरो को उससे बचाने के लिए ऐसा मार्ग निकालने पर प्रवृत्त हो सकता है जिससे उचित सुधार भी हो और किसी के साथ अत्यधिक कठोर व्यवहार न हो। जो कुछ हो पिताजी यही चाहते थे कि अच्छे, सच्चरित्र, सुयोग्य, परोपकारी व्यक्ति ही विधान मण्डलों में जायँ और इन्हे जन-साधारण अपने प्रेम से विवश कर वहाँ भेजे जिससे वास्तव मे लोकहित सिद्ध हो।

आठवाँ अध्याय

स्थानीय शासन में सहयोग

महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध मे यह बात विचारणीय है कि यद्यपि उन्होने सरकारी विधान-मण्डलो से असहयोग करने और उसके निर्वाचनो में न खड़े होने का आदेश दिया पर नगरपालिकाओ में प्रवेश करने के वे पक्ष मे थे। इन नगरपालिकाओं को उन दिनो मे म्युनिसपैलिटी कहा जाता था और स्थानीय स्वशासन की ये केन्द्र थी। नगरो और स्थानीय क्षेत्रों की सफाई, सडको, नलों, पानी की कलों, रोशनी, गृह-निर्माण, प्रारम्भिक शिक्षा आदि नगर के निवासियों की सुविधाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति का दायित्व इन्ही पर था। इनका संघटन कानून के ही अनुसार हुआ था और ये हर प्रकार से शासन के अधीन थी तथापि इनके बहुत से अधिकार थे और शासन के कर्मचारियो के विरुद्ध भी खड़े होने का उन्हें मौका था।

अंग्रेज कानून के बडे पाबन्द होते है और यदि उन्हें कोई अनाचार भी करना होता है तो उसकी कानून से पहिले ही पुष्टि करा लेते है। पिताजी कहा करते थे कि जिस प्रकार से हिन्दू अपने ही हाथ मे मिट्टी या गोबर की देव-देवी की मूर्ति बनाता है और उसके सामने हाथ जोड़े भयभीत होकर खडा रहता है, उसी प्रकार अग्रेज अपने ही हाथ कानून बनाते हैं फिर उसके सामने कांपते रहते हैं। मुझे महात्मा गाँधी से कभी इस प्रसग मे बात करने का तो मौका नही मिला परन्तु इसमे सन्देह नही कि जब सन् १९२१–२२ मे असहयोग का आन्दोलन काफी तीव्र रूप से हो रहा था उस समय भी म्युनिसपैलिटियो मे कांग्रेसजनो को जाने की केवल अनुमति ही नही थी वरन् उन्हें इसके लिए प्रोत्साहित भी किया जाता था। मैं स्वय १९२० मे माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड राजनीतिक सुधारों के अनुसार प्रान्तीय कौंसिल (विधान सभा) के लिये खड़ा किया गया था पर विधान मण्डलों के बहिष्कार का निर्णय होने पर हट गया था, किन्तु उसके थोडे ही दिनों बाद जबकि कौंसिलो का बहिष्कार चल ही रहा था, मैं १९२१ के एक उप-निर्वाचन मे बनारस म्युनिसपैलिटी का सदस्य निर्वाचित हुआ था।

अन्य म्युनिसपैलिटियो के साथ-साथ बनारस म्युनिसपैलिटी का कार्यकाल सन् १९२३ के आरम्भ मे समाप्त हुआ था और साधारण निर्वाचन की घोषणा हुई। पडौसी प्रान्त बिहार मे भी ऐसा ही हुआ। सभी स्थानों मे कांग्रेसजन इनके

सदस्यता के लिये खड़े हुए और बड़ी संख्या में निर्वाचित भी हुए। स्वाभाविक था कि वे अपने ही अभीष्ट अध्यक्षों को भी चुने। वही समय था जब पटना मे श्री राजेन्द्रप्रसाद, प्रयाग मे श्री जवाहरलाल नेहरु, कानपुर में डाक्टर मुरारीलाल ऐसे प्रमुख कांग्रेस-जन अपने-अपने नगरों की म्युनिसपैलिटी के अध्यक्षहुए। काशी में जब म्युनिसपैलिटी के नव-निर्वाचित सदस्यगण अध्यक्ष चुनने के लिए एकत्र हुए तो उन्होंने एक मत से निर्णय किया कि पिताजी अध्यक्ष हों और यह भी निर्णय किया कि सब लोग उनके यहाँ चल कर प्रार्थना करे कि वे कृपा कर इस पद का भार स्वीकार करें। इसके बाद सब सदस्यगण उनके यहाँ गये और उनकी तरफ से नव निर्वाचित वयोवृद्ध सदस्य श्री रामचन्द्रनायक कालिया ने इस पद को अर्पण किया। कालिया साहब से पिताजी की पुरानी कौटुम्बिक मैत्री थी। उन्होंने इस प्रसंग मे पिताजी के विद्यार्थी जीवन की याद दिलायी और उस समय से उनकी तीक्ष्णबुद्धि और सहृदयता की चर्चा और प्रशसा की।

पिताजी २ वर्ष और ६ महीने अध्यक्ष रहे। दिसम्बर, १९२५ में दूसरा निर्वाचन हुआ। तब वे पृथक् हो गये। पिताजी निर्वाचित सदस्य नही थे पर नियमानुसार सदस्येतर व्यक्ति भी अध्यक्ष हो सकते थे। उस समय म्युनिसपैलिटी के २१ सदस्य थे। इनके अध्यक्ष होने पर २२ हो गये। अब तो अध्यक्ष को मेयर या नगर-प्रमुख कहते है और निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त विशिष्ट सदस्य भी होते हैं जिन्हें एल्डरमैन कहते हैं। काशी की नगरमहापालिका में अब ६० से अधिक सदस्य हो गये हैं। अब नगरपालिकाएँ भी एक प्रकार से दलबन्दियो का अखाड़ा हो रही हैं और प्राय ऐसा देखा जाता है कि म्युनिसपैलिटियों का नगर और नागरिकों की सेवा का जो काम है उसमें भी राजनीतिक दलगत विचारों का प्रभाव हो गया है।

सन् १९२३ की नगरपालिका का मैं भी सदस्य था जबकि पिताजी उसके अध्यक्ष थे। उसमें अधिकतर कांग्रेसजनों के होने के कारण बाहर से कांग्रेसजन और कांग्रेस समिति आदि विशेष-विशेष काम करने कराने के लिये इन पर जोर देना चाहती थीं। पिताजी अध्यक्ष के पद से म्युनिसिपैल्टी के जो कर्तव्य थे उन्ही के निभाने के लिये सबका ध्यान आकृष्ट किये रहते थे। प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य-कुशलता का उन्होंने अपूर्व उदाहरण उपस्थित किया था और म्युनिसिपैल्टिी के पद का गौरव तो उन्होंने विलक्षण रूप से स्थापित किया। उनके समय उच्च राज्याधिकारियों को मान-पत्र देने की प्रथा तोड़ी गयी और देश के नेताओं का समुचित आदर होता रहा। गैर-कांग्रेसी मुसलमान आदि सभी सदस्य बड़े सम्मान और आदर के साथ पिताजी की बातों को सुनते मानते थे। बड़े शान्त और गरिमापूर्ण वातावरण में नगरपालिका की बैठके हुआ करती थी। सब कर्मचारियो को पूर्ण रूप से विश्वास था कि सब के साथ न्याय होगा और किसी व्यक्ति, जाति या सम्प्रदाय के साथ पक्षपात नही किया जायगा।

उनके समय म्युनिसिपैलिटी की प्रारम्भिक कक्षाओ में तकली, चर्खा आदि की

शिक्षा आरम्भ की गयी। उस समय की नगरपालिका के सदस्य बहुशास्त्र विज्ञ श्री रामदास गौड़ भी थे। इन्होने बड़ी सुन्दर और राष्ट्रीय भावना से पूर्ण बालकोपयोगी पुस्तिकाएँ लिखी थीं जिन्हें म्युनिसिपैलिटी की पाठशालाओ के पाठ्यक्रम मे रखा गया था। इस पर उत्तर प्रदेश अथवा सयुक्त प्रान्त का शासन बहुत रुष्ट हुआ था और कुछ दिनो बाद ये पुस्तके जब्त कर ली गयी थीं। काशी मे अधिकतर प्रसव चमारिने कराती हैं। इनको एकत्र कर पिताजी ने उन्हें म्युनिसिपैलिटी की ओर से कैंची, कटोरा, साबुन आदि दिया था और समझाया था कि सब काम सफाई से करे जिससे जच्चा-बच्चा सुरक्षित रहें।

उन दिनो कितने ही सदस्यों ने बडे परिश्रम से बहुत से कार्यों को सम्भाला और किया जैसा वे पहले नही करते थे। वेतन-भोगी कर्मचारियों को ही सब काम सौप देते थे और सदस्यता मात्र से स्वयं सन्तुष्ट रहते थे, क्योंकि उसके कारण उनका नगर मे एक विशिष्ट पद हो जाता था और उनका प्रभाव बढ जाता था। उस समय सदस्यों को कई प्रकार के कार्य भी सुपुर्द रहते थे। नये मकानो का मूल्यांकन करना, इसके विरुद्ध मकान-मालिकों की अपील सुनना, नये मकान बनवाने के लिए नक्शों पर अनुमति देना, कानीहौद (छूटे पशुओं की रोकथाम के लिए निश्चित स्थान) का निरीक्षण करना। ये सब काम सदस्यगण किया करते थे।

सदस्यो के पास काफी दायित्व का काम था और इस सम्बन्ध में सदस्यो के अनुचित आचरण की शिकायत भी होती थी। खेद से कहना पड़ता है कि जब काफी शक्ति के साथ न्यायोचित कार्यवाहियाँ की गयी और बहुत कुछ पुरानी खराबियाँ बन्द हुई तब यद्यपि सामूहिक रूप से नगर की पर्याप्त उन्नति हुई पर कितने ही सदस्यों से लोग अप्रसन्न हो गये क्योकि इनकी इच्छा की पूर्ति मे बाधा पडी। बडे दुःख की बात है कि कितने ही मकान मालिक निम्न कर्मचारियों को मिलाकर अपने मकान के सामने की सडक या गली के कुछ अंश को घेर लेते हैं और अपने निज के उपयोग के लिये चबूतरा बना लेते है। जब इसकी मनाही हुई और सख्ती से इसकी रोक-टोक की गई तो अवश्य ही कुछ लोग असन्तुष्ट हुए जो अनुचित सुविधा से वंचित किये गये। कुछ स्थानीय समाचार पत्रों में नगरपालिका के सदस्यों पर व्यक्तिगत आक्षेप भी किये गये जो सर्वथा अनुचित और निराधार थे। तथापि मनुष्य होने के नाते इसका प्रभाव सदस्यों पर पड़ा ही और इसके बाद के निर्वाचनो में इस बोर्ड मे प्रायः सभी काँग्रेसी सदस्य नही खडे हुए। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि निर्वाचकगण स्वय ही अच्छे सदस्यों को पसन्द नही करते। ऐसी अवस्था मे पिताजी के ऊँचे विचारों का कार्यान्वित होना असम्भव प्राय लगता है तथापि प्रयत्न तो करते ही रहना होगा ताकि ससार की वास्तविक और सच्ची उन्नति होती रहे।

जिस समय पिताजी की अध्यक्षता में काशी की नगरपालिका का संघटन हुआ था उस समय वह ऋण से दबी हुई थी। उदाहरणार्थ, पानी कल (वाटर वर्क्स) के लिये सन् १८९१ में जितना ऋण लिया गया था उतना सूद में कई बार दिया

जा चुका था पर पुराना ऋण वैसे का वैसा बाकी रह गया था। करों का भारी बकाया पड़ा हुआ था। पुराने सदस्यगण स्वय ही कर नही देते थे और अपने पद के कारण म्युनिसिपैलिटी से कई प्रकार की सेवाएँ प्राप्त करने की अपेक्षा करते थे पिताजी की अध्यक्षता मे सुप्रबन्ध के कारण ऋणों का भार बहुत कम हुआ, बकाया कर वसूल किया गया और म्युनिसिपैलिटी से अनुचित लाभ उठाने की प्रथा भी दूर हुई।

बड़े विद्वान् दार्शनिक होते हुए भी पिताजी बड़े व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे। उनके साथ काम करने वाले सदस्यों और कर्मचारियो को आश्चर्य होता था कि आँकड़ों और स्थितियो से इनका कैसे इतना परिचय था और सब कार्यों को ये कैसे सुचारु रूप से निबाह सकते थे। पिताजी को नगरपालिका के अध्यक्ष अर्थात् नगर-प्रमुख पद को सम्मानित रखने का बड़ा विचार था। प्राय: अध्यक्षगण अपने को स्थानीय शासनाधिकारियो के अधीन मानते थे और दौड़-दौड कर उनके पास आते थे। शायद ही उस समय के अंग्रेज कलेक्टर या कमिश्नर नगरपालिका के अध्यक्षो के यहाँ गये हो। पर पिताजी से ये बराबर मिलने आते थे। उस समय के कलेक्टर श्री जे० एच० डार्विन थे जिन्होंने ही पिताजी को ब्रिटिश युवराज के आगमन के समय के आन्दोलन में एक वर्ष के कारावास का दण्ड दिया था। ये विशेष रूप से पिताजी का सम्मान करते थे और बराबर उनके यहाँ आया करते थे। इनके कार्यकाल के तीनों कमिश्नर श्री ओपिनहाइम, श्री ममफर्ड और श्री स्मिथ भी बराबर आते रहे।

काशी मे बहुत दिनो से यह प्रथा चली आती थी कि चौक के थाने के सामने की नजूल अर्थात् सरकारी जमीन पर शहर के भीतर रहने वालों की गाडिया खडी रखी जा सके। काशी का जो पक्का महाल है उसमें यद्यपि बडे-बड़े और ऊँचे विशाल मकान हैं किन्तु गलियाँ इतनी सकरी है कि उनमें गाड़ियाँ नही जा सकती थी। सड़क पर ही उतर कर लोगों को पैदल ही जाना पडता है। स्त्रियाँ और वृद्धजन डोली, पालकी और तामजान पर जाते हैं। बाल्यावस्था की मुझे याद है कि सायकाल के समय जब मेरे पिताजी और उनके भाई अपने उद्यान में सैर करने जाते थे तो उनकी घोडागाडी यही चौक मे खडी की जाती थी और साईस आकर सूचना देता था कि गाडी आ गई है। तब ये लोग जाते थे। पीछे इसकी मनाही हो गई थी, और शहर के लोगो को इसके कारण काफी दिक्कत भी हो गई थी, क्योंकि शहर के भीतर गाडी जा नही सकती और बाहर खड़े रहने का जो एकमात्र स्थान था उसका उपयोग न हो सकता था।

उन दिनो पुलिस वालो की ड्रिल टाउनहाल के मैदान में सप्ताह में दो या तीन दिन हुआ करती थी। यह पूर्ण रूप से म्युनिसिपैलिटी की जमीन थी। पिताजी ने कलेक्टर को लिखा कि चौक के थाने के सामने यदि निजी गाडियों को खडे होने की अनुमति नही दी जाती तो वे टाउनहाल के मैदान पर पुलिस वालों की ड्रिल बन्द

कर देंगे। उन दिनों भी दो-चार रईसो को जो कलेक्टर के कृपा पात्र थे, अपनी गाडियो को खड़ी करने की अनुमति कलेक्टर ने दी थी। पिताजी को भी देने को वे तैयार थे पर ये सभी के लिए यह सुविधा चाहते थे। उनको स्वय उसकी आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि सिगरा स्थित अपने सेवाश्रम नामक मकान मे वे रहते थे और शहर कभी कदाचित् ही जाते थे। पिताजी ने विशेष सुविधा लेने से इन्कार कर दिया था। इस पर कलेक्टर बहुत उद्विग्न हुए और उत्तर में लिखा कि सार्वजनिक सेवा में लगे सिपाहियों की ड्रिल को नहीं रोकना चाहिए। पिताजी अडे रहे। अन्त मे यह समझौता हुआ कि दो घण्टे के लिये किसी की भी गाडी वहाँ खडी रह सकती है। इधर पुलिस की ड्रिल भी जारी रही।

एक अवसर पर तत्कालीन कमिश्नर का पत्र पिताजी के पास अध्यक्ष के नाते आया जिसकी भाषा पिताजी ने अशिष्ट समझी और उन्होने उस पत्र पर यह लिख कर उसे वापिस किया कि यह पत्र मूल मे ही वापस किया जाता है जिससे कि यह उचित और शिष्ट भाषा मे लिखकर भेजा जाय। इस पर दूसरे ही दिन कमिश्नर उनसे मिलने आये और कहने लगे कि यह सब तो सरकारी औपचारिक पत्र-व्यवहार है। इसे व्यक्तिगत रूप मे नही लेना चाहिए। पिताजी की ही अध्यक्षता के समय काशी मे विजली लाने का प्रस्ताव शासन की तरफ से हुआ। विजली के सम्बन्ध मे पिताजी सशक थे। उनको भय था कि विजली ऐसी प्रबल गुप्त शक्ति को गृहस्थी के काम मे सचार होने से निर्दोष और उससे अपरिचित स्त्री, पुरुष और बच्चो के प्राण का सकट रहेगा। वे कहते थे कि शहर का एलेक्ट्रिफिकेशन नहीं एलेक्ट्रोक्यूशन होगा। पर वर्तमान संसार में बिजली का प्रचार और प्रसार अनिवार्य सा है। मुझे विस्तार से तो सब बात स्मरण नही है पर याद पड़ता है कि तीन महीने की सूचना देकर गवर्नमेंट इसका ठेका एक कम्पनी विशेष को दे रही थी। पिताजी ने गवर्नमेंट को लिखा कि यद्यपि कानूनन उनकी कार्यवाही ठीक हो सकती है पर इस सम्बन्ध मे म्युनिसिपैलिटी ऐसी नगर की शासन-संस्था से सलाह न लेना सर्वथा अनुचित है। इस पर अवधि बढायी गई। पीछे शहर मे बिजली आई। तब तक पिताजी के बोर्ड का कार्य-काल समाप्त हो चुका था।

इन घटनाओं का उल्लेख करने से मेरा तात्पर्य यह है कि पाठकगण अनुभव करें कि उन दिनों गैर-सरकारी आत्म-सम्मानी सार्वजनिक कार्यकर्ताओ को कितने विरोधो का सामना करना पड़ता था और कितनी कठिनाई से वे काम कर पाते थे। सरकारी अधिकारियो का उनके ऊपर इतना दबाव रहता था कि स्वतन्त्रतापूर्वक उन्हे लोकहित का भी कार्य करना और अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करना अत्यधिक कठिन था। नगर-प्रमुख के पद को पिताजी ने जो गौरव प्रदान किया और जिसके सामने उच्च ब्रिटिश अधिकारियों को भी झुकना पड़ा, इस बात की पुष्टि करता है कि स्वराज्य की प्राप्ति मे नगरपालिकाएँ कितना वास्तविक योगदान कर सकती थी। महात्मा गाँधी ने यदि कांग्रेसजनों द्वारा इनका बहिष्कार नहीं कराया तो यह सर्वथा

उचित था। उन दिनों विधानमण्डलों मे तो केवल वाद-विवाद ही हो सकता था। शासन जो चाहता था करता था। पर म्युनिसिपैलिटियो के हाथ मे नागरिकों के वास्तविक हित के साधन का अधिकार था। वे इस सम्बन्ध में अपने कर्तव्यो का पालन कर सकते थे और साथ ही अपने कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप को दूर रख सकते थे।

यह तो मानी और जानी हुई बात है कि अपने देश में अनाचार और दुराचार बहुत फैला हुआ है। सबको सब पर यह शका रहती है कि अमुक घूस देता है और अमुक घूस देकर अपना अनुचित कार्य करा लेते हैं। म्युनिसिपैलिटी के निम्न कर्मचारियों के विरुद्ध तो बहुत सी शिकायतें पिताजी के पास पहुँचती रहती थी। कर्मचारियो से उनका यह कहना था कि मैं आप सबकी आर्थिक कठिनाईयो को समझता हूँ। आपके सामने जो लाभ के साधन हैं उन्हे मैं जानता हूँ। मेरा यही कहना है कि शुकराना ले, पर जबराना से परहेज करे अर्थात् आपके किसी सही काम के कर देने पर कोई पुरस्कार दे तो उसे आप ले लें, पर किसी को डरा-धमका कर या यह कहकर कि तुम मुझे इतना नहीं दोगे तो काम बिगाड़ दूंगा किसी से पैसा लेना अनुचित है और उससे आप परहेज करे। शिकायत करने वालो के सम्बन्ध मे यदि उनका यह विचार होता था कि यह दम्भी है और खुद भी साफ नहीं है तो उससे कहते थे कि अपना हाथ साफ रखो, दूसरे के हाथ को माजने की कोशिश मत करो। ऐसा कोई व्यवहार-कुशल, सर्वथा निर्लिप्त, स्वय स्वच्छ दार्शनिक ही कह और कर सकते हैं।

म्युनिसिपैलिटियो के कार्य की चर्चा करते हुए मेरा निज के एक अनुभव का उल्लेख सम्भवतः असंगत न होगा। काशी की नगरपालिका के पिताजी की अध्यक्षता मे १९२३ के साधारण निर्वाचन के बाद स्थापित होने के डेढ वर्ष पहिले मैं उसका सदस्य निर्वाचित हो चुका था। उस समय काशी के प्रतिष्ठित वकील खानबहादुर मौलवी मकबूलआलम अध्यक्ष थे। आय की दृष्टि से किसी सिनेमा कम्पनी को टाउनहाल किराये पर दे दिया गया था। सार्वजनिक सभाओं के लिये बडी कठिनाई से वह मिलता था। राजनीतिक सभाओ तक को देना कभी-कभी अस्वीकृत कर दिया जाता था। मैंने टाउनहाल की कहानी कुछ-कुछ सुन रखी थी। भूतपूर्व महाराजा विजयानगरम का यह काशी नगरी को दान (गिफ्ट) था। इन्होंने आन्ध्र प्रदेश स्थित अपने राज्य से आकर काशी में निवास किया था। इन्हे सार्वजनिक सभाओं के लिए भवनों का निर्माण कराने का शौक था। प्रयाग के म्योर कॉलेज का बड़ा भवन इन्हीं का दिया हुआ है जो विजयानगरम हाल के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने और स्थानों पर ऐसे भवन अर्पित किये हैं। काशी मे तो सार्वजनिक सभाओ के लिए यही टाउनहाल नाम का भवन रहा।

एक अवसर पर मेरी सदस्यता के समय जब सार्वजनिक सभाओं को भवन नहीं दिया गया और वहाँ सिनेमा होता था तो मैंने उसका बड़ा विरोध किया। उसकी सुनवाई न होने के कारण मैंने टाउनहाल की फाइल मँगवायी। कठिनाई से

मिली फाइल काफी मोटी थी। मैंने काफी परिश्रम से उसका अध्ययन किया और उसके बाद म्युनिसिपैलिटी की जो बैठक हुई उसमे इस प्रसग को उठाया और दिखलाया कि महाराजा विजयानगरम अपने समर्पण पत्र में निम्नलिखित तीन उद्देश्यों के लिये टाउनहाल को म्युनिसिपैलिटी को दे गये हैं—(१) इसमें सार्वजनिक सभाएँ हो, (२) यहाँ आनरेरी (अवैतनिक) मजिस्ट्रेटो की अदालत बैठे, (३) यहाँ म्युनिसिपल बोर्ड की बैठके हो।

मैंने अध्यक्ष मौलवी मकबूलआलम और अन्य सदस्यों से कहा कि यदि किसी सभा के लिए सभा भवन माँगा जाय तो म्युनिसिपैलिटी को अस्वीकार करने का कोई अधिकार नही है। वह शासन की दासी नही है। यदि किसी सार्वजनिक सभा विशेष का होना शासनाधिकारी नही चाहते तो अपनी जिम्मेदारी पर सभा को रोके, सभा के प्रवर्त्तकों को दण्ड दे, परन्तु हम म्युनिसिपैलिटी के अधिकारियों को कुछ बोलने का हक नही है। हमें तो समर्पण पत्र के अनुसार सार्वजनिक सभा के लिए भवन देना ही होगा। इसमे सिनेमा नही रह सकता और न इसे किराये पर ही दिया जा सकता है। उस समय यदि नगरपालिका की बैठके प्रात.काल होती थी तब तो टाउनहाल मे की जाती थी पर यदि सायंकाल में होती थीं तो सिनेमा के कारण म्युनिसिपल दफ्तर मे की जाती थी। मैंने कहा कि यह ठीक नही है। बैठको को टाउनहाल मे ही होना चाहिए। जहाँ तक आनरेरी मजिस्ट्रेटो की अदालत की बात थी, उस समय वे यही होती थी। अध्यक्ष महोदय स्वयं बहुत बड़े वकील थे। बोर्ड मे कई और वकील थे। मेरी बाते उन्हें कानून की दृष्टि मे उचित मालूम पडी। सिनेमा वहाँ से हटा। सार्वजनिक सभाओं को भी बिना किसी रोक-टोक के भवन दिया जाने लगा।

इस घटना का उल्लेख मैंने इस उद्देश्य से किया है कि पाठकगण जानें कि अग्रेजी शासन का कितना दबदबा था, जिससे कि अकारण ही म्युनिसिपैलिटियाँ उनकी चेरी हो गयी थी और शासको के अनुकूल काम करना और शासकों की बातों का समर्थन करते रहना वे अपना अनिवार्य कर्त्तव्य समझती थी। पिताजी और उनके नेतृत्व में उनके बोर्ड ने यह प्रदर्शित किया कि किस प्रकार से नगर के प्रति अपने सब कर्त्तव्यों का पालन करते हुए वह स्वतन्त्रता से काम कर सकता है और साथ ही शासकों का सामना कर देश की राजनीतिक उन्नति में सहायक हो सकता है। हमे भूलना नही चाहिए कि आयरलैंड की म्युनिसिपैलिटियों ने वहाँ के स्वराज्य सग्राम में बहुत बडा भाग लिया था और कार्क नगरी के नगर प्रमुख (मेयर) टेरेन्स मेक्स्वाइनी ने अग्रेजी शासन के विरोध में आमरण अनशन कर अपने प्राणो की आहुति दी थी। पिताजी इससे बहुत प्रभावित हुए थे और अखबारो में से मैंकस्वाइनी का चित्र काट कर उन्होंने अपने पुस्तकालय की आलमारी के शीशे पर चिपका रखा था। वे सदा उनके बड़े प्रशसक थे। कोई किसी बडे आदर्श के लिये यदि इस प्रकार की तपस्या करता था तो पिताजी पर उसका बहुत प्रभाव पडता था।

जहाँ तक मुझे स्मरण आता है उनका निज का भी यह विश्वास था कि

अनशन करके प्राण देना श्रेयस्कर है । वे स्वामी कृष्णमाचारी का उदाहरण भी दिया करते थे । ये वे ही स्वामी जी है जिनसे उनकी दादी जी ने दीक्षा लेकर बल्लभाचार्य का सम्प्रदाय छोडा था । पिताजी भी कहते थे कि ये अन्तिम समय गगा जी के तीर पर पड़ गये और एक हाथ से गगा जी का जल बराबर छूते रहे । शास्त्रों का यह आदेश है कि चौबीस घंटे में मुख मे कुछ पड़ना चाहिए । इस कारण वे बहुत थोड़ा सा गंगा जल प्रतिदिन पी लेते थे । अगूठा और तर्जनी को दबाने पर जो छोटा सा गड्ढा हाथ के पीछे बनता है उसमें ही जितना जल आता था उसे ही वे दिन-रात मे एक बार पीते थे । इतने पर कौन कितने दिन जी सकता है ! स्वामीजी ने इस प्रकार स्वय अपना प्राणान्त किया था । इसका भी पिताजी के मन पर बड़ा प्रभाव था और उन्हे दु:ख था कि वे ऐसी तपस्या नही कर सकते थे । अपने शरीर मे वे इसकी क्षमता नही पाते थे ।

म्युनिस्पैलिटी की मिसलों को निवटाना उनके बायें हाथ का खेल था। वे तुरन्त ही आदेश की टिप्पणियाँ लिख देते थे और छोटे-बड़े मसलों को सुलझाते थे । कर्मचारीगण प्राय बडा अस्पष्ट हस्ताक्षर करते है और टिप्पणियाँ टेढी पक्तियों मे लिख देते हैं । पिताजी ने आदेश दिया कि हस्ताक्षर स्पष्ट होना चाहिये जिसमे मालूम हो सके कि किसका हस्ताक्षर है और पक्तियाँ सीधी होनी चाहिये । पिताजी का स्वयं अक्षर बडा सुन्दर और स्पष्ट होता था । वे बडी सावधानी से प्रस्तावों और मिसलों के हाशिया मे सीधी-सीधी पंक्तियाँ लिखते थे । म्युनिसिपैलिटी के सदस्य, कर्मचारी, जनसाधारण के प्रतिनिधि आदि बराबर ही उनसे मिलते थे, अपनी समस्याओ को प्रस्तुत करते थे और सन्तोष प्रद उत्तर पाकर चले जाते थे । इतनी व्यस्तता मे भी वे अध्ययन-अध्यापन का कार्य जारी रखे हुए थे । विद्यापीठ में दर्शन पढाते थे और विविध विषयो की पुस्तके पढते रहते थे । श्रीमती एनी बेसेंट और उनके द्वारा अनुवादित भगवद्गीता की उन्होंने उसी बीच आवृत्ति की थी और उसका नया संस्करण निकला था जिसमें सस्कृत व्याकरण पर प्रस्तावना के रूप में शिक्षाप्रद निबन्ध है और गीता में जितने शब्द हैं उनकी अनुक्रमणिका दी हुई है जिससे गीता के वाक्यो का अर्थ समझने और विविध वाक्यो का पता लगाने में बडी सहायता मिलती है । यह एक ही काम इतना भारी था जो दूसरे वर्षो में कर पाते । उन्होने सब कार्यों को सँभालते हुए इसे भी कर डाला ।

अपने कार्य-काल की समाप्ति पर सदस्यो और कर्मचारियों ने बड़े प्रेम और श्रद्धा से उनको विदा दी । सदस्यो का जो चित्र उस समय लिया गया उसकी विशेषता है कि अगली पक्ति में बीच मे वे स्वय नहीं दीख पड़ते । ऐसे अवसरों का उपचार है कि सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति अर्थात् अध्यक्ष वहाँ बैठे । इस चित्र मे उन्होंने अगली पक्ति मे नवयुवक सदस्यो को बैठाया था और अपने आप सबसे पीछे की पक्ति मे खड़े हुए । उन्होने अपनी अवधि के अन्तिम दिन स्वय अपने यहाँ सदस्यों और उच्च कर्मचारियो को भोज दिया और सबसे विदा ली उस समय की २२ सदस्यों की मण्डली मे

आज जब मैं इसे लिख रहा हूँ अर्थात् जून सन् १९६९ में केवल तीन सदस्य बचे हुए हैं। बाकी अब नहीं रहे।

मेरे निज के लिये पिताजी के जीवन का यह अंग बड़ा महत्त्व रखता है। उनकी कार्य-शैली, उनकी विचार-प्रणाली, सहयोगियों और सभी मनुष्यों से व्यवहार-पटुता, और हर प्रकार से कार्य-कुशलता को निकट से देखने का अवसर मुझे इन्हीं वर्षों में मिला था। इस प्रकार यह अध्याय सफलता और प्रसन्नता से समाप्त हुआ। उन्होंने बहुत बड़ा उदाहरण अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ा और सर्वथा उचित प्रकार से सबकी प्रशंसा का पात्र अपने को सिद्ध किया।

नवाँ अध्याय

चुनार का प्रवास

पिताजी यथाशक्ति यह प्रयत्न करते थे कि जैसा उनका विचार है उसी के अनुसार जीवन भी व्यतीत करे। जिस तरह से वर्णों की उचित व्यवस्था को मनुष्य समाज के लिए वे उचित उपयोगी और श्रेयस्कर मानते थे उसी तरह व्यक्तिगत जीवन को सर्वथा पूर्ण बनाने के लिये विविध आश्रमो का पालन करना भी वे आवश्यक समझते थे। मनुस्मृति के अनुसार मनुष्य चार वर्णों के होते है और हो सकते है। वे या ब्राह्मण हैं अर्थात् अध्ययन-अध्यापन करते है। ज्ञान के संचय और प्रसार में सहायक होते है; या क्षत्रिय हैं जो शारीरिक पुष्टि को पसन्द करते हैं और अपने बल से देश और समाज की रक्षा करते हैं और दुष्टों के सहार में सहायक होते हैं; या वैश्य हैं जो व्यापार-वाणिज्य करते है और अपने धन सग्रह से देश और समाज को समृद्ध करते हैं और जनसाधारण के हित के लिए उसका सद्व्यय करते हैं; या शूद्र होते हैं जो अपने शारीरिक श्रम से जनसाधारण की सेवा करते है और ससार का वहन सम्भव करते हैं।

ब्राह्मण को अपने कार्य के लिए सम्मान मिलना चाहिए जिससे उसको सतोष होता है। क्षत्रिय को अपने काम के लिये शक्ति मिलनी चाहिए, अपने काम के लिए उसे शासनाधिकार मिलना चाहिए जिससे उसको सन्तोष होता है। वैश्य को अपने व्यवसाय के बदले धन मिलना चाहिए जिससे उसका आप्यायन होता है, और शूद्र को अपने श्रम के बदले पर्याप्त अवकाश और मनोरंजन के साधन मिलने चाहिएँ जो उसे आनन्द देते हैं। सबके कर्त्तव्य निर्धारित हैं और कर्त्तव्य पालन से सबको ही समाज मे उचित स्थान मिलता है। समाज मे ऊँचे-नीचे, स्पृश्य-अस्पृश्य का भेदभाव नही है। ऐसा समझा जाता था कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का ठीक प्रकार पालन करे, तो समाज की सुव्यवस्था रहे, और सब लोग सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत कर सकें। इसमें परस्पर अनुचित श्रेणीगत् सघर्ष अथवा व्यक्तिगत् प्रति-द्वन्द्विता के लिये स्थान नही है।

पुरातन काल मे व्यक्तियों के लिये आश्रमों की व्यवस्था थी। जीवन चार चरणों में विभाजित किया गया था। प्रथम चरण ब्रह्मचर्य का था जब व्यक्ति विशेष की बाल्यावस्था और युवावस्था में उचित शिक्षा-दीक्षा होती थी और उसे अपने आगे के सामाजिक जीवन के कार्य के लिये तैयार किया जाता था इसके बाद दूसरा

चरण गृहस्थ का था जब व्यक्ति विवाह कर और समुचित व्यवमाय में प्रवेश कर अपने जीवन की आकांक्षा को पूरी कर सकता था और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकता था। तीसरे चरण में वह अपने कार्य को नयी पुश्त को सुपुर्द करता था जिससे कि कार्य की क्षति न होने पावे, ससार के सब कार्य चलते रहें और नवयुवको और नवयुवतियों को कार्य-भार सँभालने का समय से पर्याप्त अवसर मिले। इस चरण मे जिसे वानप्रस्थ कहा जाता था व्यक्ति विशेष दूसरो को अपने अनुभव के आधार पर परामर्श देने के लिए सदा तैयार रहता था, वह किसी के ऊपर भार भी नही होता था और अपने गृहस्थ जीवन मे जो कुछ उसने सग्रह कर रखा था उसी पर अपनी जीवन यात्रा करता था। इस चरण के अन्त तक भी यदि वह जीवित रहा तो अपने को ससार से पूर्ण रीति से पृथक् कर लेता था। वह अन्तिम चरण अर्थात् सन्यास मे प्रवेश करता था। इसमे सन्देह नही कि किसी भी व्यक्ति की जब अत्यधिक उम्र हो जाती है तब तक एक नयी दुनिया की सृष्टि भी हो जाती है। वह इस नयी दुनिया को समझने लायक नही रह जाता और उसका दुनिया से पूर्णरूप से पृथक् हो जाना ही उचित होता है।

पिताजी का अध्ययन काल बीस वर्षों मे समाप्त हो गया था। वे इक्कीस वर्ष के ही थे जब उन्होंने सरकारी नौकरी शुरू की जिसमें वे आठ वर्ष रहे। वे सम्पन्न कुल मे पैदा हुए थे और पैतृक सम्पत्ति का मिताक्षरा विधान के अनुसार जो उनका अश था उससे वे सर्वथा सन्तुष्ट थे। इस कारण उन्होने नियमित रूप से कोई व्यवसाय अर्थात् जीविका उपार्जन का निर्दिष्ट काम नही उठाया। आठ वर्षो की सरकारी नौकरी उनके लिये जीवन का एक अनुभव मात्र ही समझना चाहिए। वह उनका व्यवसाय नही माना जा सकता। वास्तव मे उनका अवैतनिक रूप से सनातन धर्म का शुद्ध वास्तविक अर्थ बतलाना, थियासोफी के द्वारा मानव मात्र मे भ्रातृभाव का प्रचार करना और भारतीय नवयुवको को हिन्दू कालेज, काशी विद्यापीठ ऐसी शिक्षा सस्थाओंद्वारा अच्छा धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक शिक्षा के माध्यम से देशभक्त बनाना ही उनका व्यवसाय समझा जा सकता है। जो कुछ और काम उन्होंने उठाया, राजनीतिक अथवा नगरपालिका की अध्यक्षता, वह इसी के अन्तर्गत माना जा सकता है।

वे सन् १८९८ से १९२५ तक अर्थात् २८ वर्षों तक यह सब करते रहे। जब वे म्युनिसिपैलिटी के काम से निवृत्त हुए तो उनकी अवस्था करीब ५७ वर्षों की थी। जब वे म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष रहे तब ही आगे के आश्रम का उन्हें विचार होने लगा था। किसी उपयुक्त अवसर पर शीत ऋतु मे विश्राम के उद्देश्य से वे चुनार पहुँचे। काशी से यह केवल २५ मील पर है। यद्यपि वे भारत मे दूर-दूर की यात्रा कर चुके थे परन्तु सम्भवत. चुनार वे कभी नहीं गये थे। काशी और चुनार का वहुत निकट सम्बन्ध रहा है और कितने ही लोग मन बहलाने और जलवायु परिवर्तन के लिये काशी से चुनार जाते हैं मैं स्वयं कई बार वहाँ में मित्र-मण्डलियों

के साथ जा चुका था। चुनार गगाजी के किनारे स्थित है। विन्ध्या की पहाडियो की गोद में वह बसा है। दुर्गाखोह आदि वहाँ सुन्दर स्थान हैं। काशी के लोगों के लिये तो यह शताब्दियों से छोटा सा तीर्थ स्थान सा रहा है। वर्षा काल मे यहाँ के सुन्दर पहाडी झरने बडा आनन्द देते हैं। हरिद्वार से हिमालय को छोडकर गगाजी अपनी पन्द्रह सौ मील की यात्रा में यहीं किसी पहाडी अर्थात् विन्ध्याचल को छूती हैं। यहाँ भर्तृहरि के समय का किला मौजूद है और इसका वास्तविक नाम चरणाद्रि गढ है। भर्तृहरि से लेकर वारेन हेस्टिग्ज तक भारत के कितने ही राजाओं और शासनाधिकारियों ने इस किले में आश्रय लिया है।

हमारे कुल का भी इस नगरी से शताब्दियो पहिले सम्पर्क था। दिल्ली से चलकर हमारे पूर्वज सम्भवत पहले यही ठहरे थे और यही उन्होने व्यापार किया था। आश्चर्य है कि पिताजी यहाँ पहले कभी नही गये यद्यपि मैं अपने दो छोटे चाचाओं (श्री राधाचरण साह और श्री सीताराम साह) के साथ बाल्यावस्था मे ही यहाँ गया था। जब पिताजी यहाँ आये तब यह स्थान उन्हें बहुत पसन्द आया और उन्होंने निश्चय किया कि वृद्धावस्था में यही मकान बनाकर रहेंगे। स्पष्ट है कि वे म्युनिसिपैलिटी की अध्यक्षता के कार्य को समाप्त कर उसके बाद कोई जिम्मेदारी या प्रबन्ध सम्बन्धी काम उठाने को प्रस्तुत नहीं थे। काशी विद्यापीठ के कुलपति वे बने रहे जिससे उसकी शोभा थी और इनके ऊपर कोई विशेष कार्यभार नही था। मुझे स्मरण है कि जब काशी मे हम सबको सूचना मिली कि चुनार उन्हें बहुत पसन्द आ गया है तो नाव करके हमारा बहुत बड़ी मण्डली वहाँ पहुँची थी। मैं नही कह सकता कि वे स्वय वहाँ कैसे गये थे। बहुत सम्भव है कि कई स्थानो की यात्रा करते हुए रेल से यहाँ भी वे पहुँच गये हो। यह भी सम्भव है कि किसी के विशेष निमन्त्रण पर वे वहाँ गये हों।

जो कुछ हो उन्होने तय किया कि यहीं आगे चलकर रहना होगा। शीतऋतु मे ही उन्होने इसे देखा जब वास्तव में यह स्थान बडा सुन्दर प्रतीत होता है। यहाँ ग्रीष्म ऋतु पर्याप्त रूप से कष्टदायी होती है, जब भयकर गर्मी पडती है; तथापि यह स्थान सभी ऋतुओ मे स्वास्थ्यकर है। कई स्थान देखने पर उन्होंने एक को जो गगा-जी के तट पर था पसन्द किया। यह बहुत बड़े अहाते में एक टूटे-फूटे मकान का खण्डहर का रूप उस समय लगता था। यह चुनार जैसी छोटी नगरी की उपनगरी मे स्थित था। किसी समय यहाँ पर शीतऋतु मे बड़े-बडे अग्रेजी सैनिक अफसर रहा करते थे। पीछे रेल के अवसर-प्राप्त ऐंग्लोइण्डियन कर्मचारियों का यह निवास स्थान हो गया। इन्ही मे एक भूतपूर्व कर्मचारी का वह बगला था जिनकी मृत्यु हो चुकी थी और जिस सम्पत्ति की देखभाल का कार्य इनके वसीयतनामे के अनुसार एक ऐंग्लोइण्डियन एक्जीक्यूटर के जिम्मे था जो प्रयाग मे रहते थे। स्थानीय मित्रो और रिश्तेदारों के द्वारा इनसे सम्पर्क स्थापित किया गया। उन्होंने पिताजी के हाथ इस मकान को बेचना स्वीकार किया। बयाने का रुपया भेजा गया जिसे एक्जीक्यूटर

ने स्वीकार कर लिया। इसी बीच शायद अन्य सज्जन ने उसे खरीदने की इच्छा प्रकट की हो क्योंकि उक्त एक्जीक्यूटर महोदय ने बयाने का रुपया वापस किया। इसे पिताजी ने नही लिया और बहुत क्रुद्ध हुये। गर्मी की ऋतु थी। उन्होंने उसी समय मुझे और मेरे छोटे भाई चन्द्रभाल जी को चुनार भेजा। वे बडे हठी थे और जिस कार्य के लिये वे निश्चय कर लेते थे उससे वे विरत होना नही जानते थे। उन्होने हम दोनों भाइयों से कहा कि जाओ और जिस दाम पर भी यह मकान मिले उसे अवश्य ले लो। खैरियत थी कि मामला अधिक तूल नही पकडने पाया और पीछे इस स्थान का बैनामा पिताजी के नाम हो गया।

म्युनिसिपैलिटी की अध्यक्षता की अवधि समाप्त होने पर पिताजी सन् १९०५ मे चुनार चले गये, और एक मित्र के मकान में किराये पर इस अपने स्थान के पास रहने लगे और बहुत धन व्यय करके खण्डहर की नीव रखते हुए उस पर मकान का निर्माण किया। इसकी देख-रेख वे स्वय करते थे और इसके लिये काशी मे आकर बराबर कितनी ही वस्तुएँ ले जाते थे। वे मकान स्वय बनवाते थे। न किसी इन्जीनियर से सलाह लेते और न किसी ठेकेदार को काम देते थे। किस अनुपात में विभिन्न मसालो का मिश्रण होना चाहिए यह वह भली-भाँति जानते थे। उनके बनाये मकान बहुत मजबूत होते थे। मकान तैयार होते पर वे इस मकान मे आ गये।

इसके बाद एक दूसरा मसला उठ खड़ा हुआ जिसका सम्भवत पहले अनुमान नही था। उन्होंने समझा होगा कि यह सम्पत्ति अब मेरी हो गयी। जब मकान तैयार हो गया और वे उसमें चले गये तब मिर्जापुर के कलेक्टर का पत्र आया—चुनार मिर्जापुर की तहसील और उपनगर है—कि आप कबूलियत (लीज) लिख दीजिये कि आप इतना वार्षिक लगान देंगे और इसकी मियाद तीस वर्ष की होगी। यदि गवर्नमेंट चाहेगी तो तीस-तीस वर्ष पर अवधि बढाती रहेगी और लगान की भी उचित वृद्धि करती रहेगी। लीज की अवधि समाप्त होने पर सरकार सब मकान और जमीन बिना किसी मुआवजे के ले लेगी। यह नजूल की जमीन थी और ऐसी ही शर्तों पर वहा लोग बसे हुए थे। यह अचल जो वहाँ के किले की सीध की पक्ति मे गगाजी के तीर पर बसा हुआ था, उसकी विशेष हैसियत थी। वह चुनार नगरी के बाहर था। चुनार नगरी का स्थानीय प्रबन्ध टाउन एरिया के हाथो मे था। इस अचल का प्रबन्ध सैटिलमैन्ट एरिया के हाथ में था जिसमे ऐंग्लोइण्डियनों का प्राधान्य था।

पिताजी ने इस प्रकार के कबूलियत पर हस्ताक्षर करना अस्वीकृत कर दिया और मुझे इस सम्बन्ध में काशी मे लिखा। मैं बहुत घबराया और उनके पास जाकर बहुत अनुनय-विनय किया कि आप हस्ताक्षर कर दीजिए, आप तीस वर्ष आराम से रहिए, आगे देखा जायगा (वास्तव में वे इसके बाद करीब पैंतीस वर्ष जीवित रहे)। उन्होने मेरी बात नहीं मानी और कहा कि मैं ऐसे दस्तावेज पर कदापि हस्ताक्षर नही करूगा चाहे इसका परिणाम जो हो उनका ऐसा हठ गहस्थ सम्बन्धी छोटी

ातों मे तो मैं देख चुका था पर ऐसे अपेक्षया गम्भीर मामले मे नही देखा था। मैं चिन्तित होकर काशी लौटा।

सयोगवश काशी कमिश्नरी के कमिश्नर श्री ओपेनहाइम थे जिनकी पिताजी से पर्याप्त मैत्री थी। उनका ये बडा आदर करते थे। मुझ से भी बड़ा सद्भाव रखते थे। काशी और मिर्जापुर दोनो जिले बनारस कमिश्नरी में थे। इस कारण बनारस के कमिश्नर दोनों जिले के मुख्य अधिकारी थे। मैंने पिताजी को लिखा कि यदि आप कहिए तो मैं कमिश्नर से इस सम्बन्ध में बातें करूँ। उन्होने उत्तर दिया कि तुम चाहो तो करो पर मैं नही कह सकता कि इसका क्या परिणाम होगा। मैंने श्री ओपेनहाइम को लिखा कि 'अब तक तो आपसे परस्पर की मुलाकात शिष्टाचार को ही होती थी, पर पहली बार निजी काम के लिए मैं आप से मिलना चाहता हूँ।' मैंने पहले ही उन्हे स्पष्ट लिख दिया कि मैं अमुक काम के लिए आना चाहता हूँ। उन्होंने फौरन ही उत्तर देकर मुझे समय दिया और जब मैं उनके यहाँ पहुँचा तो देखा कि चुनार के मकान के सम्बन्ध की मिसल उन्होंने मँगा रखी थी। वास्तव मे अग्रेज कर्मचारी बडे ही कार्य-कुशल, कर्त्तव्यपरायण और बुद्धिमान होते थे। सब काम पूर्ण रूप और सावधानी से करते थे।

मैंने अपनी सब बाते उन्हे बतलायी। उन्होने इस पर कहा कि 'मिर्जापुर के कलेक्टर सयोगवश मेरे यहाँ ठहरे हुए है। यदि तुम्हे कोई आपत्ति न हो तो मैं उन्हे भी बुला लूँ।' मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी। वह भी आये। बड़े लम्बे चौडे अग्रेज थे। श्री ओपेनहाइम स्वय उनके सामने बहुत नाटे लगते थे। मुझे कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि कलेक्टर को बुरा लगा कि मुझ से मिलने वे इस प्रकार बुलाये गये। सब सुनकर उन्होंने कहा कि 'यह तो कानून है। ऐसी कबूलियत मकान मालिक को लिखना आवश्यक है। इसमे परिवर्तन कैसे किया जा सकता है।' इस पर श्री ओपेन-हाइम झुँझला कर बोले 'बेवकूफी की बात मत करो। तीस हजार रुपये लगाकर कोई मकान बनवाये, और तुम उसे तीस वर्ष बाद ले लो, यह कैसे हो सकता है।' कमिश्नर के सामने कलेक्टर क्या कह सकते थे। चुप रहे। पिताजी को १८० वर्ष का पट्टा मिला और उसमें यह शर्त भी रखी गयी कि यदि इस अवधि के बाद गवर्नमेंट इस मकान और भूमि को लेना ही चाहेगी तो उसे उस समय के बाजार भाव के अनुसार इसका दाम देना होगा। चुनार मे ऐसा पट्टा किसी और के पास नही है। पिताजी निश्चित होकर अपने मकान मे रहने लगे। उसका नाम उन्होने 'विश्राम' रखा।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि पिताजी का सिद्धान्त था कि जो कुछ वे दूसरो के लिए कहते थे उसे स्वय भी करते थे। मैंने बतलाया है कि मनु भगवान् की व्यवस्था के अनुसार मनुष्य समाज के समुचित संघटन के लिये वर्ण और व्यक्तिगत जीवन को पूर्ण बनाने के लिए आश्रम की विधि सर्वथा आवश्यक और उपयुक्त है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ चरणों के बाद ५७ वर्ष की अवस्था मे चुनार क उनका प्रवास

वानप्रस्थ चरण मे प्रवेश समझा जा सकता है। पर वे अन्त तक अपने को गृहस्थ ही मानते थे। उन्होंने अपनी पैतृक सम्पत्ति का बहुत कुछ अंश अपने पुत्रों को दे दिया था पर अपने और माता जी के दिन प्रतिदिन के व्यय के लिये उसका आवश्यक अंश सुरक्षित कर लिया था। उनका कहना था कि गृहस्थ अवस्था छोड़ने के बाद किसी को किसी दूसरे के ऊपर भार नही होना चाहिए। गृहस्थ अवस्था में अपने व्यवसाय से की हुई कमायी मे से उसे अपनी वृद्धावस्था के लिए पर्याप्त संचय कर रखना चाहिए और आगे उसी पर अवलम्बित या आश्रित रहना चाहिए। इस कारण उन्होंने अपने योग क्षेम के लिए आवश्यक आय को बचा रखा था और यद्यपि उसमे से भी वे बहुत कुछ दे डालते थे, पर वह आय उनकी ही थी और जिस सम्पत्ति से यह आती थी, वह अन्त तक उनके ही नाम थी जिस पर मृत्यु-कर दिया गया।

उनके पास बन्दूक व पिस्तौल के जो लाइसेन्स थे उन्हे उन्होंने उस समय काशी के कलेक्टर को वापस कर दिया था, जब ब्रिटिश राजकुमार का बहिष्कार करने के कारण उन्हे जेल भेजा गया था। कलेक्टर ने उन्हे लिखा था कि लाइसेंस वापस आ गया। मैं भी आपको लाइसेंस देना नही चाहता था। पीछे जब ये चुनार मे बसे और शहर के बाहर बड़े से बगले मे अकेले रहते थे तो मिर्जापुर के कलेक्टर ने लिखा कि आप अपना लाइसेंस ले लें। परन्तु पिताजी ने ऐसा नही किया। मेरे लिये यह इस बात का प्रमाण था कि उन्होंने गृहस्थ अवस्था को वास्तव में छोड दिया था। उस अवस्था मे हथियार का रखना वे उचित और आवश्यक मानते थे। इसके बाद मैंने और मेरे भाई ने लाइसेंस लिया पर उन्होंने नही लिया।

गृहस्थ का वे धर्म समझते थे कि अपने आश्रित जनों की रक्षा के लिये खतरनाक मनुष्यो और जानवरो के प्रति बल प्रयोग करे। सर्पों के वे बड़े शत्रु थे और छोटे से डंडे से वे विशाल सर्पों को मार डालते थे। ऐसा करने का मेरा कभी साहस नहीं हुआ। मै तो दूर से ही बन्दूक से उन्हे मारता था। पिताजी का बन्दूक का निशाना बहुत अच्छा था। अभ्यास के लिए बगीचे मे बनी चाँदमारी पर ही निशाना लगाते थे। दो जानवरों को बन्दूक से मारते मैंने उन्हे देखा था। एक तो बडा खूँखार बन्दर था जो घर में घुस आता था। यह भय हुआ कि वह मेरे तीन वर्ष के छोटे भाई पर आक्रमण न कर दे। उसे पिताजी ने बन्दूक से मारा, बहुत ही बडा और बलवान बन्दर था। यह उस समय की बात है जब वे दुर्गाकुण्ड पर रहते थे। वहाँ बन्दरो की भरमार सदा से रही है। किसी प्राणी पर बन्दूक चलाते हुए देखने का मुझे दूसरा अवसर तब मिला जब एक दिन प्रातःकाल अपने सिगरा स्थित 'सेवाश्रम' नामक उद्यान मे चबूतरे पर बैठे हुए वे दतुअन कर रहे थे। ऊपर वृक्ष पर से उल्लू उड़कर उनके सिर पर आ बैठा और उसने पंजा मारा। उसे भगा कर वे उठे, उल्लू पेड़ की डाल पर जा बैठा। वे भीतर कमरे मे से बन्दूक लाये और निशाना साधकर बन्दूक चलाई, उल्लू वही गिर कर मर गया। किसी तीसरे जानवर पर उन्हें बन्दूक चलाते नही देखा। मेरे कुटुम्ब के कितने ही सदस्य शिकारी थे। जंगलो मे जाकर शेर आदि का

शिकार करते थे। पिताजी को इसका कोई शौक या व्यसन नही था।

यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि यद्यपि साधारणत सब ही धर्म या मजहबों के जो नैतिक आदेश है वह सबके लिए और सब स्थितियो के लिए बतलाये गये हैं पर पिताजी का कहना था कि सनातन धर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म में भिन्न-भिन्न आश्रमो और भिन्न-भिन्न वर्णो के लिए पृथक्-पृथक् आदेश है। गृहस्थ रक्षा के हेतु जानवर मार सकता है पर सन्यासी ऐसा नहीं कर सकता। विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्य है पर गृहस्थ के लिए वह मना है। सत्य बोलना ब्रह्मचारी और सन्यासी के लिए परम धर्म है पर गृहस्थ को तो आवश्यकतानुसार झूठ भी बोलना पड़ता है जैसे माता कडवी दवा बच्चे को यह कहकर दे सकती है कि यह बड़ी मीठी है। वैश्य अथवा व्यापारी को झूठ और सत्य का मिश्रण करते रहना होता है। मनु का वचन है—सत्यानृत तु वाणिज्यम्।

चुनार मे पिताजी दस वर्ष रहे। लिखते-पढ़ते उनका समय बीतता था। उनका जीवन बडा व्यवस्थित था। हम कुटुम्बीजन बराबर उनसे मिलने जाते थे कभी मोटर से परन्तु प्राय नाव से। एक बार मैं और मेरे भाई पैदल भी चुनार गये थे। पिताजी बराबर ही काशी आते थे। उनके चुनार मे जाने के दूसरे ही साल दु खद घटना घटी। मेरी पत्नि का शीतला के प्रकोप से सहसा देहान्त हो गया। तीन सप्ताह तक उन्हें बचाने का सतत् प्रयत्न किया गया पर सब बेकार हुआ। तीस वर्ष की अल्पायु मे ही जुलाई सन् १९२६ में उनका देहावसान हो गया। पिताजी को इसका बडा आघात पहुँचा। वे उनकी बडी प्रेमपात्र थी। उनकी सेवा भी वे करती थी। मेरा विवाह सन् १९०८ मे १८ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। मेरी पत्नी बिहार की ससराम नगरी की थी। उनके पिता का देहान्त उनकी छोटी अवस्था में ही हो गया था। अपनी माता की वे एकमात्र सन्तति थी। विवाह के समय उनकी अवस्था केवल १२ वर्ष की थी। उन्हें पाठशाला आदि की कोई शिक्षा नही मिली थी। विवाह के बाद पिताजी ने उन्हें काशी मे पाठशाला मे भर्ती कराया। उस समय की प्रथा के अनुसार विवाह के करीब तीन वर्षों बाद द्विरागमन नाम की एक और रस्म होती थी जिसके बाद पत्नि, पति के पास जाती थी। इस रस्म के होने के ही समय मैं उच्च-शिक्षा के अर्थ इग्लैण्ड भेजा गया जहाँ से मैं तीन वर्षों के बाद लौटा। इस प्रकार औपचारिक विवाह के छ वर्षों बाद मेरा गृहस्थ जीवन आरम्भ हुआ। इस लम्बी अवधि में पिताजी की ही शिक्षा-दीक्षा मे वे रही। पति के इतने लम्बे प्रवास के कारण वे अपने सास-ससुर की स्नेह और सहानुभूति की विशेष रूप से पात्र हो गयी। मेरा गृहस्थ जीवन केवल १२ वर्ष का था। सन् १९१४ में इंग्लैण्ड से शिक्षा प्राप्त करके लौटा था तथा सन् १९२६ मे पत्नी का देहान्त हो गया। वे अपने पीछे चार सन्ततियाँ छोड गयी। पिताजी ने उनकी मृत्यु का बहुत दु ख माना। उनकी बीमारी में चुनार से बार-बार आकर उनके बीमारी के कमरे के पास दुर्गा सप्तशती का विधिवत् पाठ किया करते थे। उनकी

मृत्यु के बाद मैं उनके पास चुनार में कुछ दिन रहा। उनके दार्शनिक विचारों का निकट से बोध मुझे उसी समय हुआ जब उन्होंने मुझे अपने अमृत शिक्षाप्रद वचनों से सान्त्वना दी।

इस अवधि में एक और घटना का उल्लेख प्रासंगिक होगा। सन् १९२९ की ९ फरवरी तदनुसार मौनी अमावस्या सम्वत् १९८५ को पिताजी की साठवीं वर्षगांठ थी। उस दिन काशी में मैंने अपने घर पर उत्सव मनाया था। पिताजी के सभी पुराने मित्रों और सहयोगियों को जो जीवित थे, मैंने निमन्त्रित किया था और दूर-दूर से इन मित्रों ने आकर उनका अभिनन्दन किया था। कितनों ने ही बधाई के पत्र भेजे थे। ये सब प्रबन्ध मैंने पिताजी को बिना बताये ही किया था। एक दिन बाद ही काशी विद्यापीठ का वार्षिकोत्सव होने वाला था। उसके लिए वे आने वाले थे। इस आयोजन को देखकर उन्हें आश्चर्य और प्रसन्नता दोनों ही हुई। वे बड़े प्रेम से पुराने मित्रों और सहयोगियों से मिले। इनमें उनके बाल्य-सखा पंडित गंगानाथ झा प्रयाग से आये हुए थे और थियासोफिकल सोसाइटी के सहयोगी श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त कलकत्ता से आये। श्रीमती एनी बेसेंट ने बड़े प्रेम का सन्देश भेजा था। मुझे वह उत्सव आज भी स्मरण आता है और उस समय के उनके समकालीन वयोवृद्ध मित्रों को जिनमें अब कोई नहीं रह गया है, एक बार साथ मिलने का और उनके परस्पर के प्रेम को देखकर सुख तथा प्रसन्नता प्राप्त करने का मुझे भी अवसर मिला।

दसवाँ अध्याय

सत्याग्रह आन्दोलन

सन् १६२६ से १६३४ तक का समय भारत के इतिहास मे एक विशेष स्थान रखता है। महात्मा गांधी का यह कहना था कि यदि सम्मानपूर्वक ब्रिटिश साम्राज्य मे रहना सम्भव होगा तब हम उसमें रहेंगे, पर यदि ऐसा न हुआ तो आवश्यकतानुसार साम्राज्य के बाहर हम अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खोजेंगे। जब से उनके हाथ में देश के नेतृत्व की बागडोर आयी थी अर्थात् सन् १६२० के बाद से ही उन्ही के आदेशानुसार राजनीतिक कार्यक्रम निर्धारित किया जाता था। सन् १६२१ मे ब्रिटिश राजकुमार के स्वागत का बहिष्कार किया गया था। साथ ही उनके रचनात्मक कार्यक्रम के अनुसार चर्खा और खादी का प्रचार चल रहा था और राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की स्थापना भी हो रही थी। विधान-मण्डलों के बहिष्कार के बाद उसमें जाने की अनुमति भी कांग्रेसजनो को मिल गयी थी और वहाँ भी उन्होने अपनी शक्ति का प्रयोग कर परिणाम देख लिया था।

ब्रिटिश शासन की दृढता हर प्रकार से प्रमाणित हो रही थी और कोई नया रास्ता नहीं देख पड़ रहा था जिस पर चलकर हम अपनी क्षमता की परीक्षा कर सकते। सब लोगो की दृष्टि महात्मा गांधी के ऊपर ही थी। उनके ऊपर सब बातो के निर्णय और संचालन करने का दायित्व सौंप दिया गया था। उनके ही आदेशों की हर बात मे हर समय प्रतीक्षा हो रही थी। सन् १६२६ तक यह सिद्ध हो गया कि ब्रिटिश गवर्नमेंट स्वतः अपना शासनाधिकार हस्तान्तरित करने को तैयार नही है। महात्मा गांधी के बताये हुए रचनात्मक कार्यों को करते हुए भी कांग्रेस समितियों को सुसघटित करने के प्रयत्न में लगे हुए कांग्रेसजन भी व्यामोह मे पड़ गये थे। वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। सर जॉन साइमन की अध्यक्षता मे सन् १६२८ में एक आयोग भी देश में आया था जिसको देश की स्थिति की विवेचना कर उसमें उन्नति करने का सुझाव देने का काम सौंपा गया था। सभी राजनीतिक दलों ने उस आयोग का बहिष्कार किया था। इधर कांग्रेस की ओर से पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता मे एक समिति स्थापित की गयी जिसको भी स्थिति की आलोचना कर आगे के स्वशासन की रूपरेखा तैयार करने का काम दिया गया था, जिसके विवरण पर सन् १६२८ के दिसम्बर की कलकत्ता कांग्रेस के समय बड़ा विचार और विवाद हुआ था। एक प्रकार से यदि यह कहा जाय कि कांग्रेस और

शासन में वैधानिक संघर्ष हो रहा था और साइमन आयोग को बतलाया जा रहा था कि किस प्रकार के सुधार से देश मे शान्ति होना सम्भव है तो अनुचित न होगा। इसमे कोई सन्देह नही कि विभिन्न राजनीतिक प्रयोगो की तथाकथित विफलता के कारण राजनीतिक लोगों में थकावट आ गयी थी।

ऐसे समय अर्थात् सन् १९२९ में महात्मा जी ने देश के कोने-कोने का दौरा किया। लोगो की प्रतिक्रिया जानना चाहा कि जनसाधारण का उनमे कितना विश्वास है, जिससे कि वे निर्णय कर सके कि यदि किसी आन्दोलन के करने का वे आदेश देंगे तो लोग मानेंगे या नही। लाखो की संख्या मे स्त्री-पुरुष महात्मा जी की सभाओ मे उनके इस दौरे में आते थे। महात्मा जी को विश्वास हो गया कि चाहे ऊपर के नेतागण क्लान्त और हतोत्साहित हो पर जनसाधारण उनके साथ है। उस साल के दिसम्बर मास मे लाहौर मे कांग्रेस होने वाली थी। इसके अध्यक्ष वे स्वयं निर्वाचित हुए थे पर उन्होने उससे अपने को पृथक् कर श्री जवाहरलाल नेहरू को अपने स्थान पर बैठाया। इस दौरे मे गांधी जी दो बार काशी आये थे। पहली यात्रा के समय उन्होंने काशी विद्यापीठ के समावर्तन के अवसर पर दीक्षान्त भाषण किया था। उस समय पिताजी चुनार से काशी आये थे। संयोगवश इनकी दूसरी काशी यात्रा उनके साठवें जन्म दिवस अर्थात् २ अक्टूबर सन् १९२९ को हुई। इन दोनों अवसरो पर महात्मा गांधी मेरे ही यहाँ ठहरे हुए थे। उनके जन्म दिवस पर चर्खा आदि की बृहत् प्रदर्शनी भी की गयी थी।

महात्मा गाधी ने दौरे के बाद निर्णय किया कि अब समय आ गया है कि हम पूर्ण स्वतन्त्रता ही अपना लक्ष्य घोषित करें और उसी के लिए प्रयत्न करे। इसकी औपचारिक रूप से घोषणा दिसम्बर सन् १९२९ की लाहौर कांग्रेस में श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में की गयी। महात्मा गांधी ने नमक सत्याग्रह का आन्दोलन करने का निश्चय किया। स्वयं एक मण्डली लेकर अहमदाबाद से डाडी तक पैदल यात्रा की और समुद्र के तट पर अवैधानिक रूप से नमक का संग्रह कर नमक कानून तोडा। सारे देश में यह आन्दोलन फैल गया। काशी में भी बहुत गिरफ्तारियाँ हुई। इस सम्बन्ध में पिता माता बीच-बीच मे काशी आते रहे और मुझसे जेल में मिलते थे। जेल यात्रियों के कष्टो के निवारण के अर्थ शासनाधिकारियों से पिताजी बराबर पत्र-व्यवहार करते थे जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक बन्दियों को कुछ सुविधाएँ मिल जाती थीं। शासनाधिकारी इनकी सिफारिशो का बराबर आदर करते थे। इनके सक्रिय सतत प्रयत्न से जेलों मे राजनीतिक बन्दियों के लिए बर्तन, भोजन, वस्त्र आदि के सम्बन्ध में सुधार भी हुए। कांग्रेस के प्रमुख नेताओ के जेल मे चले जाने के कारण ये कांग्रेस कार्य समिति के औपचारिक रूप से सदस्य भी हो गये थे।

सन् १९३१ में नमक सत्याग्रह की समाप्ति के बाद एक प्रकार मे इसी से लगान-बन्दी के आन्दोलन की तयारी की गयी अनाज की सस्ती के

कारण ग्रामीण जनता मे बडा क्षोभ हो गया था। आर्थिक दृष्टि मे भी लगानबन्दी की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी पर शासन की तरफ से इस आन्दोलन के विरुद्ध पहले आन्दोलन से भी अधिक कड़ाई की गयी।

सन् १९३० मे इंग्लैण्ड मे श्रमजीवी दल के प्राधान्य के कारण उन्हीं का मन्त्रि-मण्डल शासन कर रहा था जिसके तत्कालीन नेता श्री राम्से मैकडानल्ड प्रधान-मन्त्री हुए। ये भारतीय राजनीतिक उत्कर्ष से सहानुभूति रखने वाले समझे जाते थे और सन् १९११ के कांग्रेस अधिवेशन के ये सभापति भी निर्वाचित हुए थे। अपनी पत्नी के निधन के कारण वे उस समय भारत नही आ सके थे। इन्होने आयोजन किया कि लन्दन में गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाय जिसमे भारत के विविध दलो के प्रतिनिधि और विशिष्ट भारतीय आवें। ब्रिटिश शासकों से और उनसे मैत्री और सद्भाव के वातावरण में वार्तालाप हो और भारतीय राजनीतिक समस्या का समाधान किया जाय। कांग्रेस नेतागण उस समय नमक सत्याग्रह के कारण जेल में थे। पूछे जाने पर भी उन्होने इसमें जाना स्वीकार नही किया। कांग्रेस की तरफ से इस सम्मेलन का बहिष्कार किया गया।

सन् १९३१ के आरम्भ मे कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यगण इस उद्देश्य से छोड़े गये कि जो राजनीतिक सुधारो के नये प्रस्ताव गोलमेज सम्मेलन के बाद ब्रिटिश गवर्नमेंट की तरफ से किये गये थे उन पर समिति विचार करे। कांग्रेस की कार्य-समिति की बैठक प्रयाग में हुई। इसी के थोड़े दिन पहले पंडित मोतीलाल नेहरू का देहान्त हो चुका था जिसके कारण समिति मे दु ख छाया हुआ था। प्रयाग के बाद दिल्ली में कार्यसमिति की बैठक लगातार होती रही। उस समय महात्मा गांधी और वायसराय लार्ड अर्विन के बीच प्रतिदिन देश की स्थिति पर बातचीत होती रही। गांधी जी और वायसराय अर्विन में कुछ समझौता हुआ जिसका कार्यसमिति ने समर्थन किया। नमक कानून ढीला हुआ। विभिन्न जेलो से राजबन्दी छोडे गये। कांग्रेस की कार्य-समिति की दिल्ली में बैठकें चल रही थी कि प्रयाग में वीर क्रान्ति-कारी युवक श्री चन्द्रशेखर आजाद पुलिस से युद्ध करते हुए मारे गये। गांधी-अर्विन समझौते की पुष्टि के लिए कांग्रेस का अधिवेशन कराची मे मार्च के अन्तिम सप्ताह मे सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता मे करना निश्चित हुआ। कांग्रेस अधिवेशन के ठीक पहले प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार भगतसिंह, श्री सुखदेव तथा श्री बटुकेश्वर दत्त को फांसी दे दी गयी थी। इस कारण कांग्रेस के अधिवेशन का वातावरण क्षुब्ध रहा।

सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था कि फरवरी महीने में काशी मे हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया। उसमें पिताजी बहुत खतरा उठा कर शान्ति स्थापना के लिए शहर का दौरा करते रहे। हिन्दू और मुस्लिम सभी इनको बहुत आदर से देखते थे, इस कारण इनका बहुत अच्छा प्रभाव पडा। दंगा बहुत जल्दी ही शान्त हो गया। मार्च सन् १९३१ मे कराची में कांग्रेस हो रही थी कि कानपुर में भीषण हिन्दू मुस्लिम दंगे

का समाचार आया। उत्तर प्रदेश के वीर काग्रेसी नेता श्री गणेशशकर विद्यार्थी ने शान्ति की चेष्टा मे दंगा करने वालो के बीच मे अपने को डाल कर अपने प्राणों की आहुति दे दी। ऐसा कोई दूसरा उदाहरण उस समय भी देश ने उपस्थित नही किया था। कराची काग्रेस ने पिताजी की अध्यक्षता मे समिति नियुक्ति की जिसे इस दगे की जाँच करने और साम्प्रदायिक वैमनस्य को दूर करने के उपाय बतलाने का काम सुपुर्द किया गया। कई महीने कानपुर और काशी में रह कर इस समिति के सदस्यों ने पिताजी की अध्यक्षता मे लगातार काम किया और उसने अपना विवरण प्रकाशित किया जिसे सरकार ने फौरन ही जब्त कर लिया। इस समस्या के सम्बन्ध मे यह अनुपम विवेचन है। खेद है कि इसकी कोई प्रति उपलब्ध नही है। सरकार ने इसमें आपत्ति की क्या बात समझी, मैं नहीं कह सकता पर ऐसे दगो के लिए सरकारी कर्मचारियो की जो जिम्मेदारी है उसको तो अवश्य ही बतलाया गया है।

देश का वातावरण पूरे वर्ष विचलित ही रहा। इधर इग्लैण्ड में दूसरे गोलमेज सम्मेलन की तैयारी की गयी। गांधीजी पर चारों तरफ से बहुत जोर पडा कि काग्रेस इसमें अवश्य सम्मिलित हो। अन्त मे नही, हाँ कहते हुए गाधीजी ने वहाँ जाना स्वीकार किया और काग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि होकर वे गये। इस दूसरे गोलमेज सम्मेलन मे उनकी कोई बात वहाँ नहीं सुनी गयी। जो भारतीय लोग भी गये थे उनका समर्थन भी उन्हे नही मिला। वे खाली हाथ लौटे और आने के बाद ही गिरफ्तार हो गये। दूसरी ओर यदि ब्रिटिश राजकुमार के बहिष्कार का १९२१–२२ का आन्दोलन पहला सत्याग्रह आन्दोलन माना जाय तो इसे तीसरा सत्याग्रह मानना होगा।

दिसम्बर के अन्तिम दिनों में जब महात्माजी इग्लैण्ड मे ही थे, इटावा मे प्रादेशिक राजनीतिक (काग्रेस) सम्मेलन का अधिवेशन होने वाला था। उसका सभापति मैं निर्वाचित हुआ था। प्रदेश की सरकार की तरफ से हमें तार मिला कि सम्मेलन इसी शर्त पर होने दिया जा सकेगा कि उसमें लगान-बन्दी सम्बन्धी प्रस्ताव न लाया जाय। स्थिति पर विचार करने के लिए प्रादेशिक काग्रेस की कार्यकारिणी समिति प्रयाग मे बुलायी गयी और उसमें यह निर्णय हुआ कि सम्मेलन स्थगित कर दिया जाय। महात्मा गांधी के लौटने की प्रतीक्षा की जाय क्योंकि वे कुछ नये आदेश देने वाले हो सकते हैं और उनकी अनुपस्थिति मे हमे क्या निर्णय करना चाहिए, यह हम स्वय ही इस स्थिति में समझ न सकेंगे। इस समिति की बैठक के लिए श्री जवाहरलाल नेहरू बम्बई से विशेष रूप से आये हुए थे। महात्मा जी की प्रतीक्षा मे वे वही गये थे। समिति की बैठक के दूसरे ही दिन महात्मा गांधी के इग्लैण्ड से लौटने पर उनसे मिलने के लिए वे रवाना हुए। इलाहाबाद के बाहर ही रेल रोकी गयी और वे गिरफ्तार कर लिये गये। उनको शहर न छोडने का आदेश दिया जा चुका था। उन्हें और साथ ही साथ श्री तसद्दुक अहमद खा शेरवानी जो प्रदेश कांग्रेस समिति के उस समय अध्यक्ष थे और जो भी बम्बई जा

रहे थे, गिरफ्तार कर लिये गये। जवाहरलाल जी को दो वर्ष और श्री शेरवानी को छः महीने की कैद का दण्ड दिया गया। श्री शेरवानी ने हैरान होकर मजिस्ट्रेट से कहा कि क्या इसमे भी साम्प्रदायिक अनुपात रखा जाता है कि एक ही जुर्म के लिए मुझ मुसलमान को ६ महीने की और हिन्दू जवाहरलाल को दो वर्ष की सजा दी जाती है।

जनवरी १९३२ के अन्त मे मेरी ज्येष्ठ पुत्री का विवाह हुआ। यदि इटावा का सम्मेलन हुआ होता तो मैं विवाह के समय जेल मे रहा होता। पिताजी के पौत्रो, पौत्रियों मे यह प्रथम विवाह था और अवश्य ही बड़े समारोह के साथ सम्पन्न किया गया, यद्यपि राजनीतिक स्थिति और चारों तरफ होने वाली गिरफ्तारियों के कारण सबका ही चित्त खिन्न था। थोड़े ही दिनों बाद इटावा दिवस मनाते हुए मैं भी गिरफ्तार हो गया और साल भर के लिए जेल भेजा गया। जेल के भीतर और बाहर की ज्यादतियों के कारण पिताजी के चुनार के निवास मे काफी व्यतिक्रम रहा और वे बराबर काशी आते जाते रहे।

इसी बीच में ब्रिटिश शासन की ओर से आगामी राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे घोषणा हुई जिसमें हरिजनो को हिन्दू समाज से पृथक् करने का प्रस्ताव था। इस पर महात्माजी ने जेल से घोषणा की कि 'जैसा मैंने गोलमेज सम्मेलन मे कहा था यदि ऐसा किया जायगा तो मैं आमरण अनशन आरम्भ कर दूंगा।' इस पर चारो तरफ बड़ी सनसनी मच गयी और विभिन्न विचारो के लोगो की गोष्ठियाँ गाधी जी के चारों तरफ होने लगी। सुधारवादी शास्त्रज्ञो ने घोषणा की कि शास्त्रों के अनुसार स्नानादि से शुद्ध हरिजनों के देव-दर्शन से विग्रह अशुद्ध नही होते। शास्त्रों द्वारा यह सिद्ध करने के लिए कि समाज मे अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं है, पिताजी महात्मा गांधी के निमन्त्रण पर दिसम्बर १९३२ में पूना गये और प्रायः तीन सप्ताह रह कर प्रति दिन यरवदा जेल में उनसे मिलते रहे। दोनों पक्षो के विद्वानों से विचार-विमर्श होता रहा। पीछे शासन की तरफ से कोई आश्वासन न पाकर महात्माजी ने आमरण अनशन प्रारम्भ कर ही दिया। उस समय डाक्टर अम्बेडकर हरिजनों के नेता थे और शासन के पक्ष का समर्थन करते थे। आखिर लगातार लन्दन-दिल्ली-पूना के बीच बातचीत के बाद ऐसा समझौता हुआ जिसे महात्माजी मानने को तैयार हुए और यह काण्ड समाप्त हुआ।

सन् १९३२ के आन्दोलन का जोर सन् १९३४ तक समाप्त हो चुका था। महात्मा गाधी जेल से आने पर अपनी अधिकतर शक्ति हरिजन आन्दोलन मे लगाते रहे और इस सम्बन्ध मे काशी आकर २६ जुलाई से २ अगस्त तक ठहरे थे। काशी मे उनका यह सबसे लम्बा प्रवास था। उस समय देश के वायसराय लार्ड विलिंगडन थे। महात्मा गाधी ने कई बार इनसे मिलने की इच्छा प्रकट की थी पर उन्होने इनसे मिलना बराबर अस्वीकृत कर दिया। मैंने लार्ड विलिंगडन के एक भारतीय निकट मित्र से एक बार पूछा था कि वायसराय ऐसा अशिष्ट व्यवहार क्यों करते है।

इन मित्र ने उत्तर मे मुझसे कहा कि 'मैंने भी लार्ड विलिंगडन से इस बात को पूछा था।' उनका उत्तर था कि "गांधी इतना होशियार है कि मुझसे सादे कागज पर हस्ताक्षर करा लेगा और पीछे जो चाहेगा उस पर लिख देगा। मैं पीछे हजार कहता रहूँ कि मैंने ऐसा कभी नही कहा था तब भी कोई मेरा विश्वास न करेगा और सब यही कहेंगे कि गाधी ही सच कह रहा है। इस कारण मैं उनसे बहुत दूर रहना चाहता हूँ।"

इसी अवसर पर लार्ड विलिंगडन ने उस समय के विधानमण्डलों को, जिनका कार्यकाल बहुत दिनों से चला आ रहा था, तोड़ कर नये निर्वाचनों की घोषणा की। उनका कहना था कि कांग्रेस वाले केवल बाहर शोर करना जानते हैं मत की पेटी (बैलट बाक्स) के पास आने का उन्हे साहस नहीं है। जन-साधारण की सच्ची भावना तो यह पेटी बतलाती है। अग्रेजो को मत की पेटी पर बडी श्रद्धा है और उसके आदेश को ही देश और सर्व साधारण का आदेश वे मानते हैं न कि तथाकथित बडी-बडी सार्वजनिक सभाओ का। ऐसा मालूम पडता है कि प्रादेशिक राज्यपालो और उनके समर्थको ने केन्द्र से यह कहा कि कांग्रेस का जोर टूट गया है। नये निर्वाचन मे यह अवश्य हार जायगी। यद्यपि गाधी जी अब तक विधान मण्डलो के निर्वाचन का बराबर बहिष्कार करते रहे पर उन्होने इस चुनौती को स्वीकार किया और काशी मे कार्यसमिति की जो बैठक महात्माजी के हरिजन-दौरा के समय हुई उसने तय किया कि कांग्रेसजन आगामी चुनाव में खड़े हों। पिताजी से भी सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली (केन्द्रीय विधान सभा) के लिए निर्वाचन में खडा होने का आग्रह किया गया। अवश्य ही मित्रों का यह विचार रहा होगा कि इनका विरोध कोई नही करेगा और सरलता से एक स्थान कांग्रेस को मिल जायगा। ऐसा ही हुआ। जो उनके विरोध में खड़े हुए उन्होंने अपना पर्चा वापस ले लिया। पिताजी ने खड़े होने की स्वीकृति देते हुए साफ कह दिया कि "न मैं कही मत मांगने जाऊँगा और न एक पैसा खर्च करूँगा।" सन् १९३४ के अन्त मे निर्वाचन हुआ और सन् १९३५ के आरम्भ में नयी सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली की बैठकें आरम्भ हुई।

असेम्बली का वातावरण पिताजी की प्रकृति के बिल्कुल ही प्रतिकूल था। वाद-विवाद सम्बन्धी वहाँ के नियमादि, दलगत अनुशासन की पाबन्दी आदि उन्हे पसन्द नहीं थीं। इस प्रकार की सभा मे उन्होंने कभी काम नहीं किया था। अपने कर्तव्यों का वे अवश्य पूरी तरह पालन करते थे। ठीक समय से सभा भवन मे उपस्थित हो जाते थे। आवश्यकतानुसार बहुत ही कम उसके कार्य मे भाग लेते थे। वे अभीष्ट पुस्तकों को अपने साथ ले जाते थे। कागज कलम भी साथ रखते थे और असेम्बली की वीथी (लॉबी) मे ही समय व्यतीत करते थे। कभी उन्होंने कोई प्रश्न नहीं पूछा, जिन्हें पूछने में और जिनके द्वारा शासन के उच्चतम प्रतिनिधियों को, जिन्हें उस समय एक्जीक्युटिव कौंसिलर कहते थे. और जिनका स्थान अब मन्त्रियो ने लिया है तग करने मे सदस्यों को विशेष आनन्द आता है वे भाषण भी बहुत

कम देते थे।

कोई विशेष विषय उपस्थित हो जिसमें उन्हें रस हो तो वे बोलते थे नही तो चुप ही बैठे रहा करते थे। जब कभी अन्य सदस्यगण अथवा कांग्रेस दल के नेता उनसे किसी बात पर बोलने का आग्रह करते थे तब वे बोलते थे। उस समय काग्रेस दल के नेता श्री भूलाभाई देसाई, उपनेता श्री गोविन्दबल्लभ पन्त और मन्त्री (सचिव या सेक्रेटरी) श्री सत्यमूर्ति थे। ये सभी प्रवीण वक्ता थे। श्री भूलाभाई के भाषण की शैली बहुत ही सुन्दर और आकर्षक थी। श्री गोविन्दबल्लभ पन्त अपनी बुलन्द आवाज और ऑकडों की भरमार से काफी प्रभावशाली थे। श्री सत्यमूर्ति का असेम्बली की कार्यवाही मे प्रमुख भाग था। वे धाराप्रवाह बोलते थे। बडे परिश्रम से सब उपस्थित विषयों का अध्ययन करते थे और अपने प्रश्नों और उप-प्रश्नो से सरकार के प्रतिनिधियों को हैरान किये रहते थे।

पिताजी को मौखिक भाषण करने का जरा भी अभ्यास नही था। वे बडे भारी लेखक थे, वक्ता नहीं थे। जब ही उन्हें कुछ कहना होता था तो पहले से बडा परिश्रम कर अपना वक्तव्य लिख लेते थे और उसी को वे सुनाते थे। वे दिल्ली और शिमला दोनों ही स्थानों के सत्रों मे जाते थे। उस असेम्बली का मैं भी सदस्य था और उनके साथ रहने का मुझे पर्याप्त अवसर मिला। मेरा तो सारा समय असेम्बली के काम मे और उसके विविध दलो के सदस्यो से सम्पर्क स्थापित करने मे लगा रहता था। असेम्बली की कार्यवाही मे भी मैं काफी भाग लेता था। प्रश्न भी पूछता था। भाषण भी करता था। पिताजी नियमित रूप से व्यायाम के अर्थ सवेरे-शाम घूम आते थे और स्वतन्त्र रूप से पढने-लिखने मे ही अपना समय व्यतीत करते थे। इस प्रकार करीब ढाई वर्ष का समय बीत गया।

असेम्बली के बहुत पुराने सम्मानित और लोकप्रिय सदस्य उत्कल (उडीसा) के श्री भुवानन्द दास ने बाल विवाह के विरोध मे और विवाह की निर्धारित अल्पतम अवस्था को बढाने के उद्देश्य से विधेयक उपस्थित किया। साधारणत सभी विधेयक सरकार की तरफ से पेश किये जाते हैं। पर असेम्बली के प्रत्येक सत्र मे दो तीन दिन गैर-सरकारी सदस्यो को अपने विधेयक उपस्थित करने का अवसर मिलता है। उसी अधिकार का उपयोग करते हुए श्री भुवानन्द दास ने इस बाल-विवाह सम्बन्धी विधेयक को उपस्थित किया। पिताजी को ऐसे विषयो का विशेषज्ञ जानकर श्री दास ने उनसे आग्रह किया कि आप इस पर भाषण कीजिए।

विधेयक के सम्बन्ध मे विधान मण्डलो का नियम होता है कि उन पर तीन खण्डो मे विचार होता है जिन्हें वाचन (रीडिंग) कहते है। तब वे पारित होते हैं। औपचारिक रूप से उपस्थित किये जाने के बाद उसका प्रथम खण्ड में अर्थात् प्रथम वाचन या रीडिंग में उस पर साधारण प्रकार से बहस होती है। उसके आन्तरिक सिद्धान्तो का खण्डन-मण्डन किया जाता है और जब उसका प्रथम वाचन हो जाता है तब द्वितीय वाचन होता है जिसमे उसकी एक एक धारा पर बहस होती है इस

सम्बन्ध में आये हुए संशोधनो पर विस्तार से विचार होता है। पर कोई सदस्य उसी विषय पर दो बार नही बोल सकता। जब विधेयक द्वितीय वाचन के पार पहुँच जाता है और द्वितीय वाचन पारित हो जाता है तब तृतीय वाचन की नौबत आती है। सरकारी विधेयको का काम जल्दी हो जाता है पर गैर-सरकारी विधेयकों को खण्ड प्रति खण्ड पारित करने मे बहुत समय लग जाता है। श्री दास के दो खण्ड कुछ समय पहले ही समाप्त हो चुके थे। बहुत दिन पीछे तृतीय वाचन का अवसर आया जब उन्होंने पिताजी से भाषण करने का आग्रह किया।

पिताजी ने बड़े परिश्रम से और शास्त्रो की उक्तियो को विधेयक के भावों के समर्थन मे उद्धृत करते हुए अपना भाषण तैयार किया और उस दिन दल की तरफ से उनकी और सभा की सुविधा के लिए दल के नेता के स्थान पर उन्हे बैठाया गया। हम सभी उत्सुकता से उनके भाषण को सुनने गये थे। उन्होंने थोडी ही पक्तियाँ पढी जब मालूम नही अध्यक्ष सर अब्दुर्रहीम को क्या सूझा, उन्होंने यह कह कर कि यह सब बातें कही जा चुकी हैं, तृतीय वाचन मे नही कही जा सकती, पिताजी को रोका। पहले तो पिताजी ने उनकी सुनी अनसुनी कर पढ़ना जारी रखा। अध्यक्ष ने जब फिर रोका तब वे बैठ गये। सबको बडा आश्चर्य हुआ कि वे क्यो इस प्रकार रोके गये। तृतीय वाचन मे तो सब बाते फिर से कहने का मौका रहता ही है।

हरेक विधेयक के आरम्भ और पारित होने तक इतनी लम्बी चौड़ी प्रक्रिया का प्रबन्ध इसी कारण किया गया है कि विधेयक (बिल) को अधिनियम (एक्ट) का रूप देने के पहले उसका अच्छी तरह मथन हो जाय। उसके प्रत्येक पहलू पर, प्रत्येक शब्द, अक्षर और विराम चिन्ह पर सब लोग पूरी तरह विचार कर ले जिससे जब यह कार्यान्वित हो तो उसके द्वारा किसी के साथ अन्याय न हो और यथा-सम्भव सबके ही हित का साधन हो। विवादग्रस्त विधेयकों को तो विधानमण्डल के आदेश पर प्रथम वाचन के ही समय उस पर लोकमत जानने के लिए उसे प्रसारित किया जाता है। तब इसका सग्रह हो जाने पर फिर विचार किया जाता है। कभी उसे विधानमण्डल के कतिपय सदस्यो की विशिष्ट समिति के सामने भेजा जाता है जिससे कि उसकी धाराओ मे समुचित सशोधन कर उसे फिर से विचार करने के लिए उपस्थित किया जाय। साराश यह कि अधिनियम अथवा कानून को प्रतिष्ठित करने के पहले बहुत ही सूक्ष्मता से विचार कर लिया जाय।

इस सबको देखते हुए बड़ा आश्चर्य होता है कि अध्यक्ष ने पिताजी के उस भाषण को क्यों नही करने दिया और एक गूढ आवश्यक सामाजिक विषय पर प्रमुख विद्वान के मत को जानने से विधानमण्डल और ससार को भी वचित कर दिया। पिताजी को बडा क्षोभ हुआ। उन्होने थोडे ही दिनों बाद कांग्रेस दल के नेता के पास अपना त्यागपत्र भेज दिया जिससे कि वे उसे वायसराय के पास भेज दे। नियम यह था कि वायसराय के पास त्यागपत्र पहुँचते ही वह स्वीकृत माना जाता था और सदस्य विशेष का स्थान रिक्त हो जाता था

नेता श्री भूलाभाई देसाई उस पत्र को अपने पास रखे रहे। सबको ही यह आशा थी कि पिताजी आग्रह करने पर पुनः विचार करेंगे। एक तो दल ऐसे उपयोगी सदस्यो को खोना नही चाहता था और दूसरे वह एक नये उप-निर्वाचन की झंझट मे पडना नही चाहता था। पिताजी एक बार जो राय कायम कर लेते थे तब उसे बदलते नही थे। उनको उनके मत से कोई हटा नही सकता था। इस घटना के बाद वे फिर सदन में नही गये और कुछ दिन पीछे श्री भूलाभाई देसाई को उनका त्याग-पत्र वायसराय के पास भेजना ही पडा। तत्पश्चात् नियमानुसार उनके क्षेत्र से उप-निर्वाचन कर रिक्त स्थान की पूर्ति की गयी।

पिताजी के इस प्रकार के आजकल के विधानमण्डलों की कार्य-प्रणालियो से अप्रसन्न और विरक्त हो जाने के कारण मेरी समझ में एक बहुत बड़ी हानि हुई जिसकी सम्भावना उस समय नही की जा सकती थी। जब सन् १९४६ में यह निश्चय हो गया कि अंग्रेजो के शासन का अन्त होने वाला है और देश की भावी शासन प्रणाली को निश्चित करने के लिए संविधान परिषद् संघटित की गयी, उस समय अवश्य ही हमारे राजनीतिज्ञों की इच्छा थी कि पिताजी भी उसके सदस्य हों। परिषद् के निर्वाचित हो जाने पर परस्पर परामर्श से नेताओं ने यह भी तय किया कि जो सदस्यों में सबसे अधिक वृद्ध हो वही परिषद् का आरम्भ में सभापतित्व करे। पीछे स्थायी सभापति का निर्वाचन किया जाय।

संयोगवश बिहार के प्रसिद्ध न्यायविद् और अधिवक्ता डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा सबसे वृद्ध निकले और डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद के स्थायी अध्यक्ष चुने जाने तक उन्होंने ही अध्यक्षता की। वास्तव में पिताजी उनसे कुछ महीने बड़े थे, और यदि पिताजी ने सदस्य होना स्वीकार किया होता तो वे ही संविधान परिषद् के प्रथम अध्यक्ष हुए होते। खेद है कि उन्हें समुचित रूप से निमन्त्रित नही किया गया जैसा कि किया जाना चाहिए था। मैं उस समय काशी मे नहीं था। पीछे सुना कि प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मन्त्री की तरफ से कोई सहायक उनके पास पुर्जा लेकर गये जिसमे यह लिखा था कि 'आप साथ के पत्र पर हस्ताक्षर कर भेज दीजिये।' संविधान परिषद् की सदस्यता को स्वीकार करने के सम्बन्ध का वह पत्र था। पिताजी ने उसे वैसे ही लौटा दिया।

मुझे पीछे बहुत दुःख हुआ कि यह काम मुझे सुपुर्द नहीं किया गया और न पिताजी के पास कोई जिम्मेदार व्यक्ति ही भेजा गया। प्रान्तीय कांग्रेस समिति के मन्त्री ने अवश्य ही समझा होगा कि जैसे बहुत से लोग ऐसी सदस्यता के लिये लालायित रहते हैं वैसे ही ये भी होंगे और सहर्ष फौरन ही स्वीकृति पत्र पर हस्ताक्षर करके भेज देंगे।

यदि मुझे मौका मिलता तो मैं अवश्य पिताजी को समझाता कि आप स्वराज्य की व्याख्या करने और उसकी रूपरेखा तैयार करने के लिये पच्चीस वर्षों से आग्रह कर रहे हैं। अब जब ऐसा करने का वास्तव मे मौका मिला तो आप वहाँ क्यों चलने

से इन्कार कर रहे हैं। मेरा अब भी विचार है कि यदि उचित रूप से उनसे कहा जाता तो वे अवश्य परिषद् की सदस्यता स्वीकार कर लेते। उस समय की बातों की याद कर मुझे विशेष दु:ख इस कारण हो रहा है कि सब सदस्यों से अधिक वृद्ध होने के कारण वे परिषद् के प्रथम अध्यक्ष होते, और शासन के रूप के सम्बन्ध मे अपने आदर्शों को अपने प्रारम्भिक भाषण मे व्यक्त कर सकते।

अवश्य ही डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा का भाषण विद्वत्तापूर्ण था, पर वे आधुनिक शासन शैलियो के ही पण्डित थे, और उन्हीं के आधार पर अपने विचारो को उन्होने प्रकट किया था। पिताजी पुरातन शासन सम्बन्धी विचारों और आदर्शों का प्रतिपादन करते और बतलाते कि आज के युग मे भी लोक हित की दृष्टि से अपने देश मे किस प्रकार उनको कार्यान्वित किया जा सकता है। मैं यह जानता हूँ कि जिस प्रकार की परिषद् थी उसमे उनकी बातों का कोई अधिक प्रभाव न पड़ता और न वे ही उसके आगे के कार्यो मे अधिक योगदान देते, पर मेरी समझ मे यह छोटी बात न होती कि स्वतन्त्र भारत की सविधान परिषद् के प्रथम वयोवृद्ध दार्शनिक सभापति ने पुराने भारतीय आदर्शों और प्रणालियो का पुनरुद्धार किया और केवल अपने देश के लिये ही नही सभी देशों के लिये ऐसी योजना की रूपरेखा दिखलाई जिससे मनुष्य मात्र का कल्याण हो सकता है। पिताजी ने संविधान परिषद् की सदस्यता को अस्वीकार कर अपनी कोई हानि नही की। अवश्य ही उन्होने अपने को वहाँ के विवादपूर्ण वातावरण से बचाया, परन्तु उन्होने संसार को ही शासन सम्बन्धी एक ऐसे आदर्श को जानने से वंचित किया जिसे उसे जानना चाहिए था, और साथ ही अपने ही देश की पुरातन परम्परा को नये शब्दो मे देखने और जानने का अतुलनीय अवसर हमे नही दिया।

यदि विवेचना की जाय तो हमारे संविधान में कोई मौलिकता नहीं है। साइमन आयोग (कमीशन) के विवरण के परिणामस्वरूप जो सन् १९३५ भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया एक्ट सन् १९३५) बना था उसके आधार पर और इंगलैण्ड के संविधान के सिद्धान्तो और अमरीका के सविधान के आवश्यक अगो को ले कर हमने सविधान को बनाया है। यह भारत के लिये बना है पर उसमे भारतीयता छू भी नहीं गई है। कम से कम मुझे इसका दु:ख रह जायगा कि सविधान के सम्बन्ध मे उनके भाषण को सुनने का अवसर नही मिला।

ग्यारहवाँ अध्याय

योग क्षेम के साधन

अपने कुटुम्ब का इतिवृत्त देते हुए मैंने लिखा है कि हमारे पूर्व पुरुष बडे कुशल और साहसी व्यापारी रहे, और अठारहवी शताब्दी मे ऐसे समय जब देश मे चारो तरफ विप्लव मचा हुआ था, पुराने साम्राज्य गिर रहे थे और नये उठ रहे थे तथा विविध राजाओ, नवाबो आदि मे परस्पर का भीषण युद्ध मचा हुआ था, जब शान्ति और सुव्यवस्था का नाम भी नही था, उस समय इन महानुभावो ने भारतवर्ष के कोने-कोने में अपने व्यवसाय के केन्द्र स्थापित किये। इस्ट इण्डिया कम्पनी से इनका विशेष सम्पर्क रहा और सन् १७९९ के अंग्रेजो और टीपू सुल्तान के श्रीरगपट्टम के युद्ध मे इनको बहुत बड़ी धनराशि प्राप्त हुई। मैं यह भी बता चुका हूँ कि इसके अनन्तर देश के विविध भागों में इनकी कोठियो का कोई पता नही लगता और ऐसा ही प्रतीत होता है कि वे वापस काशी आ गये तथा काशी और कलकत्ता मे ही अपना व्यवसाय करते रहे। लखनऊ के नवाबों से भी इनके व्यवसायिक सम्बन्ध के दस्तावेज मिलते हैं।

श्री रंगपट्टम् के युद्ध के ठीक ७० वर्षों के बाद पिताजी का जन्म हुआ था। इस बीच मे पाँच पीढी के पूर्व पुरुष गत हो चुके थे। तथापि उस समय के सम्पत्ति स्तर के अनुसार हमारा कुल बड़ा सम्पन्न तथा वैभवशाली समझा जाता था। समाज मे इसकी बडी प्रतिष्ठा थी। पिताजी के पिता श्री माधवदास काशी के बड़े सम्मानित नागरिक थे। उनके चार पुत्र थे। पिताजी उनके द्वितीय पुत्र थे। मिताक्षरा विधान के अनुसार अपने पिता की सम्पत्ति के ये चतुर्थांश के अधिकारी थे। उस समय के आचार-विचारो की दृष्टि से यह पर्याप्त था। कम से कम पिताजी अपनी पैतृक सम्पत्ति से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट थे। उनको अधिक की अभिलाषा नहीं थी। जितना उन्हे मिला था उसका प्रबन्ध वे बड़ी सावधानी से करते थे, और अपना व्यय अपनी आय के भीतर ही रखते थे। इस प्रकार से उनके योग क्षेम के साधन थे : एक तो कलकत्ता के कटरा की आमदनी, दूसरा जौनपुर जिले के अन्तर्गत जमीदारी। दोनों स्थानों का पूर्ण चित्र पिताजी के मस्तिष्क मे सदा बना रहता था। वे कटरा की एक-एक दूकान और दूकानदार को जानते थे और जमीदारों के प्रत्येक गाँव की समस्याओ से परिचित थे, और सदा ध्यान मे रखते थे कि वहाँ कौन कैसा है।

जमीदारी के प्रबन्ध मे वे पर्याप्त उदारता बरतते थे। काश्तकारों के विरुद्ध उनके बहुत कम मुकदमे होते थे। यद्यपि जितना उन्हे पाने का कानूनन अधिकार था उतना वे वसूल करते थे। हाँ, यदि कोई काश्तकार किन्हीं कारणो से उजड जाता था, तो उसे फिर से बसने में वे सहायता देते थे। इस सन्दर्भ मे एक घटना मेरे हृदय मे अंकित है जिसको उद्धृत कर देना अनुचित न होगा। यह सन् १९०६ की बात है। मैं १६ वर्ष का था। पिताजी प्रथम बार मुझे जमीदारी पर ले गये थे। जमीदारी की छावनी अथवा केन्द्रीय कार्यालय जौनपुर नगर से करीब १४ मील दूर पर था। ९ मील तक सडक पक्की थी। उसके बाद ३ मील बहुत खराब कच्ची सड़क थी। वहाँ पर उतर कर करीब २ मील खेत की मेडों पर पैदल जाना पडता था। तब हम छावनी पहुँच सकते थे। पिताजी जौनपुर स्टेशन पर उतर कर किराये की गाडी पर ९ मील पक्की और ३ मील कच्ची सड़क किसी प्रकार पार करते थे। उसके बाद काफी तेजी से गाँवो की मेडों पर चलते हुए छावनी पर पहुँचते थे। अब तो सडको की बहुत मरम्मत हो गयी है। नयी सड़के भी बन गयी हैं। मोटरें चलने लगी हैं, और लोग अपेक्षाकृत सरलता से इस पुरानी छावनी तक पहुँच सकते है। लौटते समय गाँवो के इक्को की सवारी मिलती थी जिस पर वे वापस आते थे।

मुझे जब वे प्रथम बार ले गये थे तब वहाँ विजयदशमी की पूजा का अवसर था। गाँव के पण्डित पूजा कराते थे। उसके बाद काश्तकार लगान देने आते थे। लगान के प्रत्येक रुपये के लिये उन्हें पांच-पाँच लड्डू दिये जाते थे। दिन भर वसूली और लड्डू का वितरण जारी रहता था। उस अचल मे पिताजी ही सबसे बड़े जमीदार थे। आस-पास के छोटे जमीदार उनसे मिलने आते थे, और हर श्रेणी और जाति के काश्तकार उनके पास बैठकर उनको अपने दु:ख-सुख की कहानी सुनाते थे। जो कुछ वे उचित समझते थे उसके अनुसार वे अपने जिलेदार को आदेश दे देते थे। दो या तीन दिनों तक वहाँ रहकर जब वे चलते थे तब कितने ही काश्तकार उनको सडक तक पहुँचाने आते थे। १० वर्ग मील मे उनकी जमींदारी के दस गाँव फैले हुए थे। वे अपने दो या तीन दिनों मे सब गाँवो मे एक बार हो आते थे और प्राय सभी काश्तकारों से एक बार मिल लेते थे।

जिस साल उनके साथ मैं प्रथम बार गया था वे अपनी छावनी से कच्ची सडक तक आये। तब उनका असबाब इक्कों पर रखा गया और कच्ची सडक पर वे पैदल ही चले। उनके साथ जिलेदार और अन्य कर्मचारी भी थे, अधिकतर काश्तकार उन्हें पहुँचा कर लौट गये थे। जो दो चार लोग रह गये थे उनसे वे बातें करते चले जा रहे थे। एक आदमी उनसे कुछ दरख्वास्त कर रहा था जिसकी तरफ वे कुछ ध्यान नही दे रहे थे। वह किसी दूसरे गाँव से उद्वासा हुआ काश्तकार था। उस समय वह भूमिहीन हो गया था। वह यह प्रार्थना कर रहा था कि पिताजी के एक गाँव मे जो विस्तृत ऊसर की जमीन है उसमें से उसे कुछ दी जाय। पिताजी का ध्यान उसकी बातो पर नहीं जा रहा था वे दूसरों से अन्य बातों की चर्चा कर रहे

थे। इतने मे उन्होंने साथ चलने वाले सहायकों से कहा कि इक्के पर से मेरी कुबडी ले आओ। वह उनकी बडी प्रिय छडी थी और वर्षों मे उसे वे अपने पास रखते थे आत्म-रक्षा के लिए रात को बिस्तर में भी उसे रख लेते थे।

ऐसा मालूम हुआ कि उस कच्ची सड़क के किसी गड्ढे मे इक्के के पहिये मे धक्का लगने से वह कुबडी कही गिर गयी। इक्के पर नही थी। सब लोग आगे बढे पर वह आदमी बिना किसी के जाने पीछे दौड़ा और उस कुबडी (छडी) को वापस लाया। उसने बतलाया कि 'कोई आदमी इसे लेकर जा रहा था। उससे छीन कर लाया हूँ।' पिताजी बड़े प्रसन्न हुए। इस आदमी से जिसने अपना नाम कालू अहीर बतलाया, उन्होंने कहा कि 'यदि मैं औरंगजेब होता तो बंगाल का सूबा तुम्हे दे देता।' उसने अपनी कहानी सुनायी कि 'मै अमुक गाँव का उद्‌वासा हुआ काश्तकार हूँ। भूमिहीन हो गया हूँ। यदि आपके ऊसर की कुछ जमीन मुझे मिल जाती तो मैं बस जाता।' पिताजी ने वास्तव मे ऊसर की जमीन गोचर के लिये छोड रखा था पर उस समय उन्होंने जिलेदार को आदेश दिया कि यह जितनी जमीन चाहे इसको दे दी जाय। जिलेदार इस पर बहुत प्रसन्न नही हुए पर लाचार थे। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है वह आठ बीघे जमीन चाहता था, यह वास्तव मे उसने बारह बीघे जमीन घेर ली, जिलेदार कुछ कह भी नही सकते थे क्योंकि पिताजी ने उसकी इच्छा के अनुसार जमीन देने को कहा था।

उस ऊसर के बीच मे एक तालाब भी था। कालू अहीर ने तालाब के ही चारों तरफ जमीन घेरी। तालाब के भीटे पर पेड लगाये। दो कुयें खोदे। अथक परिश्रम से उसने उस मरुभूमि को सुन्दर बगीचे का रूप दे दिया। हर प्रकार का अन्न उसमें पैदा होने लगा। कालू अच्छा सम्पन्न काश्तकार हो गया पर अन्त तक उसने अपनी वही पुरानी चाल रखी। यह पकड़ी नाम का गाँव हमारी छावनी से करीब चार मील की दूरी पर था। जब भी मैं अपने गाँव जाता था वह अपने घर का दही लाकर मुझे अवश्य देता था। मुझे कालू से विशेष प्रेम रहा। मैं उसकी पुरानी कहानी भूल नही सकता था। जिस स्थिति मे पिताजी ने उसे स्थान दिया था वह मेरे हृदय मे अंकित था। जब भी मैं छावनी पर जाता था पकडी गाँव जाकर कालू से जरूर मिलता था। हमारी छावनी बूडापुर नाम के गाँव मे थी। उसके पडौसी गाँव रानीपुर के जमींदार श्री ब्रजकिशोर के घोड़े पर मैं अक्सर पकडी जाया करता था। ऊसर पर घोड़ा दौडता था और कालू से मिलकर लौट आता था। उसके उद्योग और सफलता को देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता था। उसमे मेरी विशेष श्रद्धा हो गयी।

पीछे उसकी बडी इच्छा हुई कि मैं उसके यहाँ भोजन करूँ। एक अवसर पर मैंने उसका आतिथ्य स्वीकार किया। गाँव के लोग भी यदि कुछ सम्पन्न हो जाते हैं तो अपनी स्त्रियों को पर्दा में रखने लगते है। कालू के यहाँ भी यही प्रथा आ गयी। घर की स्त्रियों ने खाना पका दिया, जब मैं खाने गया तब कालू ने ही खाना परसा। बडे प्रेम और आदर से मैंने उसकी रोटी दाल खायी। उसके पाँच लडके थे सबसे

बड़ा लड़का तो खेतीबारी मे पिता की मदद करता था और पिता की तरह छोटी सी धोती पहने रहता था, पर और लडको को कालू ने पास की पाठशाला मे भेजकर पढवाया था। वे लम्बी धोती और कुर्ता पहने हुए बेकार से खड़े थे। कालू ने कुयें से मेरे लिये पानी निकाला। इन लड़कों ने उसकी कोई सहायता नही की। कालू ने मुझे भी सहायता नही देने दी। लड़कों का नाम जगन्नाथ सिंह यादव आदि होगा। वे मुदर्रिसी के फेर मे इधर-उधर घूमने लगे। मेरे पास भी सिफारिशो के लिये आते रहे, पर कालू अहीर, कालू अहीर ही बना रहा। पीछे उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर मुझे बडा दु ख हुआ।

इस लम्बी कहानी को कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि एक तो मैं ग्रामवासियों की तरफ पिताजी की प्रतिक्रिया बतलाना चाहता था और साथ ही कालू की जीवनी से जो कौटुम्बिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ उठती है उनका भी उल्लेख करना चाहता था।

एक प्रकार से जमीदारी की प्रथा अपने देश मे बहुत पुरानी है। पुरातनकाल मे देश की सारी जमीन राजा की समझी जाती थी और राज्य की आय प्रधानत जमीन से ही होती थी। अपना कर या मालगुजारी एकत्र करने की सुविधा के लिए राजा व्यक्ति विशेषो को विशेष-विशेष अचलों का अधिकारी बना देता था, और वहाँ के कृषको से मालगुजारी एकत्र कर ये अधिकारी या ठेकेदार राजा का अंश उसके खजाने में जमा करा देते थे। ये अधिकारी खेती मे पैदा हुए अन्न का आधा वसूल करते थे, और उसका आधा खुद लेते थे और शेष राजा को देते थे। अर्थात् कृषक को आधा, राजा को एक-चौथाई और एक-चौथाई इस प्रतिनिधि या ठेकेदार को मिलता था। उस समय यह आवश्यक नहीं था कि यह अधिकारी वंश परम्परागत रूप से अपना पद प्राप्त करे। यह बदलता रहता था। यह एक प्रकार से राजकर्मचारी होता था, जिसका वेतन या पुरस्कार उसके अधीन जमीन मे उत्पन्न अन्न का चौथाई हिस्सा होता था।

अंग्रेजो का राज्य जैसे-जैसे बढता गया वैसे-वैसे उन्होंने भी अपनी सुविधा के लिये यही प्रथा जारी रखी पर धीरे-धीरे अठारहवी शताब्दी मे जमीदारी की प्रथा को प्रतिष्ठित किया और जमीदार वंश परम्परागत अधिकारी हो गये। इनके ऊपर स्थायी कर्मचारी के रूप मे कलेक्टर और तहसीलदार रखे गये। इनके नाम से ही स्पष्ट है कि इनका काम जमीदारो से मालगुजारी का सचय करना था।

संसार के सभी प्रकार के प्रबन्धों में गुण-दोष दोनों ही होते है। जमींदारी प्रथा में भी बहुत सी खराबियाँ आ गयीं और उसके उन्मूलन के लिये राजनीतिक पुरुषो की तरफ से जोर दिया जाने लगा। जमीदारी की प्रथा सारे देश मे भी नही थी। प्रधानत यह उत्तर के प्रान्तों में ही थी। अन्य प्रान्तों मे रैयतवारी प्रथा रही जिसमें रैयत अर्थात् काश्तकार या कृषक से बिना किसी जमीदारी की मध्यस्थता के राज्य अपना कर या मालगुजारी अपने कर्मचारियो द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वसूल कर

लेता था।

पर जमींदारों के कई गुण भी थे। एक तो राजा को अवैतनिक कर्मचारी जमींदारों के रूप में मिले थे जो उसका कर वसूल कर देते थे और उसको पूरा-पूरा समय से अदा करने के लिए जिम्मेदार थे। साथ ही ये जमींदार समाज में विशेष पद रखते थे। इनकी प्रतिष्ठा थी। राज कर्मचारी इन्हें मानते थे जिससे कि इनके कारण गाँवों में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने मे सुविधा होती थी। साथ ही जमींदारों को किन्हीं अन्य व्यवसायों में लगने की आवश्यकता न होने के कारण अवैतनिक रूप से सार्वजनिक कार्यों में वे अपना समय और ध्यान दे सकते थे। यह बात केवल बड़े-बड़े जमींदारों के सम्बन्ध में लागू नहीं होती, पर छोटे-छोटे जमींदारों के सम्बन्ध मे भी यह कही जा सकती है। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में काग्रेस के कार्य से निकट सम्पर्क रखने के कारण मे यह कह सकता हूँ कि यदि छोटे-बड़े जमींदार इसमे सहायता न दिये होते तो हम उतना काम न कर सकते जितना हमने किया।

पिताजी जमींदारी के उन्मूलन के विरुद्ध थे। यद्यपि आय की दृष्टि से व्यक्तिगत रूप से इसमे उनकी कोई अधिक हानि नहीं होती थी, परन्तु राज्य और समाज के हित की दृष्टि से ही उनका ऐसा विचार था कि जमींदारी की प्रथा उपयोगी है। जब जमींदारी उठ गयी तब गाँवों से हमारा सम्बन्ध भी टूट गया। मेरे काशी के घर से जमींदारी की छावनी ठीक ६० मील की दूरी पर थी। पिताजी ने अपनी सीर के लिए बहुत कम जमीन रखी थी। जमींदारी उन्मूलन के बाद जो जमीन छावनी से दूर थी वह तो बेच दी गयी और छावनी के चारों तरफ जो ऐसी जमीन थी उनके आदेशानुसार उनके निधन के बाद प्रदेश के शासन को दे दी गयी जिस पर कन्या पाठशाला, चिकित्सालय आदि सार्वजनिक संथाएँ बनायी जा सके। प्रदेश के उस समय के मुख्य-मन्त्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द ने इस उपहार को सहर्ष और सधन्यवाद स्वीकार किया और पीछे उन्हीं के हाथों इस स्थान पर स्थापित सार्वजनिक संस्थाओं का उद्‌घाटन हुआ।

वास्तव मे पिताजी की आय का बहुत थोड़ा अंश जमींदारी से आता था। मैंने सुना था कि तीन पुश्त पीछे जब कुटुम्ब में बँटवारा हुआ था तो जमींदारी का अधिकतर भाग किन्हीं दूसरी शाखा में गया था। पिताजी की आमदनी का विशेष साधन कलकत्ता का पुश्तैनी कटरा था जिसकी कहानी मे पहले कह चुका हूँ। मेरे पितामह श्री माधव दास दो भाई थे। उन दोनो के बीच इसका विभाजन उत्तर खण्ड और दक्षिण खण्ड में हो चुका था। हमारी शाखा का दक्षिण खण्ड है। इसकी चार मंजिलें हैं और चारों मंजिलों में सब मिलाकर करीब साढे तीन सौ दुकानें हैं। सब मंजिलों में दुकानें भरी हुई है। यद्यपि साधारण तौर से ऐसे कटरों में केवल सबसे नीचे की मंजिल में ही दुकानें रहती हैं और ऊपर गृहस्थी का निवास बनाया जाता है, इस कटरे की काफी धाक और करीब दो सौ वर्षों का होने के कारण काफी प्रतिष्ठा है। बीकानेर जयपुर आदि राजस्थान के प्रमुख स्थानो से व्यापारियों ने इसमे

दुकानें की और आरम्भ में छोटी हैसियत के होते हुए भी पीछे पर्याप्त रूप से धनाढ्य हो गये। कुछ दुकानें तो एक ही कुटुम्ब मे सौ-सौ वर्षों से चली आ रही है। पिताजी यहाँ की एक-एक दूकान को जानते थे और कितने ही दुकानदारो के वशों की कहानी सुनाया करते थे। यहाँ के दुकानदारो को न जाने क्यो रैयत कहा जाता है और किरायेदार दुकानदारों का कटरा के मालिकों से सदा ही बड़ा मीठा सम्बन्ध रहा। किसी समय पिताजी ने स्वय इसका प्रबन्ध किया था पीछे कुटुम्ब के युवक सदस्यो को यह काम सौपा गया।

जब पिताजी कलकत्ता जाते थे तो यहीं कटरा में ठहरते थे और वहाँ के जितने ही किरायेदार (दुकानदार) थे उनका बड़े आदर से स्वागत करते थे और उन्हे देखकर प्रसन्न होते थे। पिताजी और उनके कुटुम्ब के योगक्षेम का यही विशेष रूप मे साधन कई पुश्तों से रहा है।

पिताजी का ऐसा विचार था कि सबको जीविकोपार्जन के लिए एक ही व्यवसाय रखना चाहिए। कई व्यवसायो मे लगना उचित नही है। इस कारण यद्यपि उन्होने बहुत सी पुस्तकें लिखीं वे उन पर अपना कोई अनन्याधिकार (कापीराइट) नही रखते थे। अपनी तरफ से उन्होंने सबको ही इन पुस्तकों को छापने का अधिकार दे दिया था। यदि इसमे उन्हें कुछ धन (रायलटी) मिलता था तो वे दान में शिक्षा सस्थाओ आदि को दे दिया करते थे। कभी-कभी विश्वविद्यालय उन्हें दर्शन का परीक्षक बनाते थे, तो उससे प्राप्त शुल्क भी इसी प्रकार वे दे देते थे। कुतूहल की बात है कि उनकी विद्वत्ता और आध्यात्मिकता से प्रेरित होकर बहुत से लोग उनसे अपने पुत्रों को यज्ञोपवीत देने का आग्रह करते थे, और उन्हें औपचारिक दक्षिणा के रूप मे धन उनके पास छोड़ जाते थे। यह भी दान खाते जाता था।

उनका एकमात्र व्यवसाय अर्थात जीविका का साधन गाँव की जमीदारी और कटरा की आमदनी थी। इसी से वे सन्तुष्ट थे, इसी के द्वारा वे घर-गृहस्थी चलाते थे, और अपना सार्वजनिक काम भी करते थे। सब सार्वजनिक कार्य नि.शुल्क ही किया करते थे और सार्वजनिक कार्यों के लिए वे यदि बाहर जाते थे तो उसका सब व्यय स्वय ही उठाते थे। उनका यह अटल विश्वास था कि उनके पूर्व पुरुषों ने अपने साहस और उद्योग से धन का अर्जन किया था जिसे वे अपने वशजो के लिए सदा के लिए छोड गये। उनके पुण्य प्रताप के प्रति पिताजी की बडी श्रद्धा और भक्ति थी और साह मनोहर दास का बनाया हुआ और उनके नाम से प्रसिद्ध कटरा मे उन्हे विशेष प्रेम था और वे कुटुम्ब के नवयुवकों को बीच-बीच मे एकत्र कर उनको यह शिक्षा देते थे कि परस्पर का सौहार्द और स्नेह सदा बनाये रखना और उनसे प्रण भी कराते थे कि वे वैसा ही करेगे।

एक बार वे सड़क की तरफ की कटरे की छत पर प्रातः काल टहल रहे थे. जब कोई यात्री हुगली मे स्नान करने के लिए (जो कटरे के पास मे बहती है) यह गाते हुए जा रहा था

बड़े-बड़े ये महल खड़े हैं,
लोग कहें यह मेरा ।
क्षण मे काल गिरादेगा,
ना घर मेरा ना घर तेरा ।

उसी समय पिताजी ने नीचे लिखी पंक्तियाँ बनाकर सुनायी—

पुण्य कर्म की नींव खम्भ,
अरु भीतिन का यह डेरा है ।
जब लौं डिगे नहीं यह,
तब लौ कालहु का नहिं बेरा है ।

उनका यह विश्वास और कहना था कि उनके पूर्व पुरुषों की यह पुण्य की कमायी है और जब तक कुटुम्ब मे उनकी परम्परा का पालन होता रहेगा, तब तक उसके सदस्यो को किसी से किसी प्रकार का भय नही हो सकता ।

बारहवाँ अध्याय

गार्हस्थ्य जीवन

जैसा मैं लिख चुका हूँ उस समय की प्रथा के अनुसार पिताजी का विवाह केवल १५ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। मेरी माता १० वर्ष की ही थी। वे ठीक २० वर्ष के थे जब उनकी पहली सन्तति मेरी बडी बहिन शान्ता का जन्म हुआ। उनका और पिताजी का जन्म दिवस एकही अर्थात् मौनी अमावस्या (माघ कृष्ण ३०) है। अपने एक भाई और एक बहिन की मृत्यु के सम्बन्ध में मैं लिख चुका हूँ। हम दो भाई और दो बहिन उनके निधन तक उनके पास रहे। माता जी का देहावसान उनके निधन के ६ महीने ही बाद हो गया। मृत्यु के समय पिताजी की अवस्था करीब नब्बे वर्षो की थी और माताजी की करीब पचासी। यद्यपि पिताजी को किसी न किसी प्रकार की शारीरिक व्यथा प्रौढावस्था से घेरे रहती थी तथापि साधारण दृष्टि मे मृत्यु के दो वर्ष पहिले अर्थात् ८८ वर्षो तक उनका स्वास्थ्य अच्छा ही कहा जा सकता था। उनके सिर के बाल अन्त तक काले थे यद्यपि दाढी सफेद हो गयी थी। उनकी मृत्यु के करीब ठीक दो वर्ष पहिले मेरे द्वितीय पुत्र तपोवर्धन का सुदूर दुर्घटना बंगलौर मे सहसा देहावसान हुआ। वे बड़े कुशल हवाई जहाज के चालक थे। एक दुर्घटना मे उनके हाथ की हड्डी टूट गयी थी। उसके अच्छे होते-होते वे घोडे से गिरे, जिसमे पैर की कई हड्डियाँ टूटी। इसके बाद एक न एक रोग उन्हें घेरे हुआ था, और ३२ वर्षों की अल्पायु में ही उनकी इहलीला समाप्त हो गयी।

इसका पिताजी को बहुत बडा धक्का लगा। यह उनके सबसे प्रिय पौत्र थे। पिताजी छोटी ही अवस्था में सभी मण्डलियों में सम्मानित हो गये थे। सभी लोग उन्हें बड़ा कर मानते थे। उनका रूप ही कुछ ऐसा था। जो मित्रगण उनसे उम्र मे बडे भी थे वे भी उन्हें अपने से बड़ा ही समझते थे। शायद ही कोई उनसे हँसी-मजाक करता रहा हो। छोटे तो कुछ दूर ही दूर रहते थे पर तपोवर्धन उनके साथ हँसी-मजाक भी करते थे। उनसे बहस करते थे। उन्हें गलत सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे, उनकी कुर्सी पर जाकर बैठ जाते थे जैसा किसी दूसरे को करने का साहस नहीं होता था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि पिताजी को उनकी मृत्यु के बाद किसी तरह भी सान्त्वना नही मिली और उनको यह समझ नहीं आ रहा था कि उनका पौत्र उनके सामने कसे चला जा सकता था यद्यपि वे कुछ कहते नहीं थे पर उनके मुख

आश्चर्य प्रकट करता था कि आप जैसे विद्वान दार्शनिक को वियोग का दुःख क्यों हो रहा है तो वे कहते थे कि 'मै वेदान्ती हूँ पर इसका अर्थ यह तो नही हो सकता कि मेरी जिह्वा पर कोई मिर्चा रख दे तो मुझे तीता न लगेगा।'

वास्तव मे वे इसके बाद चारपाई पर पड़ ही गये। बहुत कम उठ पाते थे। टहलना आदि सब बन्द हो गया। पलग पर पडे-पड़े माला जपते थे तथा धार्मिक ग्रन्थो की पुनरावृत्ति करते थे। उनको उस अवस्था में देखकर सबको ही बहुत दुःख होता था। बहुत से लोग उन्हें देखने और उनसे मिलने आते थे। बहुत चिकित्सा हुई पर वे उठे नही। उनको इस बीच में हृदयरोग के करीब ३२—३३ दौरे हुए। साधारण तौर से यह समझा जाता है कि तीन से अधिक दौरा कोई बरदाश्त नही कर सकता। उसके बाद अवश्य मृत्यु हो जाती है, पर पिताजी की शारीरिक सम्पत्ति इतनी प्रबल थी कि वे इतने दौरे से भी बचते ही गये और थोडी-थोड़ी देर अचेतन रहकर जाग जाते थे। इनकी मृत्यु भी हृदयरोग के दौरे से नहीं हुई, परन्तु गुर्दा या वृक की अक्षमता के कारण हुई। कुटुम्बीजनो और चिकित्सकों ने भी उनकी लगातार बडी सेवा की, परन्तु अपरिहार्य मृत्यु सबको ही एक न एक दिन ले ही लेती है। पिताजी से अधिक रुग्ण मेरी माता थी और मुझे इसका दुःख रहा और है कि उनकी रुग्णावस्था में मैं अपने माता-पिता की कुछ भी सेवा न कर सका। मद्रास और बम्बई के राज्यपाल के पद पर भेजे जाने के कारण काशी से दूर ही दूर बराबर रहा। बीच-बीच मे उन्हे आकर देख जाता था और चिकित्सा आदि का पर्याप्त प्रबन्ध करने का प्रयत्न करता था।

उन दिनों मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि पिता और माता में यह प्रतिद्वन्द्विता हो रही है कि कौन पहले जाय। दोनो ही चाहते थे कि मैं पहिले जाऊँ। जीत पिताजी की हुई। पूर्व वर्षों मे कई बार माताजी मरणासन्न हो चुकी थी पर बच-बच जाती थीं। पिताजी की मृत्यु के बाद वे उनके कमरो मे घूमा करती थी, उनके चित्रो के सामने खडी होकर कुछ सोचा करती थी। संसार मे उन्हें कोई रस नही रह गया था। हम सब उनसे कहते थे कि 'हमारे हित के लिए आप बनी रहें', पर वे गलती ही गयी। अपने पति के जाने के नौ महीने बाद वे भी चली गयी। इस बीच में उन्हें एक बहुत बडा आघात भी सहना पडा। मेरे छोटे भाई चन्द्रभाल जी के सुयोग्य पुत्र शशिभूषण का जो उत्तर प्रदेश मे एक्जीक्यूटिव इन्जीनियर थे, रेल के डिब्बो के बीच में दबकर सहसा दुःखद देहावसान हो गया था। इससे माता को विशेष कष्ट हुआ और वे इस दुर्घटना के तीन मास के भीतर चली गयी। पिता और माता का पचहत्तर वर्षों का वैवाहिक जीवन समाप्त हुआ। अपने जीवन काल मे मेरे पिता-माता को अपने दोनो दामादों की असामयिक मृत्यु की वेदना सहनी पडी। बडे दामाद श्री ब्रजचन्द्र जी तो सन् १९१४ मे ही २८ वर्ष की अल्पावस्था में चले गये। आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता प्रसिद्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ये भतीजा थे और स्वयं भी हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे छोटे दामाद श्री महावीर प्रसाद की मृत्यु सन्

१९४४ मे हुई। ये मेरठ के प्रतिष्ठित नागरिक और लोकप्रिय सार्वजनिक कार्यकर्त्ता रहे। उनकी अवस्था उस समय ५० वर्ष की ही थी। बड़े दामाद की मृत्यु के समय से ही मेरी माता ने अपनी बडी पुत्री के दु ख की सहानुभूति मे स्वय उन आभूषणों को पहनना छोड़ दिया था जो विवाहित स्त्रियो के लिए एक प्रकार से अनिवार्य माने जाते रहे।

गृहस्थी के सम्बन्ध में पिताजी के विचार प्राचीन और अर्वाचीन विचारो का एक प्रकार से समन्वय था। उनका व्यवहार अपने कुटुम्ब के प्रवन्ध के सम्बन्ध मे एक तरफ यदि दृढ अनुशासन का था तो दूसरी तरफ सबसे सबके भावों के साथ पूर्णरूप से सहानुभूति रखने का भी था। उनका निज का जीवन बहुत सादा था। उन्होने अपने मकान को कभी भी यूरोपीय ढग से नहीं सजाया। जमीन पर गलीचो के बिछाने और गद्दीदार सौफा आदि से उन्होंने बराबर परहेज किया। वे पुराने प्रकार के तख्त पर गद्दी चाँदनी बिछाकर और तकिया के सहारे बैठकर अपने लिखने-पढने का काम करते थे। बैठने की कुर्सियाँ उनकी साधारण बेंत और काठ की ही होती थी। वे स्वय सुतली की ही चारपाई पर सोते थे। घर मे एक-दो निवाड के पलग मेहमानों के लिए रहते थे।

ये सब चारपाइयाँ हल्की होती थी जो सरलता से उठायी जा सकती थी और बाहर-भीतर की जा सकती थी जिससे कि ग्रीष्म ऋतु में बाहर मैदान मे, वर्षा ऋतु मे दालान मे, और शीतऋतु में कोठरी के भीतर ले जायी जा सकें। इनके बिस्तर भी बहुत सादे प्रकार के होते थे जिन पर साधारण दरी, गद्दी और चाँदनी बिछायी जाती थी। ऋतु के अनुसार ओढने के लिए चादर, कम्बल, दुलाई और लिहाफ का प्रयोग करते थे। वे शुद्ध शाकाहारी थे, और यद्यपि भोजन सादा बिना मसाले का रहता था, पर काफी उच्च स्तर का होता था। उनके भोजन मे घी का काफी प्रयोग किया जाता था और मिठाई, फल, पर्याप्त मात्रा मे खाया जाता था। एक साथ कई रसों के मिश्रण के वे विरुद्ध थे और एक समय एक ही रस का भोजन पसन्द करते थे। जो साधारण प्रकार से लोग खट्टा, मीठा, तीता आदि सभी रसों का एक साथ सेवन करते हैं, वह उन्हें पसन्द नहीं था। उदाहरणार्थ उन्हें कच्ची मटर और कच्चे चने खाने का बडा शौक था। पर जब वे इसे खाते थे तो थोड़ा नमक के साथ इसे ही आकण्ठ खाते थे। इसके साथ किसी दूसरे पदार्थ को नही खाते थे। बाजार की मिठाई के अतिरिक्त और किसी दूसरे पके हुए बाजार के भोजन का वे प्रयोग नही करते थे। चाट आदि जो बालको और युवकों को इतना पसन्द है, उससे तो वे पूर्णरूप से अनभिज्ञ ही थे।

हमारे प्रदेश मे बहुत सी जातियों में भोजन मे कच्चे-पक्के भोजन का भेद किया जाता है, अर्थात् घी में पकाये पदार्थो जैसे पूरी-कचौरी को पक्का और रोटी दाल चावल आदि को कच्चा माना जाता है। कच्चा भोजन विशेष विधि के साथ लोग खाते हैं और किसने पकाया कैसे पकाया आदि के सम्बन्ध मे विचार रखते हैं।

इतने बन्धन पक्के भोजन के सम्बन्ध में नहीं किये जाते। हमारे कुल में भी इसका विचार किया जाता था। कच्चा भोजन अक्सर चौके (अर्थात् रसोई घर मे) ही किया जाता था। पक्का भोजन कहीं भी किया जा सकता था। पिताजी भी इस नियम का पालन करते थे, और वे बहुत काल तक दोपहर की कच्ची रसोई चौके मे ही खाते थे। माताजी तो अन्त तक उसी प्रथा का निर्वाह करती रही। पिताजी ने इस क्रम को छोड़ दिया था। वे अकेले भोजन करना पसन्द करते थे। सब कुटुम्बी जनो को अपने साथ बिठलाकर वे विशेष अवसरो पर ही भोजन करते थे। भोजन को सामाजिक प्रसग नही मानते थे जैसा यूरोपीय सस्कृति में माना जाता है।

भोजन के समय बातचीत करना वे बिल्कुल ही नापसद करते थे। उनका कहना था कि भोजन मे ही दत्तचित्त होकर भोजन करना चाहिए। इसी से वह पचता है। वे एक-एक कौर को बहुत कूच-कूचकर खाते थे और ऐसा ही करने की सबको सलाह देते थे। दाँत का काम पेट को देना वे स्वास्थ्य के लिए भयावह समझते थे।

पिताजी का विचार था कि यह नहीं समझना चाहिए कि निकट से निकट सम्बन्धी एक-दूसरे के पास ही सदा रहना पसन्द करते हैं। सब का ही पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व होता है, उनके पृथक्-पृथक् मित्र होते है और अपनी-अपनी मण्डली सभी खोजना चाहते हैं। ऐसे विचार से उन्होंने एक प्रकार से छोटे-छोटे अलग-अलग मकान अपने उद्यान के अहाते मे बनवाये। और हरएक स्त्री पुरुष सदस्य के लिए पृथक्-पृथक् स्थान निर्धारित किया। उनका कहना था कि यदि कोई किसी से मिलना चाहे मिले, न मिलना चाहे न मिले।

यद्यपि इस प्रकार में बहुत से गुण हैं और किसी सदस्य को किसी दूसरे सदस्य से शिकायत करने का यथासम्भव कम अवसर होता है, तथापि इसकी यह अवश्य खराबी है कि सारे कुटुम्ब को २४ घण्टों मे एक बार एकत्र होने और एक-दूसरे से अपने-अपने सुख-दुःख को कहने का और एक-दूसरे को निकट से जानने का अवसर नही मिलता। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे कुटुम्ब मे परस्पर के सौहार्द की कमी थी। कम से कम पिताजी से तो सभी लोग अपनी गूढ़ से गूढ कठिनाइयों के सम्बन्ध मे सलाह लेने जाते थे, और बिना सकोच उनसे सब बाते कहते थे चाहे उनकी परेशानी शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा आध्यात्मिक हो। वे अपने कुटुम्बी जनों की सब बातें सहानुभूति के साथ सुनते थे, और अच्छी व्यावहारिक सलाह देते थे। कितने ही बाहर के लोग भी बड़ी श्रद्धा से उनके पास आते थे, अपनी कौटुम्बिक और अन्य कठिनाइयाँ उन्हें बतलाते थे और उनसे परामर्श लेते थे।

पिताजी के ऐसे लोगों के प्रायः चारों तरफ भक्तजनों की मण्डलियाँ एकत्र हो जाती है। पर वे किसी को इस प्रकार अपने पास आने नही देते थे। जो उनसे किसी दार्शनिक विषय पर अध्ययन करने के लिए आना चाहते थे उन्हें भी अपना

प्रबन्ध अलग से स्वयं ही करना पड़ता था। वे किसी प्रकार से उनके लिए जिम्मेदारी नही ही लेते थे। बौद्धिक रूप से उनका अध्यापन कर देते थे और उनकी शकाओ का समाधान करते थे। इस दृष्टि से वे अत्यन्त व्यक्तिवादी थे। वे व्यर्थ की बहस बिल्कुल नापसन्द करते थे और कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता था कि जो उनके मत के विरुद्ध कुछ अपनी राय देता था, उससे वे रुष्ट भी हो जाते थे। प्रायः सभी बातो पर उनका निश्चित मत रहता था। अवकाशानुसार उसे वे प्रकट करते थे। उनसे बहस की गुजाइश बहुत कम रहती थी और यह कहकर वे गोष्ठी समाप्त कर देते थे कि 'यही ठीक नही है, यह भी ठीक है।'

गार्हस्थ्य जीवन मे आय-व्यय की बहुत बड़ी समस्या सभी के सामने सदा लगी रहती है। वे कहा कहते थे कि मनुष्य को अपनी आय की एक-चौथाई मे अपने दिन-प्रतिदिन का खर्च चलाना चाहिए। एक-चौथाई बीमारी आदि ऐसे अवसरों पर व्यय के लिए रखना चाहिए जिसका पहिले से अनुमान न हो सके। एक-चौथाई विवाह आदि ऐसे अवसरों के लिए सुरक्षित रखना चाहिए जिससे कि जब ये आये तो परेशानी न उठानी पडे, और एक-चौथाई अपनी वृद्धावस्था के लिए सुरक्षित रखना चाहिए जिससे कि उस उम्र मे भी कोई किसी दूसरे पर—पुत्रादि पर भी—भार न हो।

यह प्रकार बहुत कम लोग वास्तव मे बरत सकेंगे क्योंकि बहुत से लोगों की तो इतनी आय ही नहीं होती कि वे प्रतिदिन के व्यय को ही सम्भाल पावें और सभी अवसरों पर उन्हें कष्ट उठाते ही रहना पड़ता है। जब मैं विचार करता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि पिताजी ने अपने जीवन मे अपने सिद्धान्त के ही अनुसार कार्य किया। अपनी आर्थिक स्थिति में वे ऐसा कर भी सके। वे अपने दिन-प्रतिदिन के व्यय पर पर्याप्त नियन्त्रण रखते थे। कभी किसी आवश्यक वस्तु की कमी नही होती थी, न कोई अनावश्यक चीज खरीदी ही जाती थी। वे कहते थे कि जीवन के लिए कुछ अनिवार्य आवश्यकताएँ होती हैं, कुछ आराम की सुविधाएँ होती है और कुछ ऐश की अथवा विलास की वस्तुएँ होती है। अग्रेजी में वे इनको क्रमश. नैसेसिटीज, कम्फर्ट्स, और लक्सरीज कहते थे। जीवन-निर्वाह के लिए जितनी आवश्यक वस्तुएँ थी, उनकी उनके यहाँ कमी कभी नहीं रही। भोजन वस्त्र आदि तो थे ही, साथ ही उनके ऐसे विद्या-व्यसनी के लिए पढने-लिखने के सब साधन भी अर्थात् पुस्तकें, कलम, कागज, आदि भी उनके पास पर्याप्त मात्रा में रहते थे। उनके लिए यह सब आवश्यक था।

साथ ही वे शरीर को पर्याप्त आराम देते थे। वे व्यर्थ का शारीरिक कष्ट उठाने को तैयार नही होते थे। उनकी सब वस्तुएँ साधारण दृष्टि से बहुत सादी थी। शारीरिक आराम और सुविधा के लिए ये यथेष्ट थी। जहाँ तक ऐश अथवा विलास की बात है, उसकी तो उनके पास किसी प्रकार की सामग्री नही थी न वे उसका सग्रह करना ही पसन्द करते थे वे उचित के ही

लिए उद्यान में रहते थे। गाड़ी घोड़े रखते थे, पर इन सबमें पर्याप्त आराम पाते हुए भी विलासिता का लेशमात्र भी समावेश उनके जीवन मे नही था। पुस्तको का उन्हे बहुत शौक था और वे विविध विषयों की बहुत सी पुस्तकें खरीद कर उनका बराबर सग्रह करते थे।

उनके पुस्तकालय की यह विशेषता थी कि उसमें की प्राय सभी पुस्तके उनकी पढी हुई थी। आलमारियो मे पुस्तके बडी तरतीब से रखी रहती थी, और उन्हे यह भी स्मरण रहता था कि कौन पुस्तक कहाँ है। इससे आवश्यकता पडने पर उन्हे अभीष्ट पुस्तक फौरन मिल जाती थी। पुस्तकें वे बड़ी सावधानी से पढते थे। बडी सफाई से हाशिये पर टिप्पणी लिखते थे। पुस्तकों की अनुक्रमणिका स्वयं बनाते थे, और यदि पुस्तक में छपी अनुक्रमणिका में कोई छूट मिल जाती थी तो उसे स्वयं पूरा कर देते थे। यदि कही अशुद्धि रहती थी तो उसे ठीक कर देते थे, और यदि किसी बात की पुनः चर्चा किसी एक ही पुस्तक मे आगे या पीछे रहती थी तो हाशिये में उसका उल्लेख कर देते थे। उनकी पढी हुई पुस्तक पढने के अन्त मे भी वैसी ही रहती थी जैसी आरम्भ करने के समय होती थी। पुस्तको या किसी वस्तु के साथ दुर्व्यवहार वे नही करते थे। छाता, छडी, कलम, दावात आदि सब उनके निर्धारित स्थान पर ही सदा रहते थे।

पुस्तकों की जिल्द प्राय: पत्रों से नीचे ऊपर बाहर निकली रहती है। उससे उन्हे बड़ी आपत्ति थी। जैसा देखा गया है आलमारियो में बहुत दिनो तक पडी रहने के बाद मोटी पुस्तकों के भीतर के सब पन्ने अपने बोझ से आगे जिल्द के बाहर निकल आते हैं। पिताजी का ख्याल था कि जिल्द के किनारे और भीतर के पन्नो के किनारे बराबर होने चाहिए जिससे जिल्द पन्नो को लगातार सम्भाले रहे। जिन पुस्तको की वे जिल्द स्वय बनवाते थे या मरम्मत करवाते थे, वे इसी प्रकार की होती थी। इस भय से कि उनकी पुस्तकों की फिक्र उनके बाद न हो सकेगी, उन्होने अपने वृहत् पुस्तक भण्डार को अपनी मृत्यु के पहले ही काशी के विश्वविद्यालयों में बाँट दिया।

विभिन्न विषयो का उनको इतना सूक्ष्म ज्ञान था कि ऐसा प्रतीत होता था कि वे सब कुछ जानते हैं, और किसी भी विषय पर उनसे कोई भी बात-चीत कर लाभ उठा सकता था। उनकी धारणा शक्ति भी अन्त तक विलक्षण बनी रही। सम्भवत. दो-तीन उदाहरण असंगत न होगे और पाठको को इनसे कुतूहल भी होगा। जब सन् १९४१ में उन्हें यकायक प्रोस्टेट का कष्ट हुआ और काशी के नवयुवक डाक्टर बहुत परेशान हुए क्योकि उसके पहिले उन लोगों ने ऐसे रोग की चिकित्सा नहीं की थी, पिताजी ने उनसे कहा कि मेरे पुस्तकालय की अमुक आलमारी की अमुक टाड (शेल्फ) पर ग्रेज एनाटमी नामक पुस्तक निकालिए। उसमें मेरे रोग का आपको पता लग जायगा। ग्रेज एनाटमी निकाली गयी और डाक्टरों को आश्चर्य हुआ कि ऐसे बडे दार्शनिक को इस विषय मे कैसे रस आया। उस पुस्तक में भी हाशियो पर टिप्पणियाँ लिखी हुई थी जिन्हे डाक्टरो ने चकित होकर पढा।

पिछले वर्षो मे पिताजी को काशी से बाहर ले जाना असम्भव-प्राय था। वे कहते थे कि अपने अन्तिम समय मे सब लोग काशी आते हैं। मै क्यों यहाँ से बाहर जाऊँ। 'काश्यां तु मरणान्मुक्तिः' "काशी मे मरने से मुक्ति होती है", इस उक्ति मे सम्भवत उन्हें भी विश्वास था। सन् १९५४ मे सयोगवश जब मैं मद्रास मे राज्य-पाल था तो मेरी छोटी पुत्री सुधावती और छोटे पुत्र तपोवर्धन मेरे पास थे। मेरे दुर्भाग्य से दोनो ही चले गये। हम सब घोड़े पर चढते थे। दुर्भाग्यवश दोनों ही दुर्घटनाओं से ग्रस्त हुए और दोनों की कई हड्डियाँ टूट गयी। मेरे ज्येष्ठ पुत्र को भी नश्तर उसी समय लेना पडा था। ऐसे समय मे पिताजी को बड़ी कठिनाई से मद्रास लिवा जा सका। वास्तव में वे अपने पौत्रो और पौत्री को ही देखने गये।

एक दिन सायंकाल हमारे वयोवृद्ध सम्मानित नेता श्री राजगोपालाचारी राजभवन आये हुए थे। उन्होने मुझसे एकाएक पूछा कि अग्रेजी उपन्यास 'ए वुमन इन ह्वाइट' का लेखक कौन था। यह मेरी पढी हुई पुस्तक नही थी और मैंने उनसे कहा कि "मैं जाकर पिताजी से पूछता हूँ। वे अवश्य बतला सकेंगे।" पूछते ही पिता जी ने विलियम विल्की कालिन्स का नाम बतलाया। श्री राजगोपालाचारी ने राज-भवन के पुस्तकालय से इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका निकाल कर इन लेखक के सम्बन्ध का लेख पढा और उनकी लिखी हुई पुस्तकों की सूची देखी। जब मैं बम्बई का राज्यपाल था तो मेरे सचिव ने प्रलय के सम्बन्ध मे पूछा। मैंने पिताजी को लिखा। उनका फौरन ही उत्तर आया जिसमें उन्होंने विविध पुराणों के उन अध्यायों का निर्देश किया जिनमें प्रलय का वर्णन था।

एक बार बनारस के रेलवे स्टेशन पर किन्ही को लेने या पहुँचाने या स्वय यात्रा करने पिताजी रेल की प्रतीक्षा में खड़े थे। और लोग भी थे। एक मित्र ने उनसे कहा कि 'हिन्दी कविता में तमाल वृक्ष की चर्चा प्रायः की जाती है। यह कौन और कैसा वृक्ष है ?' पिताजी ने उत्तर दिया कि 'काशी के अमुक बगीचे मे यह पेड है, वहाँ पर जाकर देख लीजिए।' ये थोड़े से उदाहरण मैं इस उद्देश्य से दे रहा हूँ कि पाठको को मालूम हो कि विविध विषयों का उन्हें कितना विस्तृत ज्ञान था, और कैसी सुगमता से वे मित्रो के नाना प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देकर उनकी शकाओ का समाधान कर देते थे, और इस प्रकार से उनके ज्ञान की वृद्धि भी कर देते थे।

मेरी माता वडी उदार प्रकृति की थीं और अपने रिश्तेदारों मे कम सम्पन्न घरो की स्त्रियो को पर्याप्त आर्थिक सहायता पहुँचाने का प्रयत्न करती थी। पिताजी गृहस्थी के व्यय के हिसाब से ही उन्हे धन दिया करते थे। मैं स्वय जानता हूँ कि इसके कारण माता को कष्ट भी होता था क्योकि वे अपनी इच्छा के अनुकूल अन्यों को सहायता नही पहुँचा सकती थीं। इस प्रकार से पैसा वितरण करने के पिताजी विरुद्ध थे। इस कारण उनसे वे कुछ कह भी नही सकती थी। माता का दान सर्वथा गुप्त हुआ करता था केवल मुझे वे अपने इस शुभ कार्य मे अपना सहायक बनाती थी और मैंने दूर-दूर जाकर उनके दिये हुए रुपयों को इन असहाय स्त्रियों

के पास पहुँचाया है । जहाँ तक मैं समझ पाया यद्यपि इस सम्बन्ध मे मुझसे उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा था, उनका अवश्य यह विचार था कि स्त्रियों के पास कुछ निज का धन अवश्य रहना चाहिए जिसको वे अपनी इच्छा के अनुसार व्यय कर सकें और जिसके सम्बन्ध मे उन्हें किसी से कुछ कहने-पूछने की जरूरत न हो । अवश्य स्त्री-धन की प्रथा बहुत पुरानी है और इसका मान भी बराबर किया गया है, पर यह प्राय आभूषण के रूप मे रहता है । दिन-प्रतिदिन के देन-लेन के लिए तो नकद रुपयो का आवश्यकता होती है ।

उनके विचार का प्रमाण मुझे संयोगवश एक बार मिला जब गाधीजी मेरे यहाँ ठहरे हुए थे । उनके साथ उनकी पत्नी कस्तूरबा और अन्य बहुत से लोग थे। जब वे चलने लगे तो माता जी ने उनसे कहा—'महात्मा जी, बा के साथ आप बहुत बुरा बरताव करते है ।' मैं और कितने ही लोग उस समय उपस्थित थे। मैं तो घबराया कि माँ ने क्या कह दिया, और गाधीजी क्या कहेंगे । बात यह थी कि उसी के कुछ दिनों पहिले महात्मा जी ने अपनी पत्रिका में लेख लिखा था जो मेरी समझ मे अनुचित था, जिसका शीर्षक था 'बा चोर है ।' उनके इस उद्‌गार का कारण यह था कि 'बा' के पास तीन आने पैसे किसी कारण पड़े रहे । इस लेख को पढ़ने के पहिले मुझे कभी ध्यान भी नही हो सकता था कि बा को अपने पास पैसे रखने की मनाही है। इसी के कारण माता ने गांधीजी से कहा था कि 'बा के साथ आपका व्यवहार अच्छा नही है ।' माताजी स्वय बराबर अपनी साडी के आचल मे कुछ रुपये बाँधे रहती थी। उन्होंने गांधीजी से कहा कि 'मैं बा को कुछ देना चाहती हूँ ।' महात्मा जी ने माताजी से अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कुछ कहा पर अनुमति नही दी। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है माताजी एक गिनी देना चाहती थीं जो महात्माजी के कहने से उनके कोष मे दे दी गयी ।

मेरी माता बडी ही तपस्विनी स्त्री थी । बडा कठोर व्रत उपवास किया करती थी । चार-चार महीने कभी द्विदल छोड दे, कभी नमक छोड दे । अपने व्रत का पालन वे बड़ी कठोरता से करती थी । उसके कारण जो शारीरिक कष्ट उन्हें होता था उसे वे सहर्ष स्वीकार करती थी । अपनी इन साधनाओ के सम्बन्ध मे वे किसी से चर्चा भी नही करती थी । बिना सूर्य का दर्शन किये वे भोजन नहीं करती थीं । वर्षा ऋतु में जब कभी-कभी दिन-दिनभर बदली छायी रहती थी, तो वे बिना भोजन के ही रह जाती थी । चौबीस घण्टो का निर्जल व्रत करना उनके लिए मामूली बात थी । दिन भर व्रत करने के बाद रात भर जागते रहने की भी वे साधना किया करती थी । मैं तो यह सब देखकर हैरान रह जाता था । मेरे कहने-सुनने का कोई प्रभाव उनके ऊपर नही पडता था ।

उन्होंने अपने शरीर के साथ बराबर बड़ा अन्याय किया था । उन्हें यात्रा करने का बड़ा शौक था । चारों धाम और सातो पुरी की यात्रा उन्होंने की थी । गगासागर भी हो आयी थी । यात्राओ में भी वे अपने खाने-पीने सम्बन्धी नियम का

पालन बडी कठोरता से करती थीं। उनके आग्रह पर पिताजी ने उन्हें स्वय जगन्नाथ-पुरी, रामेश्वर और कई पुनीत नगरियों की यात्रा करायी थी। द्वारकाजी तो उनके साथ मैं गया था और बदरी केदार की यात्रा में मेरे छोटे भाई चन्द्रभालजी उनके साथ रहे। भोजन आदि के सम्बन्ध मे उनके बडे कठोर उपचार थे। क्या खाना, किसका छुआ और किसका पकाया खाना आदि पर उनका बडा ध्यान रहना था, तथापि वे बडे साहस के साथ यात्रा करती थी। मुझे स्मरण है कि मैं जब उन्हें नाथ-द्वारा से चित्तौर लाया और चित्तौरगढ देखने लिवा ले जा रहा था, तो रास्ते मे वे यकायक अस्वस्थ हो गयी। उन्हे कै होने लगी। मैं उन्हें वापस धर्मशाला लाना चाहता था पर उन्होंने एक न मानी और चलती ही चली गयी।

बदरी और केदार की उन्होंने जब यात्रा की थी तब हरद्वार तक रेल से, फिर वहां से ऋषिकेश तक बैलगाडियों पर आया जाता था, और उसके बाद अधिक-तर यात्री पैदल आगे जाते थे अन्यथा डांडी या कडी के नर-वाहन का उपयोग किया जा सकता था। मेरे भाई और उनके साथी स्त्री-पुरुष तो पैदल ही गये। पर माता को विवश कर डांडी पर ले जाया गया। मेरे भाई कहते थे कि एक स्थान पर दो पहाड़ियों के बीच बहुत नीचे नदी बह रही थी और इस पार से उस पार तक सकरे तख्ते बिछे हुए थे जिन पर से होकर जाना होता था। मेरे भाई ने मुझसे कहा कि 'मैंने तो समझा कि आगे नही जाना हो सकता। वापस लौटना होगा।' इतने मे देखा कि माताजी डांडी से उतर अपनी छडी के सहारे आधे रास्ते पहुँच गयी। तब सभी को साहस कर चलते ही रहना पड़ा।

पीछे माता का शरीर बहुत ही कृषित हो गया था। नाना प्रकार के रोगो से वे पीडित होने लगी थी। एक बार तो आधी हँसी और आधे रोष मे मैंने उनसे कहा—'बहुआ—इसी नाम से हम लोग उन्हें पुकारते थे—आप क्यो अपने को इस प्रकार कष्ट देती हैं। हमारे अर्थात् अपने पुत्रो के हित के लिए ही आप यह सब करती हैं। हम लोग तो अवश्य नर्क जायेंगे। अगर आप भी हमी लोगो की तरह रहे तो वहाँ भी साथ रहेगा, नही तो आप तो स्वर्ग चली जायेगी और हम लोग छूट जायेंगे।'

वे हृदय से बहुत उदार और सरल प्रकृति की थीं और उनमे किसी प्रकार का दंभ नही था कि मेरा ही तरीका ठीक है और सबका गलत है। अपने व्रत उपवास का उन्हें गर्व भी नहीं था। मुझे स्मरण है कि अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद जब मैंने अपने और अपने बच्चों के रहन-सहन मे कुछ परिवर्तन करके रसोई के बाहर भोजन आदि करने की प्रथा शुरू की और पकाने वालो की जाति की कोई फिकर नहीं की तो एक समय संयोग से हमारे भोजन के अवसर पर वे आ गयी और हमें उस प्रकार से रहते हुए और खाते हुए देखा। मुझे असमंजस हुआ पर उन्होंने कहा कि 'मैं समझती हूँ कि तुम्हारा प्रकार अच्छा है, पर अब मैं ऐसा नहीं कर सकती।' जीवन भर की प्रथा कैसे कोई बदल सकता है? माता का देहान्त ८५ वर्ष की अवस्था मे हुआ और जैसा कि मेरे पिताजी ने एक अवसर पर लिखा था- उन्ही के पुण्य प्रताप

से हम लोग फूलते-फलते रहे। जब तक वे रही हम लोग सब प्रकार से सुखी रहे।

माताजी का जीवन पर्याप्त रूप से सुव्यवस्थित था। प्रातःकृत्य स्नानादि से निवृत्त होकर बहुत देर तक वे पूजा में रहती थी। फिर गृहस्थी के संचालन में ठीक प्रकार से भोजन आदि बनाने-बनवाने मे कई घण्टे का समय लगाती थी। अचार, मुरब्बा आदि अपने ही हाथो घर पर तीसरे पहर तैयार करती थीं। सायंकाल बहुत कुछ समय धार्मिक ग्रन्थो को पढने में वे व्यतीत करती थीं। हिन्दी अनुवाद मे योग-वाशिष्ठ का मोटा ग्रन्थ वे बार-बार पढती थीं। रामायण आदि से तो वे पूर्णरूप से अभ्यस्त थी, और कितने ही दोहा-चौपाई वे सुनाया करती थी। सैकडों कहावतें और उपदेशात्मक उक्तियाँ उन्हें स्मरण थी जिनको वे उपयुक्त समय पर प्रयोग कर हम सबको उचित आदेश देती और प्रसन्न करती रहती थी।

वे बडी व्यवहार-कुशल थी और वे उदारचेता भी थी। दूसरो की भारी गलतियों पर सहानुभूति पूर्वक विचार करती थी और दूसरों की कमजोरियों की कभी भी वे निन्दा नही करती थी। वे ऐसी स्थितियो मे दूसरो को समुचित सहायता देने को तैयार रहती थी। साधारण दृष्टि से वे अधिक पढी-लिखी सम्भवत नहीं कही जा सकती थी, पर सासारिक ज्ञान उनको बहुत था। कवि का पुराना श्लोक है—

स्त्रियोहि नाम खल्वेता निसर्गादेव पडिता.।
पुरुषाणा तु पाडित्य शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥

अर्थात् स्त्रियाँ नैसर्गिक रूप मे पण्डित होती हैं। पुरुषो की विद्वत्ता पुस्तको पर आश्रित रहती है। कवि की यह उक्ति माता पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। कभी गार्हस्थ्य सम्बन्धी समस्या पर यदि पिताजी कुछ असमजस मे पड़ते थे और उस पर विचार करने लगते थे, मनु आदि के आदेशो को, समस्या विशेष के समाधान के लिए सोचने लगते थे, तो माता अपनी नैसर्गिक तीक्ष्ण स्त्री बुद्धि से कठिनाई को तत्काल हल करती थीं और उचित मार्ग बतलाती थी। पिताजी से वे कहती भी थी कि 'पढ़े पण्डित नही होता, पडे पण्डित होता है,' अर्थात् पुस्तको के अवलोकन से वास्तविक विद्या नही प्राप्त होती। ससार की दिक्कतो के पडने अर्थात् जीवन के अनुभवों से ही सच्ची विद्या मिलती है। यह बात वास्तव मे बहुत ही ठीक है। हम सभी लोग देखते है कि दुनिया मे कितने ही बड़े से बड़े विद्वान् व्यावहारिक मामलो को समझ नहीं पाते, और कितने ही तथाकथित अशिक्षित लोग व्यवहार मे बड़े कुशल होते हैं।

पिताजी ने माता को संस्कृत और अंग्रेजी पढ़ाने का स्वयं बहुत प्रयत्न किया था। सस्कृत के कितने ही श्लोक माता को कण्ठस्थ थे, पर सस्कृत भाषा को उन्होने बहुत कम पढा। पिताजी के थियासोफिकल सोसाइटी मे साथ कार्य करने वाली अंग्रेज स्त्रियों ने जिनका हमारे कुल से बडा निकट सम्पर्क था, माताजी को अंग्रेजी पढ़ाने का प्रयत्न किया, पर इसमे उनका कुछ भी मन नही लगा। उनकी इन अंग्रेज

स्त्रियों से बडी मैत्री थी यद्यपि खान-पान मे वे अपने ही नियमों का पालन करती थी।

माताजी किसी न किसी देव-देवी की पूजा प्रतिदिन ही करती रहती थी। मन्दिरो मे जाया करती थी। सब धार्मिक पर्वों और उत्सवो को बड़ी श्रद्धा से मनाती थी और अपने पुत्रो की जन्मतिथियों पर उन्हे टीका काढती थी और हलुआ खिलाती थी।

आज हम देखते हैं कि हमारी स्त्रियाँ सब पर्वों को ही भूलती जा रही हैं। यह लिखते हुए कितनी ही घटनाएँ मुझे स्मरण आ रही हैं जब गणेश चतुर्थी के पर्व पर वे गणेशजी की पूजा कर हमे गणेशजी सम्बन्धी कहानियाँ सुनाती थी, और किसी पर्व विशेष पर वे खीरे को काटकर गाय को खिला देने को कहती थी। होली के समय होलिका की आग पर गर्म किये पानी से हमे स्नान करने को कहती थी। उन्हे सब पर्व याद रहते थे। वर्ष के आरम्भ में वे वर्षफल सुनती थी। ब्राह्मण, पण्डित, पुरोहित तो उनके यहाँ बराबर ही आते रहते थे। बिजली की रोशनी आने के पहिले जब सायंकाल मे लालटेनें तैयार होती थी तो उन्हें एक स्थान पर रखकर, और अपने पुत्र-पुत्रियो को एकत्र कर बडे प्रेम और भक्ति से विष्णु की आराधना करती हुई निम्नलिखित श्लोक पढती थी—

शान्ताकार भुजगशयन पद्मनाभं सुरेशम्,
विश्वाधार गगनसदृश मेघवर्ण शुभागम्।
लक्ष्मीकान्त कमलनयन योगिभिर्ध्यानगम्यम्,
वन्दे विष्णु भवभयहर सर्वलोकैकनाथम्।।

इसके बाद लालटेने निर्दिष्ट कमरो और कोठरियो मे भेज दी जाती थी।

मुझे यह नही स्मरण आता कि माताजी के इन सब छोटे-छोटे धार्मिक कृत्यों मे पिताजी कभी भी सम्मिलित हुए। उनका जीवन पृथक् रहता था। विद्या सम्बन्धी स्तर मे उनका और माता का इतना अन्तर था कि परस्पर का अधिक बौद्धिक सम्पर्क सम्भव नही था। पिताजी की प्राय- सभी पुस्तके अंग्रेजी में लिखी गयी थीं। इसलिए माता उन्हें पढ़ भी नही सकती थीं यद्यपि उन्हे पढने का काफी शौक था। उस समय के हिन्दी के बीसों उपन्यास उन्होने पढे थे और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका की ग्राहिका उसके प्रथम अंक से ही वे थीं। उन्हें सफाई का बहुत ख्याल रहता था और अपने हाथो पानी से कमरों की दीवारो आदि को भी धोकर वे साफ रखती थी।

आज उनके सम्बन्ध में लिखते हुए कितनी ही स्मृतियाँ जाग्रत हो रही है। उस समय की अपनी स्त्रियाँ कितना त्याग-तपस्या कर अपने को भुलाकर हजार कठिनाइयो को सहकर अपने कुटुम्बीजनो की सेवा करती थीं और घर-गृहस्थी की मान-मर्यादा बनाये रखती थी। वे धन्य थी। हम सब उनके प्रति कदा भी समुचित रूप से अनुगृहीत नही ही हो सकते। मेरी समझ मे आज के समय और वातावरण की परिवर्तित विचार-शलियों और काय प्रणालियो मे भी आज की स्त्रिया मेरी माता

और उस समय की स्त्रियों के चरित्र से बहुत कुछ सीख सकती है।

कौटुम्बिक घटनाओं, जन्म, विवाह आदि के समय मैंने देखा है कि माता को विशेष उत्साह रहता था, और अपना साधारण कार्यक्रम छोड़कर वे उन अवसरों की रीति-रस्मो को विधिवत् पालन करने मे बहुत तत्पर रहती थी। वे घर से बहुत कम बाहर जाती थी, पर सब सम्बन्धियो का कुशल समाचार दिन प्रतिदिन नौकरो द्वारा मंगा लेती थी। रिश्तेदारो तथा मित्रो से वे बीच-बीच में मिलने भी जाती थी, और उनके यहाँ भी ये लोग आते थे। इन सब सामाजिक कृत्यों के लिए तीसरे पहर का समय होता था। उन दिनों यह भी प्रथा थी कि एकादशी के दिन बहुतसी ब्राह्मणियाँ माता के पास आती थी। उन सब को दक्षिणा मिलती थी और उनके द्वारा ये सब मित्रो, सम्बन्धियो आदि का सब समाचार पाती थी और इन्ही के द्वारा बधाई, समवेदना आदि के लिए लोगो के यहाँ वे आती-जाती थीं। इन ब्राह्मणियों को पिताजी माता का 'समाचार-पत्र' के नाम से निर्देश करते थे। अब यह प्रथा उठती जा रही है, पर इसमें सन्देह नही कि इसके द्वारा नगर की उच्च घरों की स्त्रियाँ जो प्राय. पर्दे मे रहा करती थीं, सुन्दर सूत्रों मे परस्पर बधी रहती थी, और विविध कुटुम्बो के बीच अच्छा सम्बन्ध रहता था। सच्ची बात तो यह है कि यदि हमारी सभ्यता को ही कौटुम्बिक सभ्यता कहा जाय तो अनुचित न होगा।

पति-पत्नी के परस्पर के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न सस्कृतियो मे भिन्न-भिन्न विचार रहे हैं और हैं। इसी सम्बन्ध पर वास्तव मे सारी मानव सभ्यता अवलम्बित है और संसार का क्रम निश्चित रूप से चला जा रहा है। किसी देश की गृहस्थी अथवा कुटुम्ब के संचालन के रूप को देखकर ही उस देश के सामाजिक विकास की परख की जाती है और की जा सकती है। वर्तमान पाश्चात्य सस्कृति मे स्त्री और पुरुष अर्थात् पति और पत्नी को इस प्रकार का बराबर का दर्जा दिया गया है। अर्थात् उन दोनों को साथी और मित्र माना गया है और आशा की गयी है कि हर प्रकार से वे एक-दूसरे को सहायता देंगे और हरएक काम मे साथ रहेंगे। यद्यपि आदर्श की दृष्टि से हमारे यहाँ भी बहुत कुछ ऐसे ही विचार रहे है जैसा कि पुरानी पौराणिक गाथाओं से प्रतीत होता है। पर पिताजी के समय का जो सामाजिक सघटन था उसमे स्त्री-पुरुष के परस्पर के सम्बन्ध में ऐसी अपेक्षा नही की जाती थी।

देश में इस्लामी सस्कृति के आने पर उसका जहाँ-जहाँ अधिक प्रभाव पड़ा, जैसा कि विशेषकर उत्तर भारत में पडा, वहाँ पर्दा में स्त्रियों को रखने की प्रथा आयी। इसके कारण स्त्री समाज और पुरुष समाज बहुत कुछ एक-दूसरे से पृथक् हो गया। अवश्य ही इसकी प्रतिक्रिया कुटुम्बो के आन्तरिक जीवन पर पड़ी है। मेरा कुटुम्ब भी इसका अपवाद नही ही रहा। बालक और बालिकाओं की शिक्षा-दीक्षा में और उनको पृथक्-पृथक् आदर्शों और आकाक्षाओं के अनुसार पालन-पोषण मे आरम्भ से ही पार्थक्य हो जाने के कारण ऐसा पार्थक्य आगे चलकर प्रौढावस्था

के जीवन मे बना रहता था। पति और पत्नी के जीवन का प्रवाह पृथक्-पृथक् होता था। जब मैं पुरानी बीती को अपनी स्मृति में लाता हूँ तो मुझे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेरे पिता-माता का जीवन-क्रम भी कुछ ऐसा ही था। वे परस्पर कुटुम्ब सम्बन्धी आवश्यक बातें ही करते थे। दोनों के सामाजिक सम्पर्क अलग-अलग थे। बौद्धिक स्तर मे बहुत अधिक अन्तर होने के कारण शास्त्र चर्चा और विविध विषयों और प्रकरणो की चर्चा और विवेचन परस्पर बहुत कम होता था और हो सकता था।

इस सब का यह अर्थ नही है कि परस्पर के प्रेम और सहानुभूति की कमी थी। एक-दूसरे की इच्छाओं की पूर्ति करने का विचार दोनों को ही था। सन्ततियो की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सुव्यवस्था की अभिलाषा, और उनके उपयुक्त विकास और उन्नति की शुभ कामना अवश्य ही दोनो को बाँधे रही, और माता-पिता को एक-दूसरे से अलग रहने मे बहुत कष्ट होता था। इसको मैंने साधारणत कभी भी पहले अनुभव नही किया था। पर इसकी सत्यता मुझे हठात् एक घटना विशेष से सिद्ध हुई। पिताजी जब चुनार में रहते थे, तब एक बार माता अस्वस्थ हो गयी। वहाँ चिकित्सा आदि का समुचित प्रबन्ध न होने के कारण मैं चुनार जाकर उन्हें काशी लिवा लाया। दो ही दिन के भीतर पिताजी यकायक आ गये। अपने आने की पहले सूचना भी न दी। उन्हे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। जब मैने आश्चर्यान्वित होकर पूछा कि आप कैसे आ गये, तो उन्होने कहा कि 'तुम्हारी माँ के बिना बडा अकेला लगता था।' तब मैंने जाना कि यद्यपि उनमें परस्पर का बौद्धिक और सामाजिक सामञ्जस्य न भी रहा हो, पर व्यक्तिगत और आध्यात्मिक समता और सौहार्द अत्यधिक रहा, और यह पचहत्तर वर्ष तक लगातार निभाया गया। एक के निधन के बाद दूसरे का निधन बहुत शीघ्र ही हो गया।

मुझे स्मरण आता है कि पिताजी ने एक बार मिस अरडेल नाम की एक अंग्रेज महिला से जो उनके साथ हिन्दू कालेज और थियासोफिकल सोसाइटी में काम करती थी, पूछा था कि भारतीय घरों और अंग्रेजी घरो के सम्बन्ध मे तुलनात्मक दृष्टि से आपका क्या विचार है। मिस अरडेल ने उत्तर दिया कि 'साधारणतौर से तो कोई विशेष अन्तर नहीं है। पर जो अंग्रेज घर वास्तव में सुखी हैं, वे भारतीय घरो के सुखी घरों से अधिक सुखी हैं।' अवश्य ही इससे उनका तात्पर्य यह रहा कि पति-पत्नी का जीवन की विविध स्थितियो मे परस्पर का अधिक साथ ऐसे अंगरेजी घरों में रहता है, और वहाँ पर कुटुम्ब विशेष के विविध सदस्य एक-दूसरे से यहाँ से कही अधिक सम्पर्क रखते है और उनमे इस कारण परस्पर की अधिक सहानुभूति और प्रेम भी रहता है। मैं स्वय अपने अनुभव से उसे यथार्थ समझता हूँ। हमारे देश मे यूरोपीय देशो के घरों के सम्बन्ध मे गलत विचार है क्योंकि वे अत्यधिक धनी घरों की खराबियों के सम्बन्ध में समाचार पत्रों में पढ़ते हैं या चलचित्रो को शौक से देख कर अपनी धारणा बनाते हैं मध्यवर्ति के घरों से ही मेरा सम्पर्क रहा है और

उनको देखकर मेरा भी वही विचार होता है तो मिस अरडेल ने व्यक्त किये थे।

पिताजी को मितव्ययी कहा जा सकता है। आवश्यक वस्तुओं पर पर्याप्त व्यय करते हुए वे धन का बरबाद करना बहुत ही नापसन्द करते थे। जो वस्तुएँ उनके काम की नही होती थीं उन्हे वे नही लेते थे। जो वस्तु लेते थे उसका सदुपयोग करते थे। पुस्तकों की तरह ही उन्हें कलमो का और वस्त्रों मे शालो का बहुत शौक था। इसका अच्छा सग्रह उनके पास था और सभी को वे समय-समय पर काम मे लाते थे। मृत्यु के पहले उन्होने इन सबको अपने मित्रों, सम्बन्धियो और सन्ततियो मे बाँट दिया था। वे सब वस्तुओ को बडी हिफाजत से रखते थे और उनकी स्वय फिकर करते थे। नौकरो, सहायको आदि पर वे बहुत कम आश्रित रहते थे। इतनी पुस्तके उन्होने लिखी, पर उन सबको उन्होंने अपने ही हाथो से लिखा। वे बोल कर दूसरों से नही लिखवाते थे, न टाइप-राइटर आदि का प्रयोग करते थे। लम्बी से लम्बी चिट्ठियाँ भी वे अपने हाथ से ही लिखते थे, पर उनका टेबुल सदा साफ रहता था। काम होते ही पत्र पुस्तक आदि यथास्थान रख दी जाती थी।

अपने आय-व्यय का हिसाब वे बराबर लिखते थे। ऋण देने और लेने के वे बडे विरुद्ध थे। जब किसी को कुछ देते थे तो समझ लेते थे कि जो दे दिया वह दे दिया। उसे फिर पाने की अपेक्षा नही करते थे। अपनी आय के भीतर ही अपना व्यय रखते थे। उनका बैंक में हिसाब रहता था, पर जब चैक काटते थे तब पहले पास-बुक से देख लेते थे कि बैंक मे उनके हिसाब में पर्याप्त पैसा है या नहीं। वे सफेद-पोश याचको से बहुत घबराते थे और जब कभी ऐसे सज्जन उनके पास आते थे तब उनसे वे काफी अप्रसन्न होते थे। अपनी आय के भीतर रहने की उन्हें सलाह देते थे, और इस प्रकार की 'भिखमगी' न करने का आदेश और उपदेश करते थे।

ऐसे भिक्षुकों को भी वे नापसन्द करते थे जो काम करने योग्य होते हुए भी कुछ काम न करके भीख माँगते फिरते हैं, और गृहस्थो पर बोझ बन जाते हैं। इसी प्रकार के एक ब्राह्मण भिक्षा माँगते हुए आकर उनको श्लोक सुनाने लगे—

शतेषु वर्तते शूर· सहस्त्रेषु च पण्डित।
वाग्मी दशसहस्त्रेषु, दानी भवति वा न वा॥

अर्थात् सौ में शूर, सहस्र में पण्डित, दशसहस्र में वक्ता होता है, दानी कोई हो या न हो। इस पर पिताजी ने प्रथम तीन चरणो की पुनरावृत्ति कर चौथे की जगह कहा—'याचकोस्तु पदे-पदे' अर्थात् भिखमगे तो पग-पग पर मिलते है। ब्राह्मण भिक्षुक खिसिया कर चले गये।

पिताजी को विभिन्न वस्तुओं का इतना ज्ञान था कि उन्हें कोई ठग नही सकता था। उन्हें बाजारो मे घूमकर स्वयं नाना प्रकार की वस्तुओं को देखकर अपनी आवश्यक वस्तुएँ खरीदने का भी बहुत शौक था। मोलभाव करने मे उन्हें संकोच नही होता था।

घर को साफ और सुव्यवस्थित रखने का शौक पिता और माता दोनो को ही

था। इस कारण उनके समय घर में बड़ी सफाई रहती थी और सभी वस्तुएँ सुव्यवस्थित रूप से अपने-अपने स्थान पर रखी रहती थी। एलीदे हानूम नाम की सुविख्यात तुर्की महिला, जो मुस्तफा कमाल पाशा अतातुर्क के साथ काम कर चुकी थी, मेरे यहाँ अतिथि थी। उस समय न तो मेरे पिता वहाँ थे और न मैं ही था। मेरी छोटी-छोटी लड़कियों ने उनकी फिक्र की थी और छोटे भाई उनका कार्यक्रम बनाते थे। पीछे उन्होंने अपनी भारत यात्रा पर पुस्तक लिखी जिसमे मेरे मकान **सेवाश्रम** का विशेष वर्णन किया। उन्होंने लिखा कि मैं अपने जीवन में इसी एकमात्र हिन्दू घर में रही हूँ। उन्होने पानी से भरे झझरों का निर्देश किया, और हमारे यहाँ भोजन के प्रकार को भी बतलाया। लड़कियो की प्रशसा की कि वे बड़े प्रेम से खाना खिलाती थी और भोजन के बाद हाथ धोने के प्रकार की विस्तार से चर्चा की। यह सब तो ठीक था पर उन्होंने यह भी लिख डाला कि 'वह मकान इतना साफ है कि मेरी माता की सफाई के आदर्श को चरितार्थ करता है और यदि फर्श पर शहद गिर जाय तो उसे चाटा जा सकता है।' अवश्य ही यह अत्युक्ति थी। जापानी घरो की सफाई के सम्बन्ध मे मैंने अवश्य सुना है कि यदि फर्श पर एक बूंद चाय गिर जाय और उसे पोछा जाय तो रूमाल मे धूल नही लगती। जो कुछ हो मकान को साफ और सब वस्तुओ को यथास्थान रखने पर माता-पिता दोनों ही पर्याप्त जोर देते थे।

सुव्यवस्था की बात करते हुए पिताजी की कुछ कार्य-प्रणाली पर ध्यान देना अच्छा होगा क्योकि इससे हम सबको समुचित शिक्षा मिल सकती है और हम भी अपने घर और कार्य के प्रबन्ध के सम्बन्ध मे सहायता प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार से उन्हे टेढी पक्तियों मे लिखायी पसन्द नही थी उसी प्रकार वे किसी भी वस्तु को टेढी रखी हुई नापसन्द करते थे। हम लोग प्राय. चारपाई, पीढा, टेबुल, कुर्सी आदि किसी भी प्रकार से डाल देते हैं। दीवारों पर टांगी हुई तस्वीरे प्राय टेढी रहती हैं। वे जहाँ ही किसी वस्तु को टेढ़ी पडी हुई पाते थे, उसे सीधी कर देते थे अर्थात् बगल की दीवार आदि से उसके सब किनारों को समान अन्तर पर कर देते थे। यहाँ तक कि लिफाफे पर टिकट भी बड़ी सावधानी से लगाते थे। ऊपर और बगल के किनारे से उसे बराबर दूरी पर चिपकाते थे।

प्राय. ऐसा देखा गया है कि लोग बड़ी लापरवाही से लिफाफे पर किसी प्रकार इधर-उधर टिकट चिपका देते हैं। डाक से किताब, प्रूफ आदि भेजते हुए वे उन्हें बडी सावधानी से अच्छे मोटे कागज के भीतर लपेटते थे और बडी सफाई से डोरी या फीते से बाँधते थे। पत्र को लिफाफे के भीतर रखते हुए उसे इस प्रकार मोडते थे कि लिफाफा ठीक प्रकार से भर जाय। इससे पत्र सुरक्षित रहते थे और डाक में मुड़कर नष्ट-भ्रष्ट नही होते थे।

वे अपने इस सिद्धान्त को इतनी दूर तक निवाहते थे कि जब सफर के लिए **बिस्तर बाँधते थे** और उसे वे स्वय ही बाँधते थे किसी नौकर आदि को नही बाँधने

देते थे—तो वे तस्मों की दूरी को बंधे बंडल के किनारों से अपने पंजों से नापते थे जिससे कि दोनों तरफ वे बराबर रहे। उनके बांधे हुए असबाब वास्तव में बड़े सुन्दर लगते थे। वे नये प्रकार के होल्डआल या चमड़े के बक्सों का प्रयोग नहीं करते थे। उनका बिस्तर दरी में ही बांधा जाता था और वे साधारण टीन के बक्सों का ही प्रयोग करते थे। रेल मे चलते हुए वे असबाब को तरतीब से सरिया कर रखते थे और उसका लापरवाही से इधर-उधर रखा जाना वे बिल्कुल नापसन्द करते थे।

यह सब छोटी बात समझी जा सकती है और कितनों को तो यह जानकर आश्चर्य होगा कि इतने बड़े दार्शनिक विद्वान् और सुसम्पन्न गृहस्थ इन सब बातो पर इतना अधिक ध्यान देते थे। वास्तव में व्यक्ति विशेष का चरित्र ऐसी छोटी-छोटी बातों से परखा और जाना जाता है, न कि बड़ी-बड़ी बातो से। और यदि किसी के व्यक्तित्व को समझना हो तो आवश्यक है कि ऐसी साधारण बातों के सम्बन्ध मे उसके आचरण की समीक्षा की जाय। उसकी बड़ी-बड़ी बाते और बड़े-बड़े कृत्य जानने से उनको समझने में उतनी सहायता नहीं मिल सकती जितनी ऐसी छोटी-छोटी बाते दे सकती है। इन सब घटनाओ से यह स्पष्ट है कि उनकी प्रकृति की कुछ विशेषताएँ थी जिन्हें साधारण लोग अपनावें तो उनको बहुत लाभ हो सकता है।

एक तो वे किसी स्थिति में घबराते नही थे और न वे किसी काम मे व्यर्थ की जल्दी करते थे। वे सदा ही सब काम को स्थिरता और सावधानी के साथ करते थे। उनकी प्रकृति मे किसी प्रकार का आलस्य नही था। न उन्हें शारीरिक क्रियाओ में आलस्य लगता था, न मानसिक क्रियाओं में। वे सब काम को धीरे-धीरे ही करते थे। उनका कहना था कि सुव्यवस्थित रूप से काम करने मे और लापरवाही से काम करने मे जहाँ तक समय के व्यय की बात है, दोनो मे कोई अन्तर नहीं होता।

उदाहरणार्थ वे अपने कपड़ों को बराबर ठीक तरह तह कर रखते थे। बहुत से लोग अपने कपड़ों को जल्दी मे उतार कर इधर-उधर डाल देते हैं। पीछे इन्हे एकत्र करने मे उन्हें काफी समय भी लग जाता है और परेशानी भी होती है। इस प्रकार से फेंके हुए कपड़े गन्दे हो जाते हैं, उन पर सिकुड़न पड़ जाती है और शीघ्र ही वे नष्ट भी हो जाते हैं। इस प्रकार से लापरवाही में धन और समय दोनों का ही अधिक अपव्यय होता है। जिन कपड़ों को सुखाने या हवा मे डालने की आवश्यकता होती थी वे उन्हे ठीक प्रकार से अरगनी, हैंगर या खूँटियों पर रखते थे। देखा गया है कि बहुत से लोग अपने मौजो को उतार कर जूते मे रख देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो मौजे दिन भर जूते के भीतर ही रहे, वे रातभर भी वैसे ही रह जाते हैं। स्वच्छ हवा न लगने के कारण बदबू करने लगते हैं, और उसी रूप में उन्हे फिर पहनने से बीमारी की आशंका रहती है। पिताजी का बड़ा आग्रह रहता था कि मौजे बराबर बाहर टाँग दिये जायँ जिससे उन्हे हवा लगे और वे स्वच्छ रहें।

अपने देश में बराबर से यह परम्परा रही है कि मकान के भीतर लोग जूता नही ले जाते, कमरे के बाहर ही इसे उतार देते हैं। बड़े-बड़े भोजो और गोष्ठियों

के समय यही प्रथा बरती जाती है। पर आश्चर्य है कि हम लोगों ने जूता उतारने के सम्बन्ध मे किसी सुव्यवस्थित प्रकार या प्रथा को निश्चित नहीं किया। पाश्चात्य देशों मे टोपी, छाता, छडी, ओवरकोट, बरसाती आदि बाहर रखकर लोग भीतर जाते हैं। इनके लिए समुचित प्रबन्ध रहता है। मकानो मे भीतर जाते ही खूटियाँ आदि मिलती है जिस पर लोग अपने ओवरकोट आदि टांग देते हैं। छाता, छडी, रखने के लिए भी वहाँ प्रबन्ध रहता है। हमारे यहाँ छाता, छडी तो लोग साथ भीतर ले जाते है, पर जूता बाहर ही छोड देते हैं। प्राय- बडी लापरवाही से जूता उतार कर लोग भीतर चले जाते है। नतीजा यह होता है कि जूते की एक भारी अव्यवस्थित राशि एकत्र हो जाती है। कितने जूते कुचले जाकर नष्ट हो जाते है और गुम भी हो जाते हैं।

यदि यही जूते सम्भाल कर उतारे जायँ और तरतीबवार रखे जायँ तो ये सब दिक्कते दूर हो सकती हैं। पिताजी सदा अपने साथ छाता और छड़ी दोनों ही रखते थे। धूप उन्हे बरदाश्त नही थी। इस कारण उन्हें केवल वर्षा से ही बचने के लिए नही, धूप से भी बचने के लिए छाता का प्रयोग करना पडता था। आवश्यकतानुसार आत्म-रक्षा के लिए और वृद्धावस्था मे सहारे के लिए भी वे छड़ी रखते थे। जब कभी चाहें अपने कमरे मे चाहे दूसरो के घर में वे जाते थे, तो बडी सावधानी के साथ एक कोने मे अपना छाता व छडी रखते थे, और जूते को सम्भाल कर एक तरफ उतारते थे। बीच मे और विशेषकर पैर-पोंछना पर जूता छोडना उन्हे बहुत नापसन्द था। अक्सर लोग भीतर जाते या बाहर आते समय इनके कारण ठोकर खाते हैं। उनका बडा आग्रह रहता था कि पैर-पोछना से हट कर जूते उतारने चाहिए। पैर-पोछना पैर साफ करने के लिए रहता है, पर इस कार्य विशेष के लिए इसका प्रयोग बहुत कम लोग करते हैं। यह प्राय- उपचारवत् रखा जाता है और शोभामात्र का काम देता है।

साधारणत: लोग वर्षा मे भीगे हुए छातों को खोलकर जमीन पर रख देते हैं जिससे उन पर का पानी सूख जाय। यदि हवा बहती रहे तो छाता भी इधर-उधर उडता रहता है। पिताजी गीले छाते को बन्द कर दीवार के सहारे खडा कर देते थे इससे पानी बहुत जल्दी बह जाता था और छाता थोड़े ही समय मे सूख जाता था। साथ ही जहाँ खडा किया जाता था वहीं पीछे सुरक्षित मिल जाता था। अन्य लोग भी इस प्रकार का प्रयोग कर लाभ उठा सकते हैं।

मुझे स्मरण है कि एक बार मेरे यहाँ पण्डितों की सभा हुई। पिताजी के बडे भाई श्री गोविन्द दास जी ने इसका आयोजन किया था। प्रबन्धकर्त्ता हम सब घर के लडके थे। लडको ने दरवाजे से काफी दूर तक १२/१५ पैर-पोछने बिछवाये। उन दिनों पण्डित लोग प्राय नगे पैर ही आते थे और पैर-पोछने का सत्प्रयोग न कर वे उसे लांघ कर चले जाते थे। इससे आगे बिछी हुई चादनी उनके पैर की धूल से बिल्कुल गन्दी हो जाती थी। ताऊ जी का कहना था कि कोई पण्डित इतनी दूर तक

नहीं लांघ सकेंगे और जब तक इतने पैर पोछनों के पार होगे तब तक उसका तलवा स्वत: साफ हो ही जायगा । यह देखा गया है कि दरवाजों की डेहरियाँ हमारे यहां बहुत गन्दी रहती है । मालूम नही क्यो उन्ही पर पैर रखकर लोग एक कोठरी से दूसरी कोठरी में जाते हैं । नई रंगी हुई डेहरियाँ भी गन्दे पद-चिन्हों से फौरन ही भ्रष्ट हो जाती है । समझ मे नही आता कि लोग उसे लांघ कर क्यो नही इधर से उधर जाते । पिताजी का बहुत आग्रह था कि डेहरी पर पैर न रखा जाय, और एक तरफ से दूसरी तरफ लांघ कर ही जाया जाय । अब तो नये मकानों में डेहरी की प्रथा ही जाती रही ।

गार्हस्थ्य जीवन मे नौकरों की भी एक बडी समस्या रहती है । अनन्त सरकारी दफ्तरों और कितने ही कल-कारखानों के खुल जाने से अब घर-गृहस्थी के लिए नौकरों का मिलना कठिन होता जा रहा है । घर के नौकरों का काम चौबीस घण्टे का होता है । उन्हें नियमित रूप से छुट्टियाँ भी नहीं मिलती । सरकारी और अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं मे बँधे समय से ही प्रतिदिन कर्मचारियों को काम करना होता है । साप्ताहिक और कितनी ही अन्य छुट्टियाँ उन्हें मिलती हैं, और साथ ही वर्ष मे भी छुट्टी देने के सम्बन्ध में नियम होते हैं । इस कारण अब हमारे श्रमजीवी समुदाय के वे सदस्य जो स्वतन्त्र रूप से खेती और मजदूरी नही करना चाहते, और नौकरी की खोज मे चलते हैं, वे गृहस्थी की नौकरी न कर, कल-कारखानो मे और सरकारी दफ्तरो में यथासम्भव जाने का प्रयत्न करते हैं । जो कुछ हो, अपने ही देश मे नही, सभी देशों मे गृहस्थी को घर के काम के लिए अब नौकर नहीं मिलते ।

मेरी बाल्यावस्था और युवावस्था मे बहुत नौकर रहते थे । आज से साठ वर्षों पहले माता और पिता के पास बीस नौकर, दाइयाँ रहती थीं । उस समय गृहस्थी का काम भी बहुत प्रकार का रहता था । भिन्न-भिन्न काम करने के सम्बन्ध में और माता के जाति सम्बन्धी विचारो के कारण अधिक नौकर रखने पड़ते थे । आज इन बातों पर चाहे हँसी आये, पर यह कहना ठीक न होगा कि अपने देश से ऐसा उपचार अब सब मिट गया । ये अभी भी बने हैं, पर उस समय तो इन पर काफी जोर दिया जाता था । कोई अपनी जाति के नियमों के अनुसार बर्तन नही माँज सकता था, कोई कपडा नही फीच सकता था । माता ब्राह्मण की एक उप-जाति विशेष के सदस्य के अतिरिक्त अन्य किसी के हाथ का बनाया भोजन नहीं कर सकती थी । साथ ही बिजली और म्युनिसिपैलिटी द्वारा जल पहुँचाने का समुचित प्रबन्ध न होने के कारण कई ऐसे लोगों को रखना पडता था जो कुएँ से पानी निकाले या पीने के लिए गंगा का पानी लायें । अब तो म्युनिसिपैलिटी के नलो से गंगा का पानी घरों में पहुँच जाता है, बिजली के पम्पों से बगीचे के लिए पानी मिल जाता है, और उसकी शक्ति से पखे की हवा और लैम्पों की रोशनी मिल जाती है ।

पिताजी को अपने शरीर मे तेल लगवाने का अभ्यास था । उस समय इसकी बहुत प्रथा थी । इसके द्वारा पर्याप्त शारीरिक व्यायाम भी हो जाता था । बहुत सी

उप-जातियों मे दूसरो को तेल लगाना मना था। इन उपचारो की इतनी सख्ती थी कि यदि कोई इनका उल्लंघन करता था तो वह अपनी जाति से निकाल दिया जाता था। प्रचलित भाषा के अनुसार उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता था। जिन लोगों का इतना सामर्थ्य होना था कि अपनी विविध आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पर्याप्त सख्या मे नौकर रख सकें वे बहुत से नौकर रखते थे। पिताजी नौकरों की आवश्यकता तो अनुभव करते ही थे। उनके प्रति व्यवहार करने के सम्बन्ध में उनके निश्चित और विशेष विचार थे, जिनका उल्लेख कर देना असगत न होगा।

मेरी बुद्धिमती यद्यपि तथाकथित निरक्षर सास का कहना था कि बड़े आदमी का काम छोटे आदमी के बिना नही चल सकता, पर छोटे आदमी का काम बड़े आदमी के बिना चल सकता है। इस उक्ति की सत्यता पिताजी अवश्य ही अनुभव करते रहे होगे। यद्यपि बहुत कुछ काम अपना वे स्वय कर लेते थे, तथापि उनके ऐसे प्रतिष्ठित पद के व्यक्ति का बिना हर प्रकार के सहायको के काम ही नही चल सकता था।

मनुष्यो में परस्पर का भेद है, यह तो मानना ही होगा। 'सब मनुष्य बराबर' हैं इस उक्ति की सत्यता को प्रमाणित करना असम्भव है यद्यपि बहुत से विचारवान् ऐसा समझते है और कहते हैं। राजनीतिक जगत में एक बराबरी का बाह्य रूप यह दिया गया है कि जैसे लोकतन्त्रात्मक देशों में सबको बराबर का मतदान करने का अधिकार है। पर वहाँ पर भी पागलों, दीवालियो, बहुकाल के बन्दियों को इस अधिकार से वचित रखा गया है। मोटे तौर से जन्मगत जातियो के आधार पर मनुष्य समाज का वर्गीकरण किया गया है अथवा धनगत श्रेणियों के आधार पर। कई अन्य प्रकार के आधार भी माने गये है जिनका निर्देश किया जा सकता है, जैसे विद्या, बल आदि। विशेषकर जाति (कास्ट), श्रेणी (क्लास) के ही आधार पर मनुष्य समाज के विविध समुदायों मे पार्थक्य माना और देखा जाता है।

वर्ण व्यवस्था अर्थात् जन्मगत जाति के अनुसार मनुष्य समाज के सघटन के सम्बन्ध मे पिताजी के जो विचार थे उनका निर्देश थोड़े में मैंने पहले किया है। पिताजी ने अपने विचार को अपने ऊपर किस प्रकार चरितार्थ किया था उसे भी मैंने बतलाने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक मैंने उनके आचार को देखा और उसका अध्ययन कर सका उससे मुझे अवश्य यह प्रतीत हुआ कि धनगत श्रेणियो के आधार पर मनुष्य समाज के विविध अगों का विभाजन वे उचित, आवश्यक और अनिवार्य मानते थे। वे स्वयं अपनी पैतृक सम्पत्ति की दृष्टि से सम्पन्न ही समझे जा सकते थे। काशी में उनके समय धनिको का जो स्तर था उसमे उनका स्थान ऊँचा ही था और मैंने कुछ ऐसा देखा कि उनका सामाजिक सम्पर्क अपनी ही श्रेणी के लोगों से रहता था यद्यपि उनका व्यक्तिगत सम्पर्क ऐसे विद्वानो से भी रहा जो निर्धन समझे जा सकते थे और पिताजी जिनका बहुत अधिक सम्मान करते थे। मैंने यह भी देखा कि उनकी ही तरह जो पैतृक सम्पत्ति प्राप्त व्यक्ति थे उनसे उनकी मैत्री कुछ नैसर्गिक-सी प्रतीत होती थी।

ऐसे सम्पत्ति-प्राप्त लोगों से क्रोध कर या ईर्ष्या करते हुए, अपने को प्रगतिवादी समझने वाले व्यक्ति उनका पद जन्म के सयोग (ऐक्सिडेण्ट ऑफ बर्थ) से प्राप्त बतलाकर उनकी हँसी उड़ाते हैं। पिताजी को इस वाक्य से बड़ी चिढ़ थी और जब कोई जन्म का सयोग (ऐक्सिडेण्ट ऑफ बर्थ) कहता था तो वे रुष्ट होकर कहते थे वाक्पटुता का संयोग (ऐक्सिडेण्ट ऑफ दी लॉग टग), मस्तिष्क की चालाकी का सयोग (ऐक्सिडेण्ट ऑफ दि कनिंग ब्रेन) भी तो कहा जा सकता है। अर्थात् जिस प्रकार से वाँक्पटुता और विद्या प्राप्त करने में परिश्रम करना पडता है, उसी प्रकार परिश्रम करने से ही पैतृक सम्पत्ति मिल सकती है। सम्भव है यह परिश्रम किसी पूर्व जन्म मे किया गया हो। सनातन धर्म के जो दो प्रधान तत्त्व हैं अर्थात् कर्म और पुनर्जन्म जिन्हें अन्य बात में मतभेद होने पर भी प्राय सभी हिन्दू मानते हैं, उन पर पिताजी का अटूट विश्वास था। इस प्रकार से जन्म के आधार पर जातिगत और सम्पत्ति के आधार पर श्रेणीगत स्थितियों का मैं उनमें अपूर्व समन्वय पाता हूँ। उदाहरणार्थ वे ईसाई और मुसलमान विद्वानो को ब्राह्मण मानते थे और भारत मे आये अग्रेजों से उनका आग्रह था कि आप सब अपनी-अपनी श्रेणियों के अनुकूल भारतीयों के विभिन्न श्रेणियों से सौहार्द रखें, उन्हे अपने बराबर का स्थान दें। पिताजी का ख्याल था कि इससे भारत और आग्ल देश का परस्पर का वास्तविक स्नेह हो सकेगा और उनका सम्बन्ध भी स्थायी बना रह सकेगा।

अपने नौकरों के प्रति व्यवहार मे वे अपने जातिगत और श्रेणीगत विचारो का बहुत कुछ अश मे पालन करते हुए प्रतीत होते थे। नौकरों मे जो अपनी-अपनी उप-जातियो के उपचार की बात रहती थी उसे अवश्य पिताजी नापसन्द करते थे। हिन्दुओ की उन्नति और उनके संघटन के लिए इसे बाधक समझते थे। उन्हे भी आश्चर्य होता था कि किस प्रकार से उपजाति विशेषों मे ऐसे विचार आये कि हमारे लिए अमुक प्रकार का शारीरिक श्रम करना ग्राह्य है और अमुक प्रकार का शारीरिक श्रम त्याज्य है। उनको अपनी बिरादरी से निष्कासित होने का दण्ड बहुत ही अनुचित प्रतीत होता था। वे समाज-निष्कासन की प्रथा को बडा ही भयावह मानते थे और उनका ख्याल था कि इसी के कारण हिन्दुओ का ह्रास होता गया और उनकी सख्या अपेक्षतया कम होती गयी क्योकि ऐसे निष्कासित लोग ही अधिकतर दूसरे धर्मो अथवा मजहबो मे चले जाते हैं। तथापि विभिन्न उपजातियों के अपने नौकरों के विचारो का वे आदर करते थे और उनसे वैसा काम करने को नही कहते थे जो उनके उपजाति विशेष की प्रथा के प्रतिकूल हो।

पुराने समय मालिक अपने नौकरों को शारीरिक दण्ड दिया करते थे। पिताजी शरीर से बलवान् थे। इस कारण जब वे किसी अपराध के लिए किसी नौकर को मारते थे तो उसे काफी चोट पहुँच सकती थी। वे अपने पुत्रो को भी इस प्रकार का दण्ड देते थे। मालूम नही क्यों उन दिनो कनेठी देने की बड़ी चाल थी। हमारे शिक्षकगण भी हमें कनेठी दिया करते थे पिताजी कनेठी बहुत देते थे मेरी समझ

मे यह अनुचित दण्ड है। इसमें श्रवण शक्ति पर कुप्रभाव पडने की आशंका हो सकती है। एक बार किसी अंग्रेज अधिकारी से बात करते हुए नौकरो को शारीरिक दण्ड देने का पिताजी ने समर्थन करते हुए कहा था कि मैं गडबडी करने पर नौकरों पर मुकदमा चलाकर अदालत मे उन्हें दण्ड दिलाने से ज्यादा अच्छा समझता हूँ कि उन्हे मारपीट या डांट-डपट कर मामला घर पर ही तय कर लूँ, और उनका सुधार भी करूँ।

नौकरों से वे श्रेणीगत पार्थक्य भी रखते थे। किसी को मुँह नहीं लगने देते थे, न कोई उनसे अनुचित लाभ ही उठा सकता था। नौकरों पर वे पर्याप्त विश्वास रखते थे यद्यपि इसका विचार रखते थे कि उन्हे लालच करने का मौका न मिले जिससे वे चोरी आदि की ओर प्रवृत्त हों। यद्यपि वे नौकरों को अपने से दूर ही दूर रखते थे, तथापि आवश्यक होने पर उनकी चिकित्सा स्वयं करते थे। मुझे स्मरण आता है कि किसी नौकर को बिच्छू ने डंक मार दिया था। उन्होंने स्वय उस नौकर के पैर के अगूठे को अपने हाथ से पकड़ कर दवा लगायी थी और उसकी चिकित्सा की थी। उनके गृहस्थी सम्बन्धी सुख-दुःख का भी वे ख्याल रखते थे, और आवश्यकतानुसार रुपये-पैसे से भी उनकी सहायता करते थे।

पिताजी की कार्य-प्रणाली मे कुछ विशेषताएँ मैंने पायी। एक तो वे किसी स्थिति में व्याकुल नही होते थे। सब स्थितियों का सामना शान्तिपूर्वक करते थे और जो काम वे करते थे उसे पूर्ण रूप से करते थे। जल्दी में या घबरा कर वे किसी काम को नहीं करते थे। सब काम सावधानी से सोच-विचार कर ही किया करते थे। उनकी प्रकृति में किसी प्रकार प्रमाद नहीं था। वे जब कुछ लिखते थे तो बड़ी सफाई के साथ सुन्दर और स्पष्ट अक्षरों में लिखते थे। लिखते-पढते समय यदि किसी वाक्य आदि के सम्बन्ध मे उन्हे शका होती थी तो फौरन उठकर उपयुक्त कोष अथवा अन्य सन्दर्भ ग्रन्थो को अपने पुस्तकालय की आलमारी से निकाल कर उस सम्बन्ध मे अपनी शका का तुरन्त समाधान कर लेते थे। भोजन अथवा किसी अन्य क्रिया मे वे जल्दी नही करते थे।

स्नान की उनकी विशेष विधि थी। गर्मी में भी शायद ही वे एक बाल्टी से अधिक जल का प्रयोग करते रहे हों। सूखी छोटी तौलिया को पानी में भिगो-भिगो कर वे अपने शरीर को बड़े जोरो से रगडते थे। बलवान हाथो के होने के कारण उनका शरीर स्नान के बाद बिल्कुल लाल हो जाता था। रक्त का सचार जैसे सारे शरीर में वेग से होता था। बहुत से लोग स्नान मे जल्दी करते है। दो चार लोटा पानी अपने ऊपर डाल कर स्नान समाप्त कर देते हैं, नदी में स्नान करते हुए भी अपने शरीर को अच्छी तरह नही रगडते। पैर को तो ठीक तरह पोंछते भी नहीं। ऐसी अवस्था मे स्नान नाममात्र का ही होता है। पिताजी साबुन का कभी प्रयोग नही करते थे। सफर मे हाथ धोने के लिए साबुन की एक बट्टी रख जरूर लेते थे, पर यह भी काम में बहुत कम आती थी अपने नब्बे वर्ष के जीवन में उन्होंने शायद ही

आठ दस बट्टी का प्रयोग किया हो। पुस्तकों के सिवाय और किसी नये उद्योग को उनके द्वारा प्रोत्साहन नहीं मिला। गांधी जी का आन्दोलन होने के समय से उन्होने खादी के वस्त्रो का ही प्रयोग किया, पर स्वय चर्खा कभी नहीं चलाया।

यद्यपि वे पहले अति भोजन किया करते थे और व्यवसाय कर उसे पचाते थे और शरीर को भी सुडौल बनाये रहते थे, पर वृद्धावस्था मे तो वे बहुत ही दुर्बल हो गये थे। उनके भोजन की मात्रा बहुत ही कम हो गयी थी और अधिकतर वे काफी के पान पर ही आश्रित रहे। वे कहते थे कि भोजन मुझको इतना प्रिय रहा है और मैं इतना अधिक खाना खाया करता था कि उदर का दायरा सम्भवतः बहुत बडा हो गया है। इस कारण मैं भोजन के पास ही नहीं जाता नही तो लोभवश अधिक खा जाता हूँ। वास्तव मे वृद्धावस्था में भी यदि पुत्रियाँ और पौत्रियाँ बहुत आग्रह करती थीं और वे साधारण भोजन खाना स्वीकार कर लेते थे तो वे बहुत खाना खा जाते थे। जैसे-जैसे वृद्ध होते गये, अपने खाने की मात्रा कम करते गये। उनका कहना था कि ४० वर्ष तक आदमी खाकर जीता है। उसके बाद भूखा रहकर जीता है। उनकी पौत्रियाँ उन्हें खाना परसती थीं तो उनसे पूछते थे कि कै रोटी खायी। जब वे कहती थीं कि इतनी खायीं, तो वे कहते थे कि तुम कम बतलाती हो। इस पर वे प्रत्येक रोटी का टुकडा तोड़कर अलग रखने लगे। उन टुकडों को पीछे गिनते थे और जब यह देख लेते थे कि अब अधिक नहीं खाना चाहिए तो भोजन समाप्त कर देते थे। अत्यधिक कूच-कूचकर खाने के कारण उनके दाँत घिस गये थे पर अन्त तक बने रहे। दो ही चार टूटे थे। कोई नकली दाँत उन्होंने कभी नही लगाया।

पाश्चात्य सस्कृति के अनुसार भोजन करना एक सामाजिक प्रक्रिया है और पश्चिम मे प्रथा है कि कई लोग मिलकर साथ भोजन करते हैं, और खाते हुए बहुत सी बाते करते रहते हैं। हमारी सस्कृति मे विशेष उत्सवो को छोडकर प्राय लोग अकेले ही भोजन करते हैं। पिताजी का भी यही नियम था। मुझे तो ऐसे बहुत कम अवसर स्मरण आ रहे है जब उन्होने अपनी सन्ततियो को अपने साथ बैठाकर खाना खाया हो। यही सब गृहस्थों के यहाँ की स्थिति है। इस कारण बालक-बालिकाओं को भोजन सम्बन्धी आवश्यक उपचारों को जानने का अवसर नही मिलता। जब उन्हें विवाह आदि अवसरों पर दूसरों के यहाँ जाना होता है तो वे भारी गलतियाँ कर देते हैं।

जीवन का एक प्रकार से प्रधान अंग भोजन है, और भोजन के समय जैसा हम व्यवहार करते हैं वैसा ही हम जीवन की अन्य स्थितियो में भी करते हैं। हम भोजन अकेले करते हैं तो प्रायः अन्य सब कार्य भी अकेले करते हैं। हम भोजन में छुआछूत मानते हैं तो सभी स्थितियों में इसे मानते हैं। इसी छुआछूत के भेद के कारण रोटी आदि चौके के भीतर से फेक कर हमें दी जाती है, जिसे हम बुरा नही मानते। प्रतिदिन के जीवन में भी हम एक-दूसरे को वस्तुएँ फेक कर देते रहते हैं। यदि घर के दो-चार प्राणी साथ भोजन करते हैं तो घर-गृहस्थी की दिक्कतों के सम्बन्ध मे

अथवा अपने व्यवसाय की परेशानियो के बारे में, अपने रोगो और कठिनाइयो की बातें करने मे परहेज नही करते। इस कारण जब हम अन्य लोगो से सामाजिक प्रकरणों मे या रेल का सफर करते हुए मिलते हैं तो भी हम ऐसी बातो की चर्चा करते रहते हैं। विवाह आदि के समय के सामूहिक भोजनों के अवसर पर हम बडा शोर करते है। इस कारण हम सभी स्थानो पर शोर करते रहते है। हम भोजन का कोई निर्धारित समय नही रखते। इस कारण हमारा किसी काम के लिए निर्धारित समय नही रहता, और समय का पालन करना तो हम जानते ही नही। इसी प्रकार यदि किन्हीं लोगों का हम व्यवहार विशेष देखे तो अवश्य ही उसका मूल कारण हमे उनके भोजन के समय का व्यवहार ही प्रतीत होगा। पिताजी ऐसे सामूहिक भोजन में भी जब सम्मिलित होते थे, वहाँ भी अपना निज का प्रकार बरतते थे। जो पदार्थ उन्हे रुचिकर होता था वही खाते थे और शान्तिपूर्वक चबा-चबाकर ही खाते थे।

अब तो नगरो की विशिष्ट सामाजिक मण्डलियों में छुआछूत बहुत कम हो गया है, पर पचास वर्ष पहले काशी में तो इसका काफी जोर था ही। मेरे छोटे भाई के विवाह के अवसर पर पिताजी की तरफ से काशी के प्रतिष्ठित सज्जनों को चाय पार्टी दी गई थी। बहुत से छोटे-बड़े टेबुल बगीचे मे लगे हुए थे जिन पर भोजन की सामग्री थी और उनके चारो तरफ आगन्तुकों के लिए बैठकर चाय पीने और भोजन करने का प्रबन्ध था। कुछ मुसलमान अतिथि भी आये हुए थे। उनमे एक बड़े प्रतिष्ठित वकील भी थे। आने को तो वे आये, पर जब मैंने उनसे कहा कि चलकर भोजन कीजिए तो उन्होने जाना अस्वीकार कर दिया। मुझको ऐसा लगा कि वे इस कारण अस्वीकार कर रहे हैं कि हिन्दू लोग प्राय हिन्दू इतरों के साथ भोजन नहीं करते। वास्तव में हिन्दू लोग परस्पर भी यही प्रथा बरतते हैं, पर मुसलमान, अग्रेज आदि कुछ ऐसा समझते हैं कि हिन्दू लोग हमें अपने से छोटा मानते हैं, हमसे घृणा करते हैं, इस कारण हमारे साथ नही खाते। यह विचार बिल्कुल गलत है, पर है।

उस समय की स्थिति देखकर पिताजी से जाकर मैंने कहा कि आप एक टेबुल पर बैठ जाएँ तो मैं मौलवी साहब को भी वहाँ लिवा लाऊँ। अन्य मुसलमान सज्जन जो उनके कारण नही आ रहे हैं, वे भी सम्भवत. आ जायेंगे। पिताजी ने मेरी बात मानी। यद्यपि घर के लोगों को असमजस हो रहा था, पर पिताजी एक बडे टेबुल पर जा बैठे, और जब मैंने मुसलमान वकील साहब से कहा कि आप भी चलिए तो वे प्रसन्नतापूर्वक राजी हो गये, और बिना किसी अप्रिय घटना के शान्ति और आनन्द के साथ उत्सव समाप्त हुआ।

वृद्धावस्था मे पिताजी अलग ही भोजन किया करते थे, और किन्ही उत्सवों मे भी उनका जाना बन्द हो गया था। कॉफी का सेवन वे बड़े प्रेम से और देर तक किया करते थे और यही उनका प्रधान भोजन रह गया था। संयोगवश एक दिन श्री टण्डन ऐसे समय आये जब वे काफी पी रहे थे टण्डन जी ने कुछ

चिन्तित मुद्रा में पूछा—'बाबू जी, आप क्या कर रहे हैं ?' उत्तर मिला—'मैं काफी पी रहा हूँ।' हिन्दी-प्रेमी टंडन जी ने कुछ आवेश में आकर अंग्रेजी में कहा 'काफी धीरे-धीरे विष का काम करती है (काफी इज स्लो पाईजन)।' पिताजी ने इस पर हँसकर कहा, 'बहुत ही धीरे-धीरे, क्योंकि मेरी अवस्था पचासी वर्षों की हो गयी (वेरी वेरी स्लो इंडीड, फार आई एम एट्टी फाइव इयर्स आफ एज)।' पिताजी को हास्य और विनोद करते मैंने बहुत कम पाया। वे बड़ी गम्भीर प्रकृति के थे, और सभी स्थितियों में वे गम्भीर ही रहते थे। टंडन जी से जो विनोदपूर्ण बात कही वह उनके जीवन का अपवाद ही मानना चाहिए।

पर ऐसी बात नहीं कि वे हँसना-खेलना नहीं जानते थे। पौत्रों और पौत्रियों के साथ वे खेल-कूद करते ही थे। एक बार हम सब लड़कों के आग्रह पर वे ताश खेलने पर राजी हुए। अपने हाथ का जो ताश चाहते थे आगे डाल देते थे। जब किसी ने उनसे कहा कि 'यह आप क्या कर रहे हैं, ठीक तरह खेलिए,' तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'यदि खेल में भी दिमाग लगाना जरूरी है तो खेल कैसा, पुस्तक ही पढ़ी जाय।' अपने अधिकतर देशवासियों की तरह पिताजी समय का पालन नहीं कर सकते थे। श्रीमती एनी बेसेन्ट का उनका करीब पन्द्रह वर्षों तक निकट सम्पर्क रहा। भारत की सेवा के विविध कार्यों में पिताजी का जितना साथ और सहयोग उनसे था उतना किसी दूसरे से नहीं रहा। श्रीमती एनी बेसेन्ट समय का पालन बड़ी सख्ती से करती थीं, पर इसका प्रभाव पिताजी पर नहीं ही पड़ा। बहुत देर तक उनके लिए बड़े-छोटे सभी लोगों को ठहरना पड़ता था। एक बार उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल सर जेम्स मेस्टन का किसी गोष्ठी में सम्मिलित होने के लिए उनको निमन्त्रण था। मैं ठीक नहीं कह सकता पर यह गोष्ठी या तो हिन्दू-मुस्लिम समस्या के सम्बन्ध में विचार करने के लिए थी, या काशी हिन्दू-विद्यालय के सम्बन्ध में। पिताजी जब देर करके पहुँचे और उसके लिए क्षमा-याचना की तो मेस्टन साहब ने कहा कि 'आपके बिना तो हम कुछ कर ही नहीं सकते थे।' सब लोग उनके लिए प्राय. १५ मिनट ठहरे रह गये।

पिताजी ने अमेरिका से विशेष रूप से ऐसी घड़ी मंगाई थी जिसमें ४०० दिनों पर एक बार चाबी देने की आवश्यकता होती थी। उसका लंगर गोल घूमता था, साधारण दीवार की घड़ियों की तरह दाहिने-बायें नहीं चलता था। यह घड़ी सन् १९०५ में आई थी और ५३ वर्ष पीछे उनकी मृत्यु तक उनके सामने रहती थी। प्रतिवर्ष पहली जनवरी को इसमें चाबी दी जाती थी। इस प्रकार ५३ बार चाबी देने से ही इसने पिताजी का साथ इतने वर्षों तक दिया। उनकी सभी अन्य वस्तुओं की तरह यह भी बड़ी सुरक्षापूर्वक दीर्घजीवी रही। एक बार श्रीमती एनी बेसेन्ट इनके पास कमरे में बैठी थीं जब टेबुल पर यह घड़ी भी शोभा देती हुई अपना काम कर रही थी, पर करीब २० मिनट तेज चल रही थी। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने पिताजी से कहा—'भगवन्—पिताजी को आधे नाम से पुकारते हुए श्रीमती एनी बेसेन्ट और

अपने छोटे दादा जी को ही मैंने देखा था—तुम्हारी घडी बहुत तेज है।' पिताजी ने उत्तर दिया—'मुझसे समय का पालन नही होता, सदा विलम्ब हो जाता है। इस कारण मैं जान-बूझकर घडी तेज रखता हूँ, जिससे करीब-करीब समय से निर्दिष्ट काम और स्थान पर पहुँच सकूँ।' मिसेज बेसेन्ट ने इस पर कहा कि 'जब तुम जानते हो कि घडी तेज है, तो कैसे समय का पालन कर सकोगे।' पिताजी का प्रत्युत्तर था—'मैं प्रयत्न करता हूँ कि ऐसा समझूँ कि घडी ठीक है जिससे समय से चलूँ।' उन्हे अपनी जेब में घड़ी ले चलते शायद ही मैंने देखा हो यद्यपि जेब घडी उनके पास थी जरूर। समय पालन न कर सकने का यह परिणाम होता था कि रेल से यात्रा करने के लिए जब उन्हें जाना होता था तब वे स्टेशन पर एक घटा भर पहले ही पहुँच जाते थे।

जैसा मैंने इस पुस्तक के दौरान मे कितने ही स्थानों पर निर्देश किया है वे विविध विषयो की पुस्तकें पढते थे और सभी बातों का विस्तृत ज्ञान रखते थे। पशु-पक्षियों के रूप-रग, चाल-ढाल के अध्ययन मे उन्हें बडी रुचि थी। आस्ट्रेलिया ऐसे दूर देशों से वे पशु-पक्षी सम्बन्धी सुन्दर रगीन चित्रो से अलंकृत पुस्तको को मगाते थे और उनके चित्रों को बड़े प्रेम से देखते थे। बगीचे मे बैठे हुए वे पक्षियो की प्रक्रियाओ को देर तक देखते रहते थे। जब कलकत्ता जाते थे, वहाँ के चिड़ियाघर (जुआलाजिकल गार्डन) अवश्य जाते थे और देर तक घूम-घूमकर विविध पक्षियो और पशुओं के रंग-रूप को देखकर अपने चित्त को प्रसन्न करते थे। वृक्षों से भी उन्हे इतना प्रेम था कि जो मकान उन्होने अपने बैठने आदि के लिए सेवाश्रम के आहाते मे बनवाया, उसकी कोठरियाँ इस कारण छोटी रह गयी कि जितनी जमीन पर वह बना उसके चारो कोने पर आम के वृक्ष थे। वे इन्हे काटना नही चाहते थे। वृक्ष तो मर गये पर कोठरियाँ छोटी रह गयी।

फूलो से भी उनको बड़ा प्रेम था और बगीचे के विविध फूलों को वे झुक-झुक कर सूँघते थे। उनकी घ्राण शक्ति बड़ी तीव्र थी। वे कहते थे कि जिस प्रकार से प्रकाश के सात रग कहे जाते हैं जो आँख से देखे जाते हैं, और सगीत के सात स्वर कहे जाते हैं जो कान से सुने जाते हैं, उसी प्रकार गन्ध के भी कोई सात विभाग होने चाहिएँ जो नही किये गये हैं। दुर्गन्ध से उन्हें बहुत ही कष्ट होता था और जब कभी कार्यवश काशी नगरी की गलियों में उन्हें जाना पडता था तब अपने रूमाल में वे इत्र अवश्य लगा लेते थे और नाक को बन्द किये हुए वहाँ चलते थे। उन्हें संगीत का भी ज्ञान और शौक था यद्यपि हमारे घर मे इस कला का किसी प्रकार का प्रदर्शन नही होता था। उन्हे सितार पर भजन सुनना पसन्द था और बहुत दिनों तक नियमित रीति से एक पण्डित सितार बजाकर उन्हें भजन सुनाने आते थे। कभी-कभी जब किसी विशेष उत्सवो में निमन्त्रित होकर जाते थे और वहाँ गाना होता था, तो मैंने देखा है कि वे काफी मन लगाकर उसे सुनते थे। उन्हें कव्वाली सुनने का भी बडा शौक था

पिताजी को कहानियों को पढने मे बडा रस आता था। रामायण, महाभारत और विविध पुराणो की कथाएँ तो उन्हें कण्ठस्थ थी। अंग्रेजी के तो पुराने सभी उपन्यास उनके पढे थे। फ्रांसीसी और जर्मन भाषाओ मे उपन्यासों को भी उनके अगरेजी अनुवाद में उन्होने पढ डाला था। कितनी ही छोटी-छोटी कहानियाँ भी वे पढा करते थे। वे उन थोडे लोगों में रहे होगे जो 'ग्रैंड मैगजीन' नामक कहानियो की अंग्रेजी पत्रिका के ग्राहक थे। प्रायः लोग स्टेशनो की किताबो की दुकानो पर से ही उन दिनो 'विडसर', 'स्ट्रैण्ड', 'ग्रैंड' आदि अंग्रेजी पत्रिकाएँ, यात्रा करते हुए खरीद लेते थे, पर पिताजी 'ग्रैड' मेगजीन के ग्राहक हो गये थे और उसका चन्दा इगलैंड भेजा करते थे।

पिताजी को ज्योतिष में बडा विश्वास था। इस शास्त्र से वे स्वय भी परिचय रखते थे। अपना और अपने कुटुम्बीजनों का नियमित रूप से वर्षफल भी तैयार करवाते थे, और अपने जीवन मे ज्योतिष द्वारा प्राप्त सकेतो का बहुत ख्याल रखते थे। वे अपने स्वप्नों का भी सूक्ष्म अध्ययन करते थे। उनमें वे भावी घटनाओ के सकेतो का अनुमान करते थे। अपनी दैनन्दिनी मे स्वप्नों का उल्लेख नियमित रूप से किया करते थे। अपने शरीर के विविध अगो के फडकने को शुभ अथवा अशुभ शकुन मानते थे। हममे से कितनो ही को आश्चर्य होता है कि ऐसे बडे विद्वान इतनी बातो के ज्ञाता, ऐसी बात पर कैसे विश्वास करते है जो साधारणत अशिक्षित, रूढि-वादी ग्रामीणों का अन्धविश्वास समझा जाता है, पर उनको इन प्राकृतिक सकेतो पर श्रद्धा थी और यदि घर से बाहर जाते हुए कोई अशुभ सकेत होता था तो वे कुछ देर रुक ही जाते थे।

मैंने लिखा है कि पिताजी की शरीर सम्पत्ति बहुत अच्छी थी। उनका शरीर सुडौल और सुदृढ था। उन्हें व्यायाम का बडा शौक सदा से रहा। वृद्धावस्था मे तो थोड़ा टहलने का ही व्यायाम कर सकते थे। साथ ही उन्हें कुर्सी के एक पावे को पकडकर उसे उठाने का प्रयोग करना बहुत पसन्द था। इसमे शक्ति और दक्षता दोनो की ही आवश्यकता पडती है। वे सुगमता से इस प्रकार से कुर्सी उठा लेते थे और मुझसे और अन्य कुटुम्बीजनों तथा आगुन्तकों, विशेषकर नवयुवकों, से ऐसा करने को कहते थे, जिसे करना लोग कठिन अनुभव करते थे। अधिकतर लोग तो ऐसा कर ही नही पाते थे।

यद्यपि पिताजी ने नब्बे वर्षों की आयु पायी तथापि आश्चर्य होता है कि वे इतना काम कैसे कर सके विशेषकर जबकि वे समय का पालन नहीं कर पाते थे और बड़े कुशल गृहस्थ होने के कारण बहुत-सा घर का भी काम उनको करते ही रहना पडता था। इसमें कोई सन्देह नही कि सब निर्धारित और अभीष्ट काम करते हुए वे व्यर्थ के काम में समय व्यतीत नही करते थे। दूसरों को अपने को तग भी नही करने देते थे। सार्वजनिक पुरुषों को लोग प्रायः नाना प्रकार के छोटे-छोटे साधारण कामो के लिए निमन्त्रित करते रहते हैं और उन्हें विवश होकर उनमें जाना

पड़ता है। ऐसी अवस्था में बहुत से विशिष्ट सार्वजनिक पुरुषो के बहुत समय का अपव्यय होता है। पिताजी इससे अपनी रक्षा किये रहते थे। पिताजी स्पष्ट 'नहीं' कर देते थे। जाने से इन्कार कर देते थे। लोग रुष्ट होते थे, समझते थे कि हमें छोटा जानकर हमारी बातें उन्होने नही मानी। पर उसकी चिन्ता उन्हे नही होती थी। यदि उन्हें किसी स्थान पर जाना पसन्द नहीं था या कार्य-विशेष वे नही करना चाहते थे तो बड़े-छोटे सभी से वे 'नही' करते रहते थे। यद्यपि बहुत से लोग उनसे मिलने आते रहते थे, पर वे बहुत कम लोगो से मिलने जाते थे। शादी-गमी मे जहाँ जाना बहुत आवश्यक होता था, वहीं जाते थे। तथापि लोगों को इनका इतना अधिक आदर था कि उनके पास अपने कौटुम्बिक सुख-दु.ख के कार्यो के सम्बन्ध मे लोग भारी संख्या मे आते थे।

उनका सामाजिक जीवन काफी सीमित था, और कुछ ही लोगों के बीच यह बीतता था। उससे इनका काफी समय बचता था। साथ ही दिनचर्या और रात्रिचर्या बहुत नियमित होने के कारण उनको अपने कार्यो के लिए पर्याप्त अवकाश मिल जाता था। यद्यपि साधारण मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल अपने कार्यों की प्रशसा से उनको सन्तोष मिलता ही था, पर चापलूसी वे नही करने देते थे और चापलूसों से वे रुष्ट होकर उन्हें विदा कर देते थे। यदि कोई उनके किसी भाषण या पुस्तक की प्रशसा करता था तो वे पूछते कि आपने क्या समझा, जिसके बाद स्पष्ट पता चल जाता था कि वह व्यर्थ तारीफ कर रहा था या उसने कुछ समझा भी है। बहुत से लोग भक्ति से उनकी सेवा करने के लिए उनके पास आना चाहते थे पर वे इस प्रकार की मंडली को पसन्द नही करते थे। वे हर प्रकार से व्यक्तिवादी ही कहे जा सकते थे, और इस कारण वे समय का अपनी इच्छा के अनुसार सद्व्यय कर सकते थे।

सकुचित सामाजिक सम्पर्क रखने से अपनी जन्मगत बिरादरी के सम्बन्ध में उन्हें कष्ट भी उठाना पड़ा। किसी भी बिरादरी विशेष मे हर प्रकार के लोग रहते हैं—धनी, दरिद्र, शिक्षित, अशिक्षित आदि—पर हिन्दुओ की सामाजिक व्यवस्था मे एक बिरादरी के सभी लोग बराबर के माने जाते है, और सबका सबके यहाँ कौटुम्बिक उत्सवों, व्यसनो मे जाना आवश्यक समझा जाता है। किसी समय रास्ते मे पिताजी से कोई बिरादरी के वयोवृद्ध विशिष्ट सज्जन मिले और उन्होंने शिकायत के रूप मे यह कहा कि 'आप कहीं आते नही।' पिताजी ने अपनी कार्य-व्यस्तता ही इसका कारण बतलाया। पर बिरादरी के लोग इससे सन्तुष्ट नही होते, और न वे यही मानने को तैयार होते हैं कि कोई भी इतना व्यस्त हो सकता है कि अपने बन्धु-बान्धवो के यहाँ न जा सके।

प्राय. लोगों का जीवन अपने घर-गृहस्थी और हाल रोजगार में ही बीतता है और वे सामाजिक उपचारों की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त समय निकाल सकते है। उनके लिए तो समझना ही कठिन होता है कि कोई इतना व्यस्त हो सकता है कि अपने समाज की किसी प्रकार उपेक्षा करे। जब विवाह आदि का आवश्यक

सम्बन्ध बिरादरी तक ही सीमित था तो उसकी आराधना करते रहना अपनी ही रक्षा के लिए आवश्यक होता है, और इसका नैसर्गिक रूप से लोग बडा ही ख्याल रखते हैं। हमारे कुटुम्ब का बिरादरी से निष्कासन का, जिसकी कहानी मैं कह चुका हूँ, बहुत बडा कारण यह था कि पिताजी बहुत कम जगह जाते थे। वे बडे लब्धप्रतिष्ठित व्यक्ति थे, इस कारण बहुतो की यह हार्दिक आकांक्षा रहती ही थी कि पिताजी उनके धर जायँ। साथ ही बिरादरी वालों को भी इस बात की मान और शान थी कि हम किसी को दूसरों से बड़ा नही मानते, और इस कारण जब उनके घर के नवयुवको की किसी रूढ़ि की अवहेलना करते उन्होने पाया तो सारे कुटुम्ब को बिरादरी से निष्कासित कर दिया।

पिताजी अपने सम्बन्ध में बहुत कम बाते करते थे। प्राय लोग बातचीत करते हुए अपने पुराने कृत्यों का उद्धरण करते हैं और उनके द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आत्म-प्रशसा भी कर जाते हैं। पिताजी अपने सम्बन्ध मे कभी भी कुछ नही कहते थे। इससे इनकी जीवनी की बातो को जानने का बाहर वालों को क्या घर वालो को भी बहुत कम अवसर मिलता था। वास्तव मे जो कुछ मैं स्वय ही उनके सम्बन्ध में जान पाया, वह या तो अपने अनुभव से जाना अथवा माता से और पिताजी के मित्रों से उनके जीवन की घटनाओ के सम्बन्ध मे सुनकर जाना, जिसके आधार पर लिखने का मैंने साहस किया है।

वे दूसरे लोगों के सम्बन्ध में भी बहुत कम बाते करते थे। दूसरों की न वे निन्दा सुनते थे, न प्रशंसा, न स्वयं ही निन्दा या प्रशसा किया करते थे तथापि उन्हें ऐसे लोगों से चिढ होती थी जो किसी कारण अपनी बहुत शान करते थे। या जिनके सम्बन्ध मे उनका ऐसा विचार होता था कि वे अपने प्रभाव का दुष्प्रयोग कर गलत रास्ते पर अन्यों को ले जाते हैं। कभी-कभी वे ऐसे लोगों की प्रसगवश चर्चा करते थे, और सुनने वालो का ऐसा विचार हो सकता था कि पिताजी की भी प्रकृति मे कुछ ईर्ष्या की भावना है। यह असम्भव नहीं है। कोई मनुष्य पूर्ण नही हो सकता। सब कुछ होते हुए भी पिताजी भी तो मनुष्य ही थे। यदि उनमे मनुष्य-जनित कुछ त्रुटियाँ थी तो कोई आश्चर्य की बात नही है।

तेरहवाँ अध्याय

मित्र और आगन्तुक

पिताजी की व्यक्तिगत मैत्री बडे से बड़े लोगो से रही। पर पिताजी उनसे अपने सम्पर्क के सम्बन्ध मे चर्चा नही करते थे जैसा कि ऐसे लोग करते रहते हैं जिनका विशिष्ट लोगो से परिचय रहता है। इसका दुष्परिणाम अवश्य हुआ कि इन बडे लोगों के सम्बन्ध में भी हमे कोई जानकारी नहीं हुई, और सम्भव है कि इन लोगों से सम्बन्धित ऐतिहासिक और सामाजिक घटनाओं को जानने से हम वंचित रहे क्योंकि जिस युग मे पिताजी का जीवन बीता था वह बडा ऐतिहासिक युग रहा। उसमें देश में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी प्रकार के राष्ट्रीय जीवन मे बडे उलट-फेर हुए। यदि अपनी और अपने साथियों और साथ ही अपने समय की कहानी वे स्वय लिख या बतला गये होते तो आगे की पीढ़ियों को इस युग विशेष को समझने में बडी सहायता मिलती।

निकट से पिताजी के मित्रों और सम्बन्धियों की बातों को न जानने के कारण, उनके बारे में कुछ लिखने में संकोच अवश्य होता है तथापि मैं उचित समझता हूँ कि पिताजी के कतिपय विशिष्ट मित्रों और सहयोगियों का यहाँ पर उल्लेख कर दूं। पिताजी के डिप्टी कलेक्टर होने की हैसियत से सरकारी नौकरी में रहते हुए उनकी विशेष मैत्री बाराबकी के वकील पण्डित परमेश्वरी दास से हुई जिन्ही के द्वारा उनसे पण्डित धनराज से परिचय हुआ जिन्होंने उन्हें प्रणववाद की पोथी लिखवायी जिसकी रहस्यमय कहानी पुस्तक में दी हुई है। जब पिताजी इलाहाबाद में डिप्टी कलेक्टर रहे तब उनकी मैत्री राजा परमानन्द, श्री ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती और सर अकबर हैदरी से हुई जो आगे बराबर बनी रही। राजा परमानन्द मुरादाबाद के बड़े प्रतिष्ठित कुल के रहे और इलाहाबाद मे सरकारी वकील थे। जब पिताजी वहाँ डिप्टी कलेक्टर रहे, राजा परमानन्द से उनकी निकटतम व्यक्तिगत मैत्री हुई। ये सबसे अधिक बार हमारे यहाँ काशी में आये और ठहरे। ये पीछे उत्तर प्रदेश में जिला और दौरा जज हुए और पिताजी भी इनसे मिलने बराबर लखनऊ जाया करते थे। जब शिक्षा मन्त्री की हैसियत से इनकी सन् १९२३ मे यकायक मृत्यु हुई तो पिताजी को बडा शोक हुआ और यद्यपि वे ऐसे कृत्यों में कहीं बाहर नहीं जाते थे, इनकी अन्त्येष्टि मे लखनऊ गये थे।

सर अकबर हैदरी उस समय प्रयाग में एकाउन्टेन्ट जनरल आफिस में कोई

अफसर थे, और पीछे हैदराबाद के निजाम के यहाँ इन्होंने उच्च से उच्च स्थान प्राप्त किया। अन्त में ये ब्रिटिश शासन के वायसराय की प्रबन्ध परिषद् (एक्जीक्यूटिव काउन्सिल) के सदस्य हुए। मृत्यु के कुछ ही दिन पहिले ये काशी पिताजी से विदा होने मात्र के लिए आये थे। उसके कुछ ही दिन बाद उनका देहावसान हो गया। श्री ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती उस समय सरकारी शिक्षा विभाग में थे, और पीछे लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति हुए थे।

पिताजी की सबसे अधिक घनिष्ठ मैत्री श्रीमती एनी बेसेन्ट से थी जिनके साथ उन्होंने धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक और शैक्षिक क्षेत्रों मे अपने जीवन का विशेष काम किया जिसका उल्लेख यथास्थान पुस्तक में किया गया है। थियासोफिकल सोसाइटी और सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज के कार्य मे श्री उपेन्द्रनाथ बसु, श्री कालीदास मित्र, श्री कालीचरण मित्र और श्री ज्ञानेन्द्रनाथ बसु से विशेष सम्पर्क रहा जिसके कारण उन सबसे व्यक्तिगत मैत्री भी आजीवन बनी रही। बसु और मित्र कुटुम्ब बगाल से आकर काशी मे कई पीढियों से बसे थे। इसी मे श्री प्रमदादास मित्र नाम के विशिष्ट विद्वान् हो गये हैं। काशी में ये दोनों कुल बडे प्रतिष्ठित थे और विद्यानुरागी होने के कारण थियासोफिकल सोसाइटी तथा हिन्दू कॉलेज की स्थापना और सचालन में इनका बडा हाथ था। इसी सम्बन्ध मे पिताजी का डाक्टर आर्थर रिचर्डसन, श्री जार्ज सिडनी आरंडेल और उनकी बुआ मिस फ्राँसेस्का आरंडेल, मिस विल्सन, श्री ई० डब्लू० वुडहाउस, मिस लिलियन ऐडगर, मिस पामर, श्री जमशेदजी ऊनवाला, पण्डित इकबाल नारायण गुर्टू, श्री काशीनाथ तेलग, श्री संजीव राव, श्री जहाँगीर सोराबजी, श्री इलच जहाँगीर तारापुरवाला, श्री काली प्रसन्न चक्रवर्ती, श्री फणिभूषण अधिकारी, श्री पाटकर, पण्डित आदित्य राम भट्टाचार्य, श्री इन्द्र नारायण सिह, श्री वीरेश्वर वैनर्जी और उनके भाई श्री परेशनाथ बैनर्जी से विशेष सम्पर्क हुआ। डाक्टर रिचर्डसन बहुत बड़े वैज्ञानिक थे। मृत्यु के पहले कह गये थे कि उनका दाह सस्कार किया जाय। थियासोफिस्ट होते हुए भी औपचारिक रूप से वश परम्परागत वे ईसाई ही माने जा सकते थे जिनमें दफनाने की विधि है। थियासोफिस्ट गण हिन्दू और बौद्ध विधियों से प्रभावित होकर दाह सस्कार ही प्राय: पसन्द करते हैं। पिताजी ने इनका दाह संस्कार सम्पन्न किया था। ६० वर्ष की इनकी आयु मे यही दाह संस्कार उनके हाथों हुआ था। काशी के कतिपय पण्डितों ने इस पर उनकी आलोचना की थी और उनका ऐसा करना अनुचित बतलाया था। पिताजी ने इसका समुचित उत्तर भी दिया था और रामायण मे वर्णित रामचन्द्र जी द्वारा गृद्ध जटायु के दाह सस्कार किये जाने का उल्लेख किया था।

यहाँ पर यह भी लिख देना उचित होगा कि दिसम्बर १६६६ मे जिस समय मैं यह लिख रहा हूँ केवल मैं ही बचा हूँ जो उस अवसर पर उपस्थित था जब जुलाई १८६८ मे सेन्ट्रल हिन्दू कालेज का शुभारम्भ हुआ था। मेरे चचेरे भाई श्री श्रीनिवास जी भी वहाँ थे जिनका देहावसान एक महीने पहिले बिगत नवम्बर मास मे हो गया।

प्रारम्भिक दिनों के शिक्षकों मे अब केवल श्री परेशनाथ बनर्जी बच गये हैं और उन दिनों के विद्यार्थियों में जहाँ तक मैं याद कर सकता हूँ केवल श्री सनतकुमार बसु और मैं बचे हैं। श्री सनतकुमार श्री उपेन्द्रनाथ बसु के पुत्र है।

समाज-सुधार के सम्बन्ध मे लाला बैजनाथ जी उत्तर प्रदेश मे प्रतिष्ठित दौरा जज रहे, श्री लाला निहालचन्द जो मुजफ्फरनगर के सम्मानित नागरिक और पुरानी केन्द्रीय विधान परिषद् के लार्ड कर्जन जैसे वायसराय के जमाने मे साहसी सदस्य रहे, सर सीता राम और लाला रामानुज दयाल से जो दोनों मेरठ के प्रमुख नागरिकों मे रहे, उनका सम्पर्क हुआ।

इसी तरह हिन्दू कालेज और थियासोफिकल सोसाइटी के कार्य के सम्बन्ध मे उनकी कितने ही लोगों से सारे देश मे निकट मैत्री हुई। इनमें सर एस० सुब्रह्मण्य ऐयर जो मद्रास के प्रसिद्ध मुख्य न्यायाधीश रह चुके थे तथा सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर जिन्होंने विविध क्षेत्रों मे यश कमाया था, तथा बम्बई के श्री धर्मसे मुरार जी जो अपने समय के बहुत बड़े उद्योगपति थे और जिन्ही के कुटुम्बीजन सिंधिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी को चला रहे हैं, सरदार उमराव सिंह, राजा दलजीत सिंह, राजा चिरजीत सिंह जो किन्ही सिख राज घरानों के सदस्य थे, सरदार योगेन्द्र सिंह जो पीछे वायसराय के एक्जीक्यूटिव कौंसिलर हुए, डाक्टर बालकृष्ण कौल जो लाहौर के बड़े प्रतिष्ठित विद्वान् और चिकित्सक थे, श्री दयाकृष्ण कौल जो पहले काश्मीर के और बाद मे कई अन्य देशी राज्यों के दीवान हुए, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सब इनके मित्र थे और हमारे यहाँ अतिथि भी रहते थे। दरभंगा के पण्डित विन्ध्यनाथ झा और पण्डित गगानाथ झा दो विशिष्ट भाई थे जिनसे हमारे कुल की विशेष मित्रता रही और ये हमारे यहाँ बराबर आते और ठहरते रहे। पण्डित गगानाथ झा ने तो अपनी विद्वत्ता के कारण बडा यश पाया और प्रयाग विश्वविद्यालय के कितने ही वर्षो तक उप-कुलपति रहे और कितने ही ग्रन्थ लिखे और सम्पादित किये। ये दोनो भाई बिहार के पुराने रूढिवादी श्रेष्ठश्रोत्रिय ब्राह्मण कुल के थे, पर हमारे यहाँ सब उपचार छोड कर भोजन करते थे। एक बार मैंने पण्डित विन्ध्यनाथ झा से पूछा कि 'क्या आप इन लौकिक उपचारों में विश्वास नहीं करते' तो उन्होंने कहा कि अन्य सब जगह करता हूँ, पर तुम्हारे घर को जगन्नाथ जी का मन्दिर समझता हूँ। जैसा लोकविदित है, जगन्नाथपुरी मे मन्दिर से लाये हुए भोजन के सम्बन्ध मे बराव का उपचार नही बरता जाता। वहाँ ऐसा करना वर्ज्य है।

पण्डित मदन मोहन मालवीय से पिताजी का सम्पर्क बहुत पहले से रहा, पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के सम्बन्ध में मालवीय जी पिताजी के पास विशेष रूप से बार-बार आते रहे, क्योकि भारत सरकार ने उनसे यह शर्त करा ली थी कि हिन्दू कालेज को ही वह उसका केन्द्र बनावें। हिन्दू कालेज का उस समय पूरा भार पिताजी के ही ऊपर रहा और वे ही इसे मालवीय जी को सुपुर्द कर सकते थे। इसी सम्बन्ध में पिताजी के पास प्रयाग के प्रसिद्ध न्यायविद् सर सुन्दर लाल मद्रास

के प्रतिष्ठित विद्वान् और न्यायविद् सर शिवस्वामी ऐयर, डाक्टर सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का जो प्रसिद्ध दार्शनिक और पीछे भारत के राष्ट्रपति हुए, उनके पास आना-जाना हुआ। श्री राधाकृष्णन् से तो विशेष रूप से पिताजी की मैत्री रही।

एक बार सयोगवश ऐसा हुआ कि विश्वविद्यालय के ही किसी कार्य के सम्बन्ध मे मेरे यहाँ पण्डित मदन मोहन मालवीय, सर सुन्दर लाल, लखनऊ के प्रसिद्ध वकील पण्डित गोकर्णनाथ मिश्र, किशनगढ के दीवान श्री श्याम सुन्दर लाल, राजा परमानन्द, पण्डित गंगानाथ झा; सब ही ठहरे हुए थे। मुझे स्मरण है कि इन सब लोगों के रूढ़ि-वादी होने के कारण माताजी ने अपने उद्यान में भिन्न-भिन्न स्थानों पर इनके लिए पृथक्-पृथक् छः चूल्हे लगवाये थे जिनमे इनके साथ आये हुए रसोईदार अपने नियमों का पालन करते हुए इनके लिए भोजन बनावें। पण्डित गंगानाथ झा ने तो घर की रसोई में भोजन किया, पर अन्य सबके लिए पृथक्-पृथक् ही प्रबन्ध करना पडा।

इस सन्दर्भ मे सम्भवत. यह कह देना उचित है कि पृथक्-पृथक् भोजन करने की हिन्दुओं में एक विशेष परम्परा बहुत दिनों से चली आ रही है, परन्तु इससे गाढ़ी से गाढी मैत्री में अन्तर नही पडता, न इसमे निरादर का ही भाव समझा जाता है। यह एक साधारण रीति सी मानी जाती है जिसका सभी लोग आदर करते हैं। कितनी ही तथाकथित निम्न जातियो के लोग तथाकथित उच्च जातियो का छुआ हुआ पदार्थ नही खाते, और बडी जाति के लोग उसका आदर करते हैं और उनके लिए सहर्ष पृथक् प्रबन्ध करते हैं। मेरे घर आये हुए गडरिया काश्तकार को मेरी ब्राह्मणी मिश्रानी अलग से खाना पकाने के लिए रसद दे देती थी और इसे उचित समझती थी कि गडरिया उसके हाथ का न खाय। इसी मिश्रानी ने जो स्वय किसी के हाथ का नहीं खाती थी, जब मेरे साथ जगन्नाथपुरी की यात्रा पर गयी, तो मन्दिर से लाये हुए भोजन को बिना सकोच खाया और यह नही पूछा कि किस जाति के व्यक्ति ने इसे पकाया है, और किस जाति का व्यक्ति इसे मन्दिर से धर्मशाला तक लाया है।

यह सब रूढ़ियाँ हैं जो किसी न किसी रूप में सभी समाजो में रहती हैं। हिन्दू समाज में इसने विशेष रूप से बृहत् और सम्भवत बीभत्स रूप धारण किया है। मेरी मिश्रानी स्वय भोजन में पार्थक्य बरतती थी, इसलिए सब अतिथियो के लिए पृथक्-पृथक् भोजन बनाने का बडी तत्परता से प्रबन्ध करती थी। वास्तव मे किसी को इससे बुरा नहीं मानना चाहिए। कम से कम हिन्दू समाज में यह वैमनस्य का कारण नहीं ही है, और अन्य धर्मावलम्बियों को इसके कारण विकार नही होना चाहिए। साथ ही इसकी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करना भी आवश्यक है। पिताजी इस नियम को अच्छा नही समझते थे, परन्तु सफाई के साथ भोजन के पकाने और खाने को जो इस नियम का मूल कारण है, आवश्यक मानते थे। अपने मित्रो की विधियों का आदर करते हुए भी वे इस नियम के सुधार का प्रयत्न करते

रहे। हिन्दू जाति के सघटन का वे इसे बहुत आवश्यक अग मानते थे। आगे चलकर गाधीजी के विभिन्न सत्याग्रह आन्दोलनो तथा सामाजिक क्रान्ति के कारण छुआछूत की प्रथा घटती जा रही है। काशी विद्यापीठ के समावर्त्तन संस्कार के अवसर पर होने वाले सहभोजों में सभी जातियों के लोग कच्ची रसोई भी साथ बैठकर खाते थे।

जब पिताजी राजनीति मे अर्थात् स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन मे सम्मिलित हुए तो उनसे देश के राजनीतिक नेताओं से भी निकट का सम्बन्ध हुआ। महात्मा गाधी, पण्डित मोतीलाल नेहरू तथा देशबन्धु चित्तरञ्जन दास के सम्बन्ध का विस्तार से विवरण मैंने पुस्तक में दिया है। राजनीति के कारण ही विशेष रूप से उनसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, श्री सुभाष चन्द्र वसु, श्रीमती सरोजिनी नायडू, डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य विनोबा भावे, मौलाना अबुल कलाम आजाद, डाक्टर मुख्तार अहमद अन्सारी, खान अब्दुल गफ्फार खाँ, सेठ जमनालाल बजाज, मौलाना आजाद सुभानी, श्री अमृतलाल ठक्कर बापा, श्री यू० एन० ढेवर, डाक्टर पट्टाभि सीतारमैय्या, डाक्टर कैलास नाथ काटजू ऐसे गैर सरकारी नेताओं से घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। उदार दल के विशिष्ट नेताओं सर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी० वाई० चिन्तामणि और श्री हृदयनाथ कुजरू से तो इनका सम्पर्क पहले से ही था।

जब पिताजी केन्द्रीय विधान सभा (सेण्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली) के सदस्य हुए थे तब उनका सम्पर्क श्री भूलाभाई देसाई, श्री मुहम्मद अली जिन्ना, सर अब्दुर्रहीम, श्री गोविन्द बल्लभ पन्त, श्री सत्य मूर्ति, श्री एन० जी० रगा, श्री वाराह वेंकट गिरि, सेठ गोविन्द दास, श्री आसफ अली, डाक्टर खान साहब, ऐसे गैर सरकारी व्यक्तियों और सर नृपेन्द्रनाथ सरकार, सर मुहम्मद जफरल्ला खाँ, सर जेम्स ग्रिग, ऐसे वायसराय की एक्जीक्यूटिव कौंसिलरो से हुआ जो उनके यहाँ आते रहे।

काशी विद्यापीठ की स्थापना के सम्बन्ध के बहुत पहिले से श्री शिव प्रसाद गुप्त का मेरे कुटुम्ब से सम्बन्ध रहा परन्तु काशी विद्यापीठ के कार्यो के कारण पिताजी से डाक्टर जाकिर हुसैन, श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, और अपेक्षतया कम उम्र के आचार्य नरेन्द्र देव, डाक्टर सम्पूर्णानन्द, आचार्य जीवतराम भगवानदास कृपलानी, डाक्टर मगल देव शास्त्री, प्रसिद्ध उपन्यास लेखक मुन्शी प्रेमचन्द से सम्बन्ध हुआ। काशी विद्यापीठ के अध्यापकों में जिनसे पिताजी का विशेष सम्पर्क रहा श्री बीरबल सिंह, श्री गोपालशास्त्री, श्री रामशरण, श्री योगेश्वर, श्री यज्ञनारायण उपाध्याय, श्री रुद्रदेव, श्री काशीपति त्रिपाठी के नाम उल्लेखनीय हैं। काशी विद्यापीठ के उनके प्रमुख शिष्यो का उल्लेख भी मैं यहाँ कर देना उचित समझता हूँ। श्री लाल बहादुर शास्त्री जो पीछे प्रधान-मन्त्री हुए, श्री त्रिभुवन नारायण सिंह, डाक्टर बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर जो दोनों ही केन्द्र के मन्त्री रहे, श्री अलगू राय शास्त्री जो उत्तर प्रदेश के मन्त्री रहे श्री कमलापति त्रिपाठी जो उत्तर प्रदेश के उप-मुख्य मन्त्री रहे श्री हरिहरनाथ शास्त्री तथा श्री शास्त्री जो

श्रमजीवियों के नेता और श्री राजाराम शास्त्री जो काशी विद्यापीठ के उप-कुलपति हैं, श्री परिपूर्णानन्द वर्मा और श्री रघुनाथ सिंह के नाम उल्लेखनीय है। इन सबने ही भारत के राष्ट्रीय जीवन मे अच्छा काम किया है। डाक्टर कुमार पाल जिन्होने दिल्ली में चिकित्सालय और पुस्तकालय स्थापित कर पिताजी की स्मृति को जाग्रत करने का प्रयत्न किया, विशेष रूप से प्रशसा के योग्य हैं। पिताजी के वरिष्ठ शिष्यो मे ये रहे।

राजनीति, काशी विद्यापीठ और हिन्दू-मुस्लिम एकता के कार्य के सम्बन्ध में उस समय के अपेक्षतया उनसे कम उम्र के प्रसिद्ध कार्यकर्त्तागण श्री जवाहर लाल नेहरू, श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री मंजर अली सोख्ता, मौलवी अब्दुल लतीफ, श्री तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी, श्री यूसुफ इमाम, मौलाना हिमायतुल हसन, मौलवी नजीरअली, श्री शिवनाथ मिश्र और श्री शिवनदन सिंह से पिताजी का निकट सम्पर्क हुआ। ये हमारे यहाँ ठहरते भी थे। श्री जवाहर लाल नेहरू, उनकी पत्नी श्री कमला नेहरू, उनकी बहिनें श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित, श्रीमती कृष्णा हथीसिह, और पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी हमारे यहाँ बराबर आती थीं और ठहरती थीं।

काशी नगरपालिका के कार्य के सम्बन्ध मे मौलवी मकबूल आलम, मौलवी अब्दुल वाहिद खाँ, मौलवी अब्दुल मजीद, डाक्टर अमरनाथ झा, श्री रामदास गौड, श्री ठाकुर प्रसाद शर्मा, श्री अबुल खैर से पिताजी का विशेष निकट सम्पर्क हुआ।

विदेशों मे कितने ही लोग पिताजी से मिलने आते थे। उनमे से प्रसिद्ध कलाविद श्री आनन्द कुमारस्वामी मेरे यहाँ काफी दिनो तक ठहरे थे और श्री सी० एफ० ऐन्ड्रूज भी कई बार आये और ठहरे। अमरीका के होनोलूलू द्वीप के विश्व-विद्यालय के श्री सिनक्लेयर ग्रेग और फ्रास के प्रसिद्ध सोर्बा विश्वविद्यालय के ऐंड्रे शेव्रियाँ मुझे विशेष रूप से याद आ रहे है। सन् १९१३ में जब मैं घूमने के लिए फ्रास की राजधानी पेरिस गया था तब मैं श्री ऐन्ड्रे शेव्रियाँ से विशेष रूप से मिला था। उन्होंने अपनी पुस्तक मे पिताजी की बातचीत का विस्तृत विवरण दिया है। जापानी विद्वान् श्री एकाई कावागूची जिन्होने तिब्बत की अपनी तीन वर्षों की यात्रा पर काफी बड़ी पुस्तक लिखी थी काशी में रहते थे और पिताजी से बराबर मिलते थे। प्रसिद्ध चीनी लेखक लिन युटाँग भी घूमते-फिरते एक बार एक दिन के लिए आ गये थे और मेरे यहाँ ठहरे थे। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य श्री पैथिक लारेंस उनसे बहुत दिन पहिले आकर मिले थे। जब भारत को स्वतन्त्रता मिली तब ये ही भारत-मन्त्री थे और उसमे इनका पर्याप्त सहयोग रहा। स्वतन्त्रता के बाद जब ये भारत भ्रमण करने आये थे तब भी पिताजी से मिलने गये थे। मुझे कितने ही अमरीका के विद्वान् याद आ रहे है जिनका नाम मैं भूल रहा हूँ जो पिताजी से देर-देर तक बातें करते थे और पिताजी से दार्शनिक और समाज-व्यवस्था सम्बन्धी बातें समझते थे पिछले दिनो में पिताजी की भक्ती स्विस महिला मिस ऐलिस बोनर

से हुई। ये उनके पास बराबर आती थी। उत्कल के कोनार्क मन्दिर के सम्बन्ध मे इन्होंने बड़ा अन्वेषण किया है।

ऊपर जिन मित्रों का मैंने नाम लिया है उनमें से अधिकतर हमारे यहाँ समय-समय पर अतिथि रहे हैं। कितने ही महानुभाव हम सबके अनन्य मित्र श्री शिव प्रसाद गुप्त के यहाँ ठहरते थे और पिताजी उनसे जाकर वही मिलते थे। इनमे स्वामी श्रद्धानन्द, सर जगदीश चन्द्र बोस, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर (टैगोर) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गुरुदेव के मन मे पिताजी के लिए बडा आदर था। अपने उत्तर प्रदेश के एक विद्वान् और दर्शन-प्रेमी सज्जन ने मुझसे कहा था कि वे गुरुदेव से शान्ति निकेतन मे एक बार मिलने गये थे। गुरुदेव ने उनसे कहा कि आप मेरे पास क्यो आये हैं जब आपके बीच डाक्टर भगवान्दास ऐसे विद्वान् मौजूद हैं जिनके पास आप जा सकते हैं और जो आपकी सब शंकाओ का समाधान कर देंगे।

काशी के विद्वानो से तो उनका आरम्भ से ही निकटतम सौहार्द था और इन सबको ही पिताजी के लिए बडा आदर था। इनमें पण्डित गगाधर शास्त्री, पण्डित रामशास्त्री, पण्डित लक्ष्मण शास्त्री, पण्डित दामोदर शास्त्री, पण्डित कालीचरण भट्टाचार्य, पण्डित तात्याशास्त्री, पण्डित बापूदेव शास्त्री, पण्डित नित्यानन्द पार्वतीय, पण्डित सुधाकर द्विवेदी, पण्डित अम्बादास शास्त्री, पण्डित शिवकुमार शास्त्री, पण्डित अर्जुन जी वैद्य, पडित सभापति उपाध्याय से इनका सम्पर्क बराबर रहा। पण्डित सीताराम शास्त्री से तो पिताजी ने न्यायशास्त्र पढा था। पण्डित राजेश्वर शास्त्री, पण्डित सत्यनारायण शास्त्री, पण्डित गोपीनाथ कविराज, पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तो उनके आदरार्थ उनसे मिलने आया करते थे। उनके देहावसान के पश्चात् उनके लिखे हुए आदेशानुसार आयोजित पण्डित सभा में भी ये महानुभाव आये थे।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक श्री श्यामसुन्दर दास, पण्डित रामनारायण मिश्र, ठाकुर शिव कुमार सिंह तथा श्री रामचन्द्र वर्मा का इन से बराबर सम्पर्क रहा और पीछे प्रसिद्ध कलावेत्ता और विविध विषयों पर विविध ग्रन्थो के रचयिता डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल के प्रति उनका विशेष आकर्षण हुआ। पिताजी से इनके वासस्थान पर आकर मिलने वालों मे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर प्रफुल्ल चन्द्र राय, 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय, श्री चिन्तामणि मुखोपाध्याय ऐसे विद्वज्जन मुझे याद आ रहे हैं।

काशी के सभी श्रेणी के लोग सदा ही इनके पास आते थे। काशी नरेश के कुल से तो हमारे यहाँ कितनी पीढ़ियो से निकट सम्बन्ध रहा। महाराज प्रभुनारायण सिंह पिताजी का बड़ा आदर करते थे। उनके पुत्र महाराज आदित्य नारायण सिंह और पौत्र महाराज विभूति नारायण सिंह तो इनसे घर पर आकर मिलते थे। पिता जी से कितने ही नरेशो का सम्पर्क था। काशी नरेश के अतिरिक्त कश्मीर के महाराज प्रताप सिंह से पिताजी का विशेष प्रेम था। श्रीमती एनी बेसेंट के साथ इन्ही के अतिथि होकर पिताजी ने कश्मीर मे सनातन धर्म पर पुस्तकें लिखी थी जो सेन्ट्रल

हिन्दू स्कूल और कॉलेज में अनिवार्य रूप से पढाई जाती थी। अपने समय के वयोवृद्ध प्रतिष्ठित राजा मुन्शी माधोलाल, विविध राज-मान प्राप्त किये हुए राजा मोतीचन्द, कलाविद् श्री दुर्गा प्रसाद तथा कवि सकटा प्रसाद से इनका विशेष प्रेम सम्बन्ध रहा।

इनके अतिरिक्त पिताजी से बीच-बीच में आकर मिलने वालों में राजा बलदेव दास बिड़ला, और उनके पुत्र श्री जुगुल किशोर बिडला, श्री रामेश्वर दास बिडला, श्री घनश्याम दास बिडला से पिताजी का विशेष सम्पर्क रहा। प्रयाग के दैनिक अंग्रेजी 'लीडर' के विख्यात सम्पादक श्री सी० वाई० चिन्तामणि, श्री जवाहर लाल नेहरू के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के वित्त-मन्त्री श्री चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख उनसे मिलने आते थे।

श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर, डाक्टर मोतीचन्द, राय कृष्ण दास, रायकृष्ण जी, डाक्टर राय गोविन्द चन्द्र जी काशी के पुराने प्रतिष्ठित कुलों के सदस्य है, और इनकी हमारे कुल से रिश्तेदारी भी है और जो सभी कलाविद् है, इनसे तो पिता जी का सम्पर्क बराबर ही बना रहा।

पिताजी चार भाई थे। उनसे बड़े भाई श्री गोविन्द दास बड़े विद्वान् थे जिन्होंने आजीवन श्वास रोग से पीडित होते हुए भी काशी के सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रशसनीय योगदान किया था। छोटे भाई श्री राधाचरण साह काफी शान और योग्यता के साथ शासन मे बहुत दिनों तक डिप्टी क्लेक्टर थे। इनको जतुओ, घोड़ो, गायों, भैंसों आदि को पालने का बडा शौक था। इनके गुण-दोष भी ये पहिचानते थे। बन्दूक का निशाना बहुत सच्चा लगाते थे।

सबसे छोटे भाई श्री सीताराम साह थे जिन्होंने पुराने चित्रो का बड़ा सुन्दर सग्रह किया था और जिसका ये बहुत अच्छा ज्ञान भी रखते थे। ये बहुत बड़े शिकारी थे और जगलो में जाकर शेर आदि का शिकार खेलने का इन्हें बड़ा शौक था। नाव पर बैठकर गगाजी में दूर-दूर जाकर मगर घडियाल आदि का भी शिकार करते थे। इनका भी निशाना अचूक बैठता था। पिताजी के तीनो भाइयो का उनके पहिले ही देहान्त हो गया था। श्री राधाचरण का १९२२ में, श्री गोविन्ददास का १९२६ मे, और श्री सीताराम साह का १९५७ मे देहान्त हुआ। चारो भाइयों मे परस्पर का बडा सौहार्द था। अपने प्रतिष्ठित कुल की मर्यादा के पालन करने मे और उसकी परम्परा को स्थापित रखने मे सभी सदा प्रयत्नशील रहे।

इस सूची से (जो कदापि पूर्ण नहीं समझी जा सकती, क्योंकि कितने ही नाम छूट गये हैं) यह स्पष्ट है कि पिताजी का सम्पर्क बड़ा विस्तृत था और सभी क्षेत्रो मे उनका मान था। हर देश के और हर धर्म, मजहब-सम्प्रदाय के लोगों से इनका सौहार्द था। इनके यहाँ सभी का स्वागत होता था और सभी इनका स्वागत करते थे।

आज पिताजी की जीवनी लिखते हुए उनके भाई कुटुम्बीजन मित्र सहयोगी

शिष्य, आगन्तुक और उनसे सम्पर्क रखने वाले कितने ही छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष मुझे याद आ रहे हैं। कितनी ही घटनाओ की स्मृतियाँ भी जाग्रत हो रही हैं जिनका उल्लेख किया जा सकता है पर प्रस्तुत कार्य के लिए मैं इतना ही पर्याप्त समझता हूँ। मुझे सन्तोष और आनन्द है कि मैं इस प्रसग मे कितने ही गुरुजनों तथा मित्रों का स्मरण और उनके सम्पर्क का उल्लेख कर सका।

चौदहवाँ अध्याय

अन्तिम समय

मैंने पहिले लिखा है कि अपने प्रियतम पौत्र, मेरे पुत्र, तपोवर्धन के ३२ वर्षों की अल्पायु में बंगलौर नगर में दु:खद और असामयिक देहावसान हो जाने से पिताजी को बड़ी चोट लगी। यद्यपि उन्होने किसी से कुछ कहा नही और इस महान् और आकस्मिक दुर्घटना को बडे धैर्य से सहन किया, पर यह स्पष्ट था कि वे अपने हृदय मे यह प्रश्न पूछ रहे थे कि 'वृद्ध पितामह के सामने युवा पौत्र का निधन कैसे हो सकता है?' ऐसे ही किसी वियोग के शोकजन्य अवसर पर उन्होंने कहा था कि 'वेदान्ती होने के कारण मैं तो ऐसा ही कहता और समझता रहा कि जीव अमर है और ससार मिथ्या और माया है, पर देखने मे तो यही आता है कि जीव चला जाता है, और स्थूल जगत बना रहता है।' जो कुछ हो, वह अपने को उसके बाद सम्भाल नहीं सके। उनकी अवस्था करीब ८८ वर्षों की हो चुकी थी। तब तक वे चलते-फिरते थे और अपना साधारण काम करते थे। पर इसके थोड़े ही दिनो बाद चारपाई पर पड गये, और पड़े ही रह गये। जो कोई उनसे मिलने आते थे उनकी रुग्ण शैया के पास ही बैठकर उनको देख और उनसे बात कर सकते थे।

वे अपना अधिक समय माला जपने और महाभारत, भागवत, योगवाशिष्ठ ऐसे ग्रन्थो को मूल संस्कृत में पढने मे व्यतीत करते थे। समाचार पत्र भी पढ़ते थे और ससार की प्रतिदिन की घटनाओं से पूर्णरूप से परिचित रहते थे। उस समय अन्य बहुत से आगन्तुकों में राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद भी थे जिनको पिताजी में बडी श्रद्धा थी। देश-विदेश के लोग आते थे जिनमें श्री पेथिक लारेंस का नाम उल्लेखनीय है। ये पिताजी से पहले भी किसी समय मिले थे। सम्भवत: थियासोफिकल सोसाइटी या मिसेस बेसेंट से इनका सम्बन्ध रहा, और ब्रिटिश श्रमजीवी मन्त्रिमण्डल में जिसने भारत को स्वतन्त्रता दी, ये भारत के राष्ट्र-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया) थे। श्री जयप्रकाश नारायण जी भी एक समय मिले थे जब पिताजी ने हसकर उनसे कहा था कि 'एक तरफ तो आप कहते रहते हैं कि मैंने राजनीति छोड़ दी, उससे मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है; और दूसरी तरफ हर राजनीतिक प्रश्न पर आप अपनी राय देते रहते हैं।' पीछे जयप्रकाश जी ने मुझसे कहा कि 'बाबूजी तो देश के समाचारों की इस अवस्था में भी बड़ी सूक्ष्मता से जानकारी रखते हैं।' मैंने किसी-किसी स्थान पर यह भी कहा है कि पिताजी को शरीर में तेल लगाने का बडा

शौक था। यदि उनके नौकर उनके शरीर में तेल लगाते थे तो वे स्वय अपने हाथ से अपने सिर में बहुत देर तक तेल रगडते रहते थे। उनका विश्वास था कि इससे मस्तिष्क को भी लाभ पहुँचता है। अपने पौत्र की मृत्यु के बाद उन्होंने तेल का सेवन बिल्कुल छोड़ दिया। मेरी समझ में उनके स्वास्थ्य में इसके कारण हानि पहुँची। सारे जीवन का सस्कार एकाएक छोड़ देना हानिकर ही होता है। उन्होने एक बार पहले भी तेल का सेवन छोड़ा था। सन् १९२१ मे गाधी जी के आह्वान पर एक करोड़ रुपया तिलक स्वराज्य कोष के लिए एकत्र किया जा रहा था। काशी के लिए भी एक अच्छी रकम निर्धारित की गयी थी। इसे एकत्र करने का काम पिताजी ने उठाया था और उन्होंने प्रण किया कि जब तक इतना धन एकत्र न हो जायगा तब तक तेल का सेवन न करेंगे। उन्होने अपने प्रण का सख्ती और सफलतापूर्वक पालन किया।

अन्त समय कितने ही डाक्टर और वैद्य बडे प्रेम से उनकी चिकित्सा करते रहे। पंडित सत्यनारायण शास्त्री, डाक्टर भोलानाथ, डाक्टर कोशलपति तिवारी, डाक्टर सिद्देश्वर नाथ, डाक्टर आनन्द कुमार सेठ, डाक्टर प्रभुनाथ, डाक्टर मुन्सिफ प्रायः प्रतिदिन ही इन्हें देखने आते थे। डाक्टर लक्ष्मण राम तो रात को भी इनके पास ही रहते थे जिससे कि यदि रात को हृदय का दौरा हो तो इन्जेक्शन आदि दे सकें। इसकी आवश्यकता भी बार-बार पडती रही। पीछे जैसे-जैसे समय बीतता गया और वे चारपाई पर ही चौबीसो घटे पडे रहने लगे, तो उन्हें करवट न ले सकने के कारण पीठ में घाव अर्थात् बेड सोर भी हो गये जिससे उन्हें पर्याप्त कष्ट रहा। पर वे बराबर शान्ति के साथ सब बरदाश्त करते रहे। पहले साधारण बीमारियो मे भी वे कराहा करते थे। उनका ऐसा विचार था कि इससे रोग का शमन होता है। पर अपनी अन्तिम बीमारी मे वे मुख से कोई शब्द नहीं निकालते थे, और न अपनी शारीरिक पीडा के सम्बन्ध में कुछ किसी से कहते थे। परिचारकों को स्वयं ही समझ कर सब कुछ करना होता था। माता तो स्वयं ही अशक्त थी। मैं उस समय बम्बई में राज्यपाल था। वहीं से बार-बार उन्हें देखने आया करता था। मेरे छोटे भाई का स्वास्थ्य अच्छा नही रहता था। सभी कुटुम्बीजन अपने-अपने काम में लगे रहते थे। उनकी परिचर्या का विशेष भार मेरी दोनों बहिनो, शान्ता और सुशीला, पर पडा और दु.खी नाम का नौकर दिन रात उनकी सेवा करता रहा। उनके पौत्र यशोवर्धन और चितरजन साह, और पौत्र-वधू कामिनी और वीणा भी बराबर इनकी सेवा में रहती थीं। घर के अन्य नौकरो मे इनकी सेवा का भार जगन्नाथ, नागेश्वर सिंह, परषोत्तम प्रसाद, बरन और सुद्धू पर पडा था। सभी बड़े प्रेम और तत्परता से इनका कार्य करते थे।

पिताजी की चेतना अन्त तक बनी रही। यह सूचना पाकर कि उनकी तबियत काफी खराब हो रही है, मैं ४ सितम्बर, १९५९ को काशी पहुँचा। मेरी गाड़ी वाराणसी करीब ३ बजे रात को पहुँची। मैं अपने डिब्बे में ही रहा जो

स्टेशन पर काटकर पृथक रख दिया गया था। मैंने सोचा था कि सूर्योदय होने के बाद घर जाऊँगा क्योकि इतनी रात को जाना उचित न होता। इतने मे एक नौकर ने आकर खबर दी कि पिताजी की तबीयत बहुत ही खराब हो रही है। मैं भागा हुआ उनके पास गया। पीछे वे कुछ सम्भल गये। मैं ११ सितम्बर तक रहा जब आवश्यक कार्यवश फिर बम्बई मुझे जाना पडा। मैं न जाता, पर डाक्टरों ने विश्वास दिलाया कि अभी तीन महीने कोई भय नही है। बम्बई पहुँचने पर कार्यवश मुझे पूना जाना हुआ। वहाँ से मै १८ सितम्बर सन् १९५९ को बम्बई आ रहा था कि रास्ते मे बनारस का तार मिला कि पिताजी की तबीयत बहुत ही खराब है, और मुझे फौरन आना चाहिए।

बडी खैरियत थी, उस दिन मुझे सरकारी छोटा-सा हवाई जहाज मिल गया और बम्बई के जुहू हवाई अड्डे से करीब दो बजे तीसरे पहर चलकर बनारस (बाबतपुर) ५॥ बजे पहुँच ही गया। मेरे छोटे भतीजे चितरंजन हवाई अड्डे पर मिले और मुझे सन्तोषप्रद सूचना दी कि पिताजी अभी जीवित हैं। सब लोग भागे हुए घर पहुँचे जो हवाई अड्डे से करीब १६ मील की दूरी पर है। पिताजी अन्तिम श्वास ही ले रहे थे, पर उन्होंने मुझे पहचाना। सब डाक्टर निराश होकर खड़े हुए थे। वैद्यराज पडित सत्यनारायण शास्त्री की औषधि उन्हें जिलाये हुए थी। जब कुटुम्बीजनो और मित्रों ने उनसे कहा कि मैं आ रहा हूँ तब उन्होंने सबको विश्वास दिलाया कि मेरे आने तक पिताजी अवश्य जीवित रहेंगे, और ऐसा ही हुआ। करीब ८ बजे उनका देहान्त हुआ। आकाशवाणी द्वारा ८। बजे के समाचारो में इस दुखद घटना की सूचना दी गयी। नगर मे खबर फौरन पहुँच गयी और उनको देखने और हम लोगो से सहानुभूति प्रकट करने लोग आने लगे।

राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद का दिल्ली से, प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू का तिब्बत के दौरे से और बहुत से स्थानों से पिताजी की मृत्यु पर कुटुम्बीजनो से सहानुभूति के पत्र और तार लगातार कई दिनों तक आते रहे। हर श्रेणी और हर वर्ग के लोगो के कई सहस्र तार और पत्र मेरे पास आये। गवर्नमेंट की तरफ से पुलिस बैंड आदि आया। किसी ज्योतिषी ने उनसे कहा था कि आपके अन्त समय सम्भवत. आपके कुटुम्बीजन आपके पास न रह सकेंगे, पर उनके सभी पुत्र-पुत्री, पौत्र और भतीजे और प्रायः सभी निकट सम्बन्धी और कितने ही मित्र रात्रि भर उनका शरीर श्रद्धापूर्वक अपने सामने परम्परानुसार पृथ्वी पर सुलाकर बैठे रहे।

पिताजी अपनी अन्त्येष्टि के सम्बन्ध में विस्तार से आदेश दे गये थे, और विविध नौकरों आदि को कितना रुपया आदि दिया जाय, यह भी लिख गये थे। दादाजी के समय से मणिकर्णिका घाट की चरणपादुका को छोड कर हरिश्चन्द्र घाट पर दाह करने की परम्परा के अनुसार जिसकी कहानी मैं बतला चुका हूँ, अपने दाह के लिए आदेश दे कर गये थे हमारे कुटुम्ब में पहले से कुछ ऐसी प्रथा

चली आयी थी कि जिस बिछौने पर मृत्यु होती है उसमें ही लपेट कर फौरन शव को गगाघाट ले जाते हैं। वे मना कर गये थे कि यदि रात्रि को मृत्यु हो तो उस समय उनके शरीर को ले जाने का कष्ट न किया जाय, न उन्हे झोलिया कर ले जाया जाय। उनका आदेश था कि किसी मोटर पर शरीर रख कर शव यात्रा की जाय। नगरपालिका ने स्वयं ही बहुत बड़े मोटर ट्रक को फूल माला से सजाकर गगातट तक उनके शरीर को ले जाने के लिए भेजा था।

मुझे तो ख्याल भी नही था कि कोई भारी भीड ऐसे समय आवेगी। मैं तो यही समझ रहा था कि नजदीक के रास्ते से मैं उनके शरीर को हरिश्चन्द्र घाट शान्ति से कुटुम्बीजनों के साथ ले जाऊँगा। पर स्थानीय राजकीय अधिकारियों ने किसी कारण अनुमान किया कि शव-यात्रा मे भारी भीड़ आ जायगी और उन्होने मुझसे बिला सलाह लिए शव-यात्रा का मार्ग निर्धारित किया। शहर मे उस दिन सब दुकाने, अदालते आदि स्वत बन्द हो गयी, और पुलिस के बताये रास्ते पर लाखों की भीड़ एकत्र हुई। जब शव-यात्रा के आरम्भ का समय हुआ और कलेक्टर, सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस आदि आये और मुझसे पूछा कि किस रास्ते से शव को लेजाइयेगा तो मैंने कमच्छा और भैलूपुर का रास्ता बतलाया जिससे यात्रा यथासम्भव शीघ्र समाप्त हो सके। इस पर उन्होने आग्रह किया कि 'यदि आपको आपत्ति न हो तो लक्सा गोदौलिया मदनपुरा की तरफ से चला जाय।' मैंने उनकी बात स्वीकार की।

रास्ते की बड़ी भीड़ देखकर मैं चकित हुआ। पिताजी का सम्बन्ध और सम्पर्क सार्वजनिक जीवन से इतने दिनों से टूट गया था और उनका बाहर आना जाना भी बन्द हो गया था। अवश्य ही मुझे नगरवासियों के प्रेम को देखकर आश्चर्य हुआ। घाट पर विशाल जनसमूह की उपस्थिति में विधिवत् सब कार्य किया गया। पुलिस की टुकडी ने सलामी दी। १९ सितम्बर का अर्थात् भाद्र शुक्ल सप्तमी का वह दिन था। तब तक गगा मे काफी बाढ़ थी। इस कारण सब कृत्य काफी ऊँचे पर सडक के पास ही किया गया। उनका आदेश था कि कपाल-क्रिया न की जाय। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण यह सब दु खद कृत्य मेरे ही द्वारा हुआ। पुरानी प्रथा के अनुसार दाह-कर्ता शव भस्म हो जाने के पश्चात् शव के मस्तक को एक डण्डे से छूता है। इसे कपाल-क्रिया कहते है। पिताजी को यह नापसन्द थी और इसको वे मना कर गये थे। यह भी प्रथा है कि गगाजी के तीर पर पीपल के वृक्ष मे मिट्टी की हण्डिया लटका दी जाय और दाह-कर्ता १० दिन तक बराबर उसमें पानी भरता रहे और दीपक रखता रहे। इसे भी वे मना कर गये थे।

वसन्त पूजा अर्थात् वेद-पाठ आदि साधारण कृत्यों के अतिरिक्त वे पडितो की सभा करने को कह गये थे, और उनका विशेष रूप से आदेश था कि डाक्टर मगलदेव शास्त्री और डाक्टर वासुदेव शरण अवश्य इसमे बुलाये जायँ यद्यपि उन्होने यह भी लिख दिया था कि ये दक्षिणा न लेंगे। ये विद्वज्जन जन्म से ब्राह्मण नहीं थे किन्तु पिताजी को इनकी विद्वत्ता का बड़ा आदर रहा। जब मैं इस सभा के

लिए सम्मानित पंडितो को निमन्त्रण दे रहा था, तब एक-दो सज्जनो ने मुझसे कहा कि यदि सभा में ब्राह्मणेतर व्यक्ति बुलाये गये तो पुरातनवादी श्रेष्ठ ब्राह्मण पडित न आवेगे। मैंने पिताजी के स्वयं हाथ का लिखा आदेश उनको दिखलाया जिसमे इन दो नामो का उल्लेख था, और मैंने कहा कि इन आदेशो का पालन मेरे लिए आवश्यक है। मुझे हर्ष और सन्तोष हुआ कि सभी निमन्त्रित पडितगण वहाँ आये। कई ने अपनी व्यक्तिगत प्रथा के अनुसार दक्षिणा नहीं ली, पर अपनी उपस्थिति से और सभा की वार्ता मे भाग लेकर पिताजी के प्रति श्रद्धा प्रकट की और मेरे कुल को सम्मानित किया। उस सभा में उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द ऐसे कितने ही ब्राह्मणेतर विद्वान् भी उपस्थित थे।

पिताजी अपने पुत्रों, आश्रित जनों और सहकारियों को कार्य करने में पर्याप्त स्वतन्त्रता देते थे, और अपने ही अनुभवों से शिक्षा प्राप्त करने का इन्हें पूर्ण अवसर मिलता था। पिताजी की बड़ी हार्दिक अभिलाषा थी कि सनातन धर्म के वास्तविक मूल सिद्धान्तो का प्रचार किया जाय और इस सम्बन्ध के उनके कार्य को लगातार कुछ लोग करते रहें। उनको विश्वास था कि इसी मे देश और समाज की उन्नति और भलाई है, और उसके अनुसार चलने में मानव मात्र को सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है। बहुत वर्ष पहले वे चाहते थे कि उनके छोटे पुत्र श्री चन्द्रभालजी इस काम को उठावे क्योकि उनकी साहित्यिक और दार्शनिक प्रवृत्ति रही। पर पीछे उनकी अभिलाषा हुई कि मैं इस काम को करूँ। मैं अपने को इसके लिए सर्वथा अयोग्य समझता था तथापि स्वराज्य की प्राप्ति पर जब एक प्रकार से मेरे जीवन का लक्ष्य प्राप्त हो चुका था, तब उन्होने अपनी इच्छा की फिर चर्चा की।

उसी समय मुझे पाकिस्तान का उच्च आयुक्त (हाई कमिश्नर) होकर जाने का आग्रह प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने किया। मैं स्वय इस पद को ग्रहण करना नही चाहता था। मेरी अभिलाषा राजनीति से छुट्टी पाने पर ससार भ्रमण करने की रही। पिताजी ने भी मेरा वहाँ जाना पसन्द नही किया, और वे यही चाहते थे कि मैं उनका ही अभीष्ट धार्मिक और आध्यात्मिक कार्य करूँ। पर अन्य कुटुम्बीजनो और मित्रों ने मुझे इसे स्वीकार करने के लिए जोर दिया। पहले मेरे टाल देने के बाद जब फिर जवाहर लाल जी का टेलीफोन आया तो मुझे पाकिस्तान जाना ही पडा; और तब १५ वर्षों तक अर्थात् पिताजी की मृत्यु के चार वर्षों बाद तक मैं एक न एक सरकारी पद पर कार्य करता रहा। मुझे पिताजी का आदेश याद रहा और शासन के पदो से भी और विशेषकर इन पदों से मुक्त होने पर मैंने अपने भाषणों और लेखों द्वारा उनके भावो को प्रदर्शित करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है, पर उनका काम तो वे ही कर सकते थे। दूसरे को उसे करने की शक्ति नही ही थी।

संसार का इस समय जो प्रवाह है उसमे उनकी बतायी हुई बातो को मानना
है तथापि मुझे और अन्य बहुतो को जो पिताजी के भावों

विचारो और अभिलाषाओं से परिचित हैं, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि आगे चल कर मानव समाज इन विचारों को हिलकर समझेगा और उनके अनुरूप चल कर सुख और शान्ति पायेगा। चाहे कोई ऊपर से कहे या न कहे, इसमे तो कोई सन्देह नहीं है कि मनुष्य मात्र शारीरिक सुख और मानसिक शान्ति की खोज मे रहता है। इसकी ही प्राप्ति उसका प्रधान लक्ष्य है। पिताजी इसे स्पष्ट कहते थे। अन्य लोग इसे व्यक्त करने में संकोच करते हैं, और अन्य आदर्शों का निर्देश करते हैं। जब इस लक्ष्य को स्पष्ट रूप से संसार के राष्ट्रनायकगण स्वीकार करेंगे तब आज के बहुत से आडम्बर को छोड़कर पिताजी के बताये मार्ग पर उनके आने की सम्भावना है। यदि ऐसा हुआ तो जो सब कार्य पिताजी कर गये है, वह निरर्थक न होगा और उनकी मनोभावना की पूर्ति हो सकेगी।

पन्द्रहवाँ अध्याय

दार्शनिक विचार और आदर्श

पिताजी की जीवनी का सिंहावलोकन करने से मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि अपने समय की परस्पर सघर्ष करती हुई तीनो सस्कृतियों अर्थात् प्राचीन आर्य, माध्यमिक इस्लामी और वर्तमान यूरोपीय संस्कृतियों के समन्वय के वे अपूर्व प्रतीक थे। इसका यही कारण हो सकता है कि बाल्यावस्था मे अपने पिताजी की परम्परा और उस समय के वातावरण के कारण उनके ऊपर इस्लामी सस्कृति की गहरी छाप पडी थी। उनके आरम्भिक अध्यापक मुसलमान मौलवी ही थे जिनसे उन्होने फारसी और उर्दू पढना आरम्भ किया था। छोटे समय का सस्कार छूटता नही। उन्हें मैंने मित्रों से परस्पर उर्दू मे ही बातचीत करते पाया। उनसे मिलने बहुत से मुस्लिम विद्वानों को मिस्र, तुर्की और मोरक्को आदि से आते देखा। वे फारसी भी बोल लेते थे। पण्डित मोतीलाल नेहरू का सामाजिक जीवन एक प्रकार से बहुत कुछ इस्लामी था। कश्मीरियों का प्राय· ऐसा ही होता था। मैंने देखा था कि पिताजी भी कई सामाजिक प्रकरणो में उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते थे, जिन्हें पण्डित मोतीलाल को करते मैंने पाया था। किशोरावस्था एव युवावस्था मे अंग्रेजी भाषा द्वारा यूरोपीय देशों के साहित्य, विज्ञान, इतिहास, दर्शनादि के गूढ और विस्तृत अध्ययन के कारण उनका मानसिक दृष्टिकोण कुछ यूरोपीय वैज्ञानिकों का हो गया था जिसे अंग्रेजी मे 'सायटिफिक माइंड' कह सकते हैं। 'सायंस' अर्थात् विज्ञान शब्द से उन्हे इतनी प्रीति भी थी कि उन्होंने प्राय: अपनी सभी पुस्तको के नाम मे 'सायस' शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे किसी के कहने मात्र से किसी बात को स्वीकार करने को तैयार नही थे। वे स्वयं विचार करके ही किसी बात को स्वीकार करते थे। इस कारण बौद्धिक दृष्टि से वे यूरोपीय सस्कृति के कहे जा सकते हैं। इसमे तो कोई सन्देह ही नहीं कि यूरोपीय विचारको, साहित्यिकों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों आदि का उनकी विचार-शैली और विस्तृत मानवता की भावना पर भारी प्रभाव पडा।

प्रौढावस्था मे उन्होने देश के पुरातन आर्य शास्त्रो का बड़ा गूढ अध्ययन किया। जन्म-मृत्यु, दु:ख-सुख आदि दार्शनिक विषयो पर उनका ध्यान बाल्यावस्था मे ही हुआ था। इस पर वे लगातार अ यधिक विचार करते रहे और रूप से उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे जिन पर आदि ऐसे महान् f पहुच

सके थे। इस दृष्टि से उनका आध्यात्मिक जीवन पुरातन आर्य संस्कृति का कहा जा सकता है। देश में यदि किसी ने व्यावहारिक रूप से तीनों संस्कृतियों अर्थात् इस्लामी, यूरोपीय और आर्य को अपने एक शरीर में धारण किया तो मेरी समझ में अवश्य ही पिताजी ने किया था। उनके प्रतिदिन के जीवन में जिससे अवश्य ही मेरा पर्याप्त सम्पर्क रहा, मैंने उन संस्कृतियों को उनमें संघर्ष करते हुए भी पाया, पर वे यथाशक्ति सबका समन्वय ही करते रहे।

साधारण तौर से यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक व्यवहार की दृष्टि से उचित-अनुचित, समता-असमता, धनी-दरिद्र, यहाँ तक कि पाप-पुण्य आदि का प्रश्न है, उन्होंने अपने समय के प्रचलित विचारों को स्वीकार कर लिया था। "महाजनो येन गत स पन्था" अर्थात् जनसाधारण—महाजन का अर्थ वे इस प्रसंग में विशिष्ट जन नहीं, पर जनसाधारण ही मानते थे—जिस मार्ग से चलते हैं वही ठीक है, ऐसी सम्भवतः उनकी भी धारणा थी। वे प्रचलित जीवन-क्रम से व्यर्थ का संघर्ष करना नहीं चाहते थे। यह एक प्रकार से अनिवार्य भी था, क्योंकि जिस वातावरण में उनका जन्म, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा हुई थी उसमें साधारणतः इसके अतिरिक्त कोई भावना नहीं ही हो सकती थी। इस कारण ऐसा ही प्रतीत होता है कि जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति उनके समय थी उसे ही उन्होंने ठीक समझ कर स्वीकार कर लिया था। उनमें जो त्रुटियाँ थीं उन्हें वे दूर करना चाहते थे, और उसके लिए प्रयत्न भी करते थे, पर वे किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थे। उदाहरणार्थ उन्होंने अंग्रेजों का भारत से राजनीतिक सम्पर्क मान लिया था। वे अवश्य स्वाधीनता चाहते थे जिसका अर्थ उनके मन में यह था कि पराधीनता के कारण जो हमने अपनी आत्मा को खो या भुला दिया है, उसे हम फिर प्राप्त करें, और ऐसा करना हमारे लिए स्वाधीनता में ही सम्भव है। ऐसा मालूम पड़ता है कि उनका यह विचार था कि ऐसी सच्ची स्वाधीनता हमें अंग्रेजों से सम्बन्ध बनाये रहते हुए मिल सकती है। वे चाहते थे कि अंग्रेजों का और भारतीयों का परस्पर का उचित और श्रेणीगत बराबर का व्यवहार हो। इंग्लैंड और भारत के बराबरी के स्तर पर रहने में इन दोनों देशों का ही नहीं अपितु सारे संसार और मानव जाति मात्र का वे हित समझते थे।

सामाजिक जीवन में मनुष्य मनुष्य में व्यक्तिगत रूप से और श्रेणीगत रूप से असमानता को वे स्वीकार करते थे। इनमें परस्पर का अन्तर स्वाभाविक और सर्वथा उचित मानते थे। सब में परस्पर सौहार्द और सद्भावना की आवश्यकता समझते थे। वे यह मानने को तैयार नहीं थे कि किसी भी क्षेत्र में सब लोग बराबर के हो सकते हैं। हजार प्रयत्न करने पर भी न सब बराबर विद्वान हो सकते हैं, न बलवान हो सकते हैं, न धनवान हो सकते हैं। जैसे सबका एक उम्र का होना असम्भव है, बालक से वृद्ध तक भिन्न भिन्न उम्र के लोग सदा रहे हैं और रहेंगे वैसे ही अन्य बातों में भी छुटाई-बड़ाई का बना रहना अनिवार्य है पर उनका

तरह यह विश्वास था कि जिसके पास जो कुछ अधिक मात्रा में हो, उससे वह दूसरो को लाभ पहुँचाता रहे। विद्वान अपनी विद्या का प्रचार कर दूसरो को लाभ पहुँचा सकता है, बलवान दुर्बलों की रक्षा कर सकता है, धनवान अपने साधनों द्वारा समाज का हित कितने ही प्रकारो से कर सकता है और कितनों का ही भरण-पोषण भी कर उन्हें समुचित जीविका का साधन दे सकता है, और विद्यालय, धर्मशाला, देवालय, चिकित्सालय आदि का निर्माण कर समाज के उत्कर्ष में सहायक हो सकता है। जो श्रमिक हैं वह अपने श्रम से समाज का वहन सम्भव कर सकते हैं, जो वृद्ध हैं वे बालकों और नवयुवकों को अपने अनुभवों से लाभान्वित कर सकते हैं।

पिताजी जन्मना नही परन्तु कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के बड़े समर्थक थे। उन्हे अपने से अधिक धनिकों के लिए कोई द्वेष नही था, और न अपने से कम के लिए तिरस्कार। वे ससार की सुव्यवस्था के लिए कुछ का शासन पद पर होना आवश्यक मानते थे, और जन्मगत राजाओं का काफी मान करते थे। वे यही नही कहते थे कि प्रजा को राजा का भक्त होना चाहिए, उनका कहना था कि राजा को भी प्रजा का भक्त होना चाहिए। वे व्यक्तिगत रूप से सबका अपनी बुद्धि और अपनी शक्ति के अनुसार उद्योग करना पसन्द करते थे। वे जनसाधारण के जीवन के हर अंग पर शासन का हस्तक्षेप और नियन्त्रण नही ही पसन्द करते थे। उनका विचार था कि वही शासन सर्वोत्तम है जो कम से कम शासन करता है। इसी बात को अंग्रेजी मे "दैट गवर्नमेट इज बेस्ट दैट गवर्न्स लीस्ट" के वाक्य से व्यक्त किया गया है। वे राज्य का व्यापार आदि में हस्तक्षेप बिल्कुल ही नापसन्द करते थे। मनु का वाक्य उद्धृत करते हुए वे कहते थे कि 'राजा को व्यापारी नहीं होना चाहिए।' तथाकथित समाजवादी और साम्यवादी, देश के सारे उद्योग, व्यापार, वाणिज्य को राज्य के अधीन करना चाहते हैं जिससे कि सरकारी कर्मचारियों का अधिकार अत्यधिक हो गया है और ऐसी दशा आ गयी है कि कोई भी इन कर्मचारियों की अनुमति के बिना कोई काम कर ही नही सकता। अपने निज के काम में भी सबको इन कर्मचारियों की अपेक्षा करनी पडती है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। नागरिको की नैसर्गिक बुद्धि और शक्ति के प्रकट होने का अवसर नही मिलता और गैर-सरकारी आदमियों का तो जैसे कोई पद या अस्तित्व ही नही रह जाता। राज्य का प्रधान काम शान्ति की स्थापना करना है, सबके साथ न्याय करना है, दुष्टों का दमन करना है, और सबको ही अच्छे काम की तरफ उत्साहित करते रहना है।

यदि समाज में कोई ऐसी रूढ़ियाँ या रीति-रस्म आ गये हो जिनसे असहाय व्यक्तियों के साथ अनुचित व्यवहार होता हो, तो उसे दूर करना अवश्य राज्य का कर्त्तव्य है; नही तो कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन क्रम को नैसर्गिक रूप से विकसित होने देना चाहिए, और जो कुछ रीति-रस्म, आचार-व्यवहार प्रचलित हों उनमें हस्तक्षेप न करना चाहिए, जब तक कि अन्याय और अनुचित आचरण होता हुआ न दीख पड़े।

इस पुस्तक मे पिताजी के जीवन-चरित्र का वर्णन करते हुए उनके कौटुम्बिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक विचारो का भी निर्देश बराबर ही किया गया है, और अवश्य ही पाठकों को उनकी कार्य-प्रणाली जानने के साथ-साथ उनकी विचार-शैली से भी परिचय होता रहा होगा। पिताजी की प्रसिद्धि जगत मे उनके श्रेष्ठ दार्शनिक समझे जाने और उनके आध्यात्मिक विचारों के कारण प्रधानत रही है। इस पर अधिक कहने की मुझे योग्यता नही है, और पाठको को इसका समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनकी पुस्तकों का ही अध्ययन करना होगा।

थोडे मे जो कुछ मैं समझ सका हूँ, यहाँ कहता हूँ। इस बात पर आश्चर्य किया जा सकता है कि हमारे देश मे मृत्यु पर इतना अधिक ध्यान क्यो दिया गया। हमारे जितने दार्शनिक रहे हैं, उन सबने इसकी विवेचना की है। लौकिक दृष्टि से—और उसी दृष्टि से मैं देख सकता हूँ—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब से हमारे देश मे मनुष्य को विचार करने की शक्ति मिली, तब से ही उसने पग-पग पर मृत्यु को देख कर और उसके भय से भयभीत होकर उससे बचने का उपाय उसने सोचना आरम्भ किया। और जब देखा कि अपने को इससे नही ही बचा पा रहा है तो उसने पारलौकिक विचारों का आश्रय लिया। उसके हृदय मे यों कहिए कि आध्यात्मिक आभास हुआ। देश में सर्प और हिंस्र पशुओं का बाहुल्य रहा और जलवायु के दूषित होने के कारण नाना प्रकार के रोग भी देश से रहे, जिससे चारों तरफ मृत्यु ही मृत्यु फैली हुई थी।

पिताजी का कहना था कि मृत्यु और पीड़ा के ही भय (फियर आफ पेन एण्ड डेथ) से दर्शन और धर्म का आविष्कार हुआ है। जहाँ तक मैं समझ सका, पाश्चात्य विद्वानो का यह मत नही है। वे कहते हैं कि जिज्ञासा (क्युरियासिटी) अर्थात् अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा, रहस्यो का उद्घाटन कर उनको समझने की आकांक्षा ने दर्शन आदि को जन्म दिया। वे मृत्यु और पीडा के भय को इसका मूल कारण नहीं बतलाते। मृत्यु उनके यहाँ भी उसी प्रकार होती थी जैसे हमारे देश मे। जलवायु तथा वातावरण अधिक शुद्ध होने के कारण वहाँ के लोग अधिक जीते रहे हो पर मृत्यु से तो कोई बच ही नहीं सकता। उसे उन्होंने नैसर्गिक अनिवार्य घटना मान ली और जन्म के पहिले तथा मृत्यु के पीछे सम्भावित जीवन पर विचार करना सम्भवत उन्होंने निरर्थक समझा। हॉ, उन्होने यह जरूर माना कि विचार करने की शक्ति रखने वाले मनुष्य के मन मे बहुत सी बातों की जिज्ञासा उठती है, और उसकी पूर्ति के प्रयत्न मे वह दर्शन आदि शास्त्रो को प्रस्तुत करता है।

शारीरिक पीडा का भय भी यूरोपीय विद्वानो को सम्भवत: नही सताता था। ऐसी पीड़ा को दूर करने के लिए उन्होंने चिकित्साशास्त्र को विकसित किया। उसके कारण दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति हुई, यह मानने को वे तैयार नही रहे। वे यह भी मानने को नही तैयार थे कि पीड़ा से मनुष्य अवश्य ही भागता है। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि जब दांत में दर्द होता है तो दांत को दबाकर मनुष्य पीडा को

तीव्र करता है और इसमे जैसे उसे मजा आता है। उनके विचार से सुखमात्र की खोज मे मनुष्य नही है। अपनी रुचि को पूरी करने मे उसे रस आता है। जिस प्रकार से जिज्ञासा के कारण शास्त्रों की रचना होती है, वैसे ही अपनी रुचि (इंटरेस्ट) को तृप्त करने के लिए भी मनुष्य नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की खोज मे रहता है। कम से कम जहाँ तक मै जानता हूँ ऐसा उन्होने नही कहा है कि मृत्यु और पीड़ा का भय आध्यात्मिक शास्त्र का जन्मदाता है, पर पिताजी का यह अटल विश्वास था कि यदि मृत्यु और पीड़ा का भय हमे न सताता तो हम दर्शन और अध्यात्म आदि की तरफ ध्यान ही न देते।

इस प्रकार से ध्यान देने का लक्ष्य यही था कि हमें अमरत्व प्राप्त हो और हम सुखी रहे। अमर होना और सुख पाना, यही मनुष्य का प्रारम्भिक और अन्तिम लक्ष्य है। उसी की खोज में हम सब हैं। हम चाहते है कि हम सदा जीवित रहें और सदा सुखी रहें। अमरत्व की प्राप्ति मे ही सच्चा सुख भी है, इसी से इसकी खोज हम सब कर रहे हैं और इसी की खोज के फलस्वरूप हमने बडे-बडे शास्त्रों की रचना की है और बडे-बडे धर्मो का प्रवर्तन भी इसी के कारण हुआ है।

धर्मों के सम्बन्ध में पहिले विचार कर लेना चाहिए। धर्म की शिक्षा सबको देना पिताजी अत्यावश्यक समझते थे। पाठशालाओं और विद्यालयो में इसका पठन-पाठन वे अनिवार्य करने के पक्ष मे थे। वे आजकल के लौकिक अथवा भौतिक राज्य (सैक्युलर स्टेट) की भावना के विरोधी थे। वे कहते थे कि नैतिकता अथवा मनुष्य मनुष्य के परस्पर सद्‌व्यवहार का मूल आधार धर्म ही है, और हो सकता है। यदि कोई किसी से कहे कि सत्य बोलो, दुर्बल को मत सताओ, दूसरों को कष्ट मत दो, माता, पिता व गुरु की आज्ञा मानो, तो आदेश देने वालों से पूछा जा सकता है कि 'ऐसा मैं क्यों करू ?'

इस 'क्यो' का उत्तर तो धर्म ही दे सकता है। वही यह बतलाता है कि ऐसा करने से सुख मिलेगा और न करने से दु ख होगा। साथ ही जब कोई अनुचित बात करने को उद्यत होता है और मना करने पर पूछता है कि 'हम ऐसा क्यो न करें', तो उसे दण्ड का भय दिया जाता है। उससे कहा जाता है कि 'यदि इह लोक मे तुमने किसी चतुराई से दण्ड से अपने को बचा भी लिया, तो परलोक मे दण्ड सहना ही पड़ेगा।' हमारे शास्त्रों के अनुसार दण्ड का भय ऐसा है कि लोग ऐसे कार्यो से बचते हैं जिसके कारण इसे भोगना पड़ सकता है।

पर साथ ही यह कहा ही जा सकता है कि यदि हमे किसी काम के करने की रुचि रहती है, तो दण्ड का भय हमें उसे करने से नही ही रोक सकता। उदाहरणार्थ सदा से ही लोक सेवकों ने समाज का और शासन का दण्ड सहर्ष सहा है, और अपने रुचिकर कार्यो से वे विमुख नही हुए हैं। इसका उत्तर सम्भवत: हमारा शास्त्र यह देगा कि सचाई से और दृढता से अपने काम मे लगे रहने पर चाहे इस लोक में दण्ड मिले पर परलोक में इसका सुखद पुरस्कार अवश्य मिलेगा। न जाने

हुए भी इसी स्थायी सुख की आकांक्षा से प्रेरित होकर लोकसेवी सज्जन दण्ड का अपेक्षया थोडा दु ख उठा लेते हैं। यदि हमारा पूर्ण ध्यान इस लोक में ही सीमित रहेगा और हम किसी परलोक मे विश्वास न करेंगे, तो जब हम अपने को ऐसी परिस्थिति मे पायेंगे जहाँ हमें कोई दूसरा नही देख रहा है, तो हमें अनाचार से विमुख रहने की प्रेरणा न होगी।

यहाँ पर हमसे धर्म यह कहता है कि चाहे कोई मनुष्य तुम्हें देखता हो या न देखता हो, कोई शक्ति तुम्हें देख रही है जो तुम्हें दण्ड अवश्य दिलावेगी। अगर मनुष्य तुम्हें नहीं देख रहा है तो सूर्य, चन्द्रमा, पवन, अग्नि, पृथ्वी, दिन, रात्रि, सन्ध्या आदि प्राकृतिक वस्तुएँ तो देख ही रही है, और ये ही तुम्हारे विरुद्ध गवाही देंगी। तुम बच नही सकते। धर्म का बिना प्रतिपादन किये नैतिकता की आशा करना और शासकीय विधान मात्र पर भरोसा करने से मनुष्य ठीक रास्ते पर नही रखा जा सकता।

इन विचारों के कारण पिताजी सदा इस पर जोर देते रहे कि अपने बालक-बालिकाओं को, नवयुवक व नवयुवनियों को धार्मिक शिक्षा अवश्य दी जाय। इस पर लोगो का कहना है कि विभिन्न धर्मो की शिक्षा पृथक-पृथक है। साधारण प्रकार से सभी धर्मो के तीन खण्ड होते हैं। प्रथम में वह यह बतलाता है कि यह सृष्टि जिसे हम अपनी इन्द्रियो से अनुभव करते हैं, कहाँ से और कैसे आयी। इसे अंग्रेजी मे 'जेनेसिस' कहते हैं। दूसरे खण्ड मे प्रत्येक धर्म अपने संस्कारो का विश्लेषण करता है। इन्हे ही अंग्रेजी मे 'सेक्रामेंट' कहते हैं। भिन्न भिन्न धर्मों के सस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं। ये ऐसे बाह्य चिह्न है जिनसे व्यक्ति पहचाना जाता है कि यह अमुक धर्म का है। उदाहरणार्थ, इसाई धर्म का बप्तिस्मा, मुस्लिम धर्म का खतना, हिन्दू धर्म का कर्णवेध ऐसे ही संस्कार है।

तीसरे खण्ड में नीति की बात कही जाती है। प्रत्येक धर्म यह बतलाता है कि क्या काम उचित है क्या अनुचित, क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। इस प्रकार से प्रत्येक धर्म अलग-अलग पाप और पुण्य (वाइस एण्ड वर्चू) का निरूपण करता है। साधारण दृष्टि मे तो यह स्पष्ट ही है कि विविध धर्मों के जो ये प्रधान अंग हैं, उन सबमे घोर मतभेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भी बात मे विविध धर्मो का मतैक्य नही है। सृष्टि के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये गये हैं। सस्कार तो भिन्न-भिन्न है ही। आश्चर्य की बात तो यह है कि उचित-अनुचित, पुण्य-पाप के सम्बन्ध मे भी पृथक्-पृथक् विचार हैं। इतिहास इसका साक्षी है कि विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच घोर युद्ध होता रहा है।

इस समस्या पर अवश्य ही सभी विचारकों का ध्यान अनिवार्य रूप से गया क्योंकि विश्व-शान्ति की अभिलाषा सभी विचारवानो की होती है, और वे ऐसी सब स्थितियों को हटाना चाहते हैं जिनसे संघर्ष, मनोमालिन्य आदि की सम्भावना रहती है। यह देखा गया है कि धर्म विशेषों के अनुयायी अपने ही धम को सत्य

मानते हैं, और उसी के द्वारा परम श्रेय को प्राप्त करना सम्भव समझते है। हमारे देश मे संस्कार के सभी बडे-बडे धर्म मौजूद हैं। सभी के अनुयायी पर्याप्त सख्या मे यहाँ रहते है। हिन्दुओं और मुसलमानो की सख्या सबसे अधिक है, और इनमे तो अकसर दंगे होते रहते है जिनका कभी तो बडा भीषण रूप हो जाता है। अन्य धर्मावलम्बियों मे कभी-कभी किसी विशेष प्रसग मे तनातनी हो जाती है, पर हिन्दुओं और मुसलमानो का झगडा तो बराबर ही लगा रहता है। इसने देश का विभाजन भी कराया, पर समस्या वैसी की वैसी ही बनी रही।

अपने दार्शनिक भावों के अतिरिक्त देश में दुखदायी दृश्यों को देखकर यदि पिताजी का ध्यान इस समस्या पर गया तो कोई आश्चर्य की बात नही है। वे कितने ही वर्षो से अपने लेखों और भाषणों में इस बात का प्रतिपादन करते रहे कि एक ही परमात्मा के यहाँ से देश और काल के अनुरूप अवतार, पैगम्बर या मसीहा आते रहे है जो विभिन्न जनसमूहो की स्थिति और प्रकृति को देखते हुए उनकी ही भाषा में धर्म के नाम पर शिक्षा देते रहे हैं जिससे सब लोग परस्पर शान्ति और सद्भावना के साथ उचित व्यवहार करते हुए जीवन यापन करें। इस सत्य का आदेश और उपदेश वे देते रहे जो वास्तव में एक है, और उन सबका कहना भी यही रहा कि उनके द्वारा बतलाये हुए मार्ग पर चलने से परम श्रेयस की प्राप्ति होगी।

साधारण तौर से इस बात को मानने के लिए लोग तैयार नहीं हैं। अपने ही अपने धर्म को वे सत्य मानते हैं और उसके बतलाये हुए मार्ग से चलने मे ही अपना वास्तविक उद्धार समझते हैं। पिताजी का कहना है कि वास्तव मे यह सब आदेश और उपदेश एक हैं, सब मार्ग एक है, और सब एक ही अन्तिम गति की तरफ सकेत करते है। वे इस प्रसग में एक सुन्दर कहानी कहते थे जिसका यहाँ उल्लेख कर देना और उन्ही के शब्दो मे कहानी का निष्कर्ष दे देना सर्वथा सगत और उचित होगा। यह इस प्रकार है—

मौलाना रूम ने कहानी कही है· एक रूमी, एक अरबी, एक इरानी, एक तुर्की, का सफर मे साथ हो गया। हज के लिए कई दिशाओं से आते हुए एक पडाव एक मजिल पर सब मिल गये। आगे चले। चलते-चलते भूख लगी। एक-दूसरे की जबान समझते नही थे। इशारे से बात हुई। जितने पास पैसे थे इक्ट्ठा किये। क्या खरीदना चाहिए। अरबी ने कहा एनब खरीदना चाहिए। तुर्की ने पुकारा उजम। इरानी बोला अंगूर। रूमी चिल्लाया अस्ताफील। हुज्जत बढ़ी। आवाजे ऊँची हुई। आँखे और चेहरे सुर्ख हुए। त्यौरियाँ चढ़ी। मुश्ने बँधी। मारा-मारी की नौबत आयी। एक मेवा फरोश दौरा लिए उधर से निकला। उसने हुज्जत सुनी। सबका मतलब समझा। दुकानदारों को सब तरह के आदमियों से काम पड़ता है। अपने काम लायक कई जबानों मे चीजों के नाम जानते हैं।

बोला, लडो मत। मेरे पास चारो की पसन्द की चीजे हैं। जो जिसको चाहे ले लो दौरा आगे रखा उसमें एक ही किस्म का फल था। मगर फौरन मुश्ते खुल

गयी । भवें नीची हुई । आँखो और चेहरो पर मुस्कराहट छायी । आवाजो में मिठास आयी । सबने खुश होकर एक-एक खोशा झुप्पा उठा लिया । क्या बात हुई । अगूर को अरबी मे एनब कहते है, तुर्की मे उजम, फारसी में अगूर, रूमी में अस्ताफील, पहलवी में दाख, सस्कृत मे द्राक्षा, अगूर ही उस दौरे में भरे थे । इस छोटी हिकायत में सब धर्मों और मजहबो का सब सार लिख दिया है। फकत तफावत है नाम ही का। दर असल सब एक ही हैं, यारो (नामन को ही भेद है, अर्थ सबन को एक) ।

खुदा बड़ा मेवा फरोश है । उसको सबका भला मन्जूर है । सबको मेवा देना चाहता है । सबकी बोली समझता है । सबके दिल मे बैठा है । पर अगर हमको खुदा के मजहब, ईश्वर के धर्म की परवाह नही, हमारा मजहब, हमारा मजहब, हमारा धर्म, हमारा धर्म, इसी का हम हमा अहमहमिका है तो मेवे तो मिलेगे नहीं, सिर ही टूटेगे ।

मैंने इस पुस्तक में पिताजी की पुस्तको से पग-पग पर उद्धरण इस कारण नही किया, जैसा सरलता से किया जा सकता था, और उनके मतों की पुष्टि के लिए कुछ लोग इसे आवश्यक भी समझ सकते हैं, कि यह पुस्तक बहुत बडी न हो जाय, और इसे जितना सरल बनाया जा सके उतना बनाया जाय जिससे यथासम्भव यह रुचिकर और आकर्षक हो, और पिताजी के व्यक्तित्व को पाठक आसानी से समझ सके । पर इस उद्धरण को देना मैंने विशेष रूप से आवश्यक जाना क्योकि थोडे में इसके द्वारा धर्म के सम्बन्ध मे उनके हार्दिक भाव बड़े आकर्षक रूप में प्रकट हो जाते हैं । धर्म के नाम पर झगडा और उत्पात करना पिताजी को विशेष दु ख देता था । उसके निवारण का वे हर प्रकार से प्रयत्न करते थे, और इस सम्बन्ध मे उन्होने बड़े परिश्रम के साथ सभी धर्मों का गम्भीर अध्ययन किया था ।

जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, दिसम्बर सन् १६३० में काशी मे आल एशिया एज्यूकेशनल कान्फ्रेन्स में पिताजी ने 'एशियाई विचारो की एकता' (यूनिटी आफ एशियाटिक थाट) विषय पर भाषण किया था जिसमें उन्होने सब धर्मों की एकता का प्रतिपादन किया था और ऊपर दी हुई मौलाना रूम की कहानी का भी उद्धरण किया था । तब से वे बराबर इस विषय पर मनन और विविध धर्मों के मूल ग्रन्थों का बडी गम्भीरता के साथ अध्ययन करते रहे । इसके फलस्वरूप वे 'एसेन्शल यूनिटी आफ आल रेलिजन्स' अर्थात् 'सब धर्मों मजहबों की तात्त्विक एकता' नाम की पुस्तक लिखी जिसके एक के बाद दूसरे अधिकाधिक बृहत् संस्करण चौबीस वर्षों तक निकलते रहे । आखिरी संकरण सन् १६५४ में प्रकाशित हुआ जो एक मोटी पोथी के रूप मे है । इसमें सभी धर्मों के बराबर उद्धरण दिये हुए हैं । उनके प्रवर्तकों और प्रचारकों, उनके विद्वान् प्रतिपादको के वाक्यों का उल्लेख किया गया है, और पंक्ति-पंक्ति में, पृष्ठ-पृष्ठ मे, उन्होंने अपने मूल विचार को बडी दृढता, कुशलता और विश्वास के साथ प्रतिपादित किया है कि सब धर्मो के सिद्धान्त एक हैं, सब धर्म वास्तव में एक ही बात कहते हैं, और शब्दों की पृथकता के कारण जो अनिवार्य था क्योकि वे भिन्न-

भिन्न देश और काल मे उत्पन्न हुए थे, उनमे परस्पर का कोई भेद नही मानना चाहिए। संसार मे इस विषय की यह एकमात्र पुस्तक मानी जाती है। मूल पुस्तक को पढ़ने से ही पिताजी के भावों को पाठक समझ सकते हैं और साथ ही सभी धर्मों के मूल तत्त्वो को ही नही, उनके आचार-विचारों से परिचय प्राप्त कर सकते है।

पिताजी का अवश्य विचार था कि इस प्रकार से धार्मिक शिक्षा देने से और तुलनात्मक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से सभी धर्मो का अध्ययन करने से मनुष्य मात्र मे व्यर्थ की परस्पर की कटुता मिट सकेगी। सब लोग अपने-अपने धर्मो में बताये हुए आचार-विचारों के अनुसार रहते हुए दूसरों के आचार-विचारों को भी जानेंगे और समझेंगे और परस्पर प्रेम से जीवन-यापन करेंगे।

धर्मों में प्राय: जन्म और मृत्यु का प्रकरण आता है, क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति और सम्भावित लक्ष्य के साथ-साथ मनुष्य के भी व्यक्तिगत और सामुदायिक आरम्भ और अन्त की चर्चा करनी ही पडती है। परलोक अर्थात् इन्द्रियो द्वारा अनुभूत लौकिक जगत् के परे यदि कोई स्थिति न मानी जाय तो एक प्रकार से धर्म का कोई मूल आधार नही रह जाता, और मनुष्य को इसी लोक को सब कुछ मान कर अपने हित के लिए लौकिक साधनों पर ही आश्रित होना पड़ेगा जो कदापि उतना और विस्तृत रूप से प्रभावशाली और संघटित मनुष्य समाज के लिए लाभदायक नही हो सकता जैसा कि धर्म है, सदा से रहा है और रहेगा। मैं अनुमान करता हूँ कि पिताजी के ऐसे ही विचार रहे होगे। मैंने ऊपर लिखा है कि मेरी समझ मे जब मृत्यु भीषण रूप में हमारे चारों तरफ सदा रही जितनी सम्भवत अन्य स्थानो मे न रही हो, तो यहाँ पर मृत्यु का भय अधिक उग्र रूप से प्रकट हुआ, और उससे भागने की तरफ लोगों की सहज अभिलाषा हुई। सम्भव है हमारे शास्त्रों मे इस रहस्य के उद्‌घाटन का इसी कारण विशेष प्रयत्न किया गया, इसी पर पीढी-दर-पीढी विचारको और विद्वानों ने जोर दिया, और बड़ी बृहत् पुस्तक राशि प्रस्तुत हो गयी और अभी भी उसमें वृद्धि होती ही जा रही है।

मैं लिख चुका हूँ कि पिताजी का यह निश्चित मत था कि चाहे किन्ही विद्वानों का विचार दूसरा ही क्यों न हो, मृत्यु और पीडा के ही भय ने मनुष्य को धर्म, दर्शन, अध्यात्म आदि पर विचार करने के लिए प्रेरित किया और अवश्य ही कम से कम हमारे भारतीय विद्वानो को इस परिणाम पर पहुँचने के लिए विवश किया कि मृत्यु कोई ऐसी वस्तु नही है जिससे भयभीत होना चाहिए, वास्तव मे वह माया-मात्र है, नाम रूपकी वह झूठी विभीषिका है। प्रत्येक जीव के भीतर जो आत्मा है, वही सत्य है, जिसका न जन्म होता है, न मृत्यु, उसका न आदि है न अन्त। आत्मा और शरीर एक नही है। आत्मा शरीर को धारण करता है जिसका प्राण के रूप मे शरीर में सञ्चार है।

यह तो स्पष्ट है कि हम अपने सामने शरीर को गिरते या मरते देखते हैं। हम अनुमान करते है कि हमारा शरीर भी इसी प्रकार से गिरेगा और मरेगा अर्थात्

इसमे से प्राण निकल जायेगा। पर जब हम 'मेरा शरीर' कहते हैं' तो हम 'मैं' और 'शरीर' को पृथक्-पृथक् मानते हैं। 'मैं' को ही शरीर नही समझते। जिसे हम 'मैं' कहते है, उसका हम सुदूर भूतकाल मे और सुदूर भविष्य काल में प्रक्षेपण कर वहाँ उसे विचरण करता अनुमान कर सकते है, और अनुमान करते रहते हैं।

कहानी है कि एक बुढ़िया को रोती हुई देख किसी ने उससे पूछा कि 'तुम क्यो रो रही हो ?' उसने कहा कि 'मैंने देखा कि मेरे परपोते का परपोता (जिसे वह अपने स्थूल आँखो से देखने की कभी भी सम्भावना नही कर सकती थी) बीमार है और बडे कष्ट मे छटपटा रहा है। इससे मैं रोने लगी।' शरीर कब आरम्भ हुआ और अन्त हुआ, यह तो हम देखते है और देख सकते हैं, पर 'मैं' के आरम्भ और अन्त के बारे मे हम कुछ भी नही सोच सकते। वह सदा से रहा है और सदा रहेगा, ऐसा ही हमे अनुमान करना ही पडता है। इस प्रकार से हमने 'मैं' का अमरत्व स्थापित किया और जन्म और मृत्यु को उसकी अनन्त यात्रा मे घटना मात्र माना। भगवद्-गीता मे कहा है—'जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य ही होती है, जिसकी मृत्यु होती है उसका पुनर्जन्म भी अवश्य होता है।' 'जिस प्रकार से हम फटे-पुराने कपड़े को छोड़कर नया वस्त्र धारण करते है, उसी प्रकार से देही अथवा शरीर धारण करने वाला आत्मा बेकार शरीरों को छोड़कर नये शरीरो को ग्रहण करता है।' परन्तु जो अहम् है, मैं है, वह अनादि और अनन्त है।

जब ऐसा विश्वास बौद्धिक तर्क मात्र के कारण ही किसी का नही होता, पर वास्तव में उसे वह हृदय से ग्रहण करता है, और उसे एक अकाट्य सत्य के रूप मे देखता है, तब उसकी आँख खुल आती हैं, उसको नयी ज्योति मिलती है, उसके सब भ्रम और शंकाएँ दूर हो जाती है, वह अपने 'मैं' को पहचानता है, उसी को सत्य मानता है, और बाकी जितनी वस्तुओ को वह इन्द्रियो से ग्रहण करता है, जिसे हम ससार और सृष्टि कहते है, उसे वह मिथ्या और नाम रूप की माया मात्र मानने लगता है।

मुझे स्मरण आता है कि पिताजी ने किसी प्रसग में बातचीत करते हुए मुझ से कहा था कि 'जब तुम यह कहते हो कि सामने किसी जीव या जन्तु को दु ख हो रहा है, कष्ट हो रहा है, अथवा सुख और आनन्द मिल रहा है, तो तुम्हारे पास उसका प्रमाण अर्थात् ऐसा समझने का साधन वही है जिसे तुम 'मैं' कहते हो, और जो ही अपने मे अनुभव कर कह सकता है कि कोई दु:ख मे है या सुख में है। यदि यह अनुभव करने वाली शक्ति जो आत्मा कही जा सकती है, और जिसका साधारण प्रकार से 'मैं' कहकर निरूपण किया जाता है, न हो तो तुम कैसे कह सकते हो कि किसी दूसरे को कष्ट है या आनन्द। इस कष्ट और आनन्द को तुम्हारा 'मैं' स्वय अनुभव करता है, इस कारण तुम समझते हो कि दूसरा कष्ट या आनन्द में है।

इस अनुभूति का जिसमे मनुष्य के अन्तिम प्रश्न का उत्तर मिलता है, बृहत् रूप से मीमासा पिताजी ने तीन जिल्दों मे लिख हुए अपने नाम के ग्रन्थ

में की है। इस ग्रन्थ की कहानी मैं पहले कह चुका हूं, जिसे प्रज्ञाचक्षु पण्डित धनराज ने उन्हें लिखवाया था। पिताजी का कहना है कि इसके द्वारा उनकी सब शकाओं का समाधान हुआ। उनके सब प्रश्नों का उत्तर मिला। अपने एक भाषण मे उन्होंने अपने श्रोताओं को इस बात को समझाया था जिसका कुछ अश नीचे उद्धृत किया जाता है। सम्भव है कि इन उद्धरणो से उनके भाव पाठक समझ सकें। पर यदि उनकी रुचि इस तरफ अधिक हो तब उन्हे मूल पुस्तक का ही अवलोकन करना पडेगा जिसकी बहुत कम प्रतियाँ अब ससार मे रह गयी है। समन्वय नामक उनकी पुस्तक से ये उद्धरण दिये जा रहे हैं।

'मैं' एक है। उसके विरोध से उसका उलटा, उसका विवर्त्त, होने के हेतु से 'यह' अनेक है, नाना है, असख्य-अणु-रूप है। 'मैं' ने इस 'यह' का ध्यान किया है, 'मैं-यह' कहके 'यह' का उद्भावन, सभावन, आवाहन, अनुवादन, संकल्पन, विधान, उपादान, अध्यारोपण, आभासन, अध्यसन किया है, इसलिए इस 'यह' में सत्ता का भास आया है। पर, साथ ही, 'यह-नही (हूँ)', ऐसा भी ध्यान करके, निषेध, प्रतिषेध, निरसन, पर्युदसन, निवारण, खंडन, निर्मूलन, अपभावन, अपकल्पन, हान, अपवादन भी किया है, इसलिए इस 'यह' की असत्ता भी स्पष्ट है। ऐसा सदसत्, हां भी नही भी, मिथ्या, झूठा, 'यह' ही अनन्तऽनन्त-अणु-रूप-मूल-प्रकृति है, जिसी के दूसरे नाम अव्यक्त, प्रधान इत्यादि है। प्रत्यगात्मा की मूल-प्रकृति, प्रधान-प्रकृति, उसी का स्व-भाव, है। क्योंकि 'मैं' ही तो 'यह' का प्रतिपादन उपकल्पन करता है, अपने मे से उसको निकालता है, ध्यान मे लाता है। 'प्रकरोति सर्वं' सब कुछ करती है, इससे 'प्रकृति' 'प्रधीयते अस्मिन् सर्वं,' सब कुछ इससे भरा पडा है, इससे 'प्रधान'; व्यक्त, व्यजित नही, किन्तु अव्यक्त रूप से जैसे बीज मे पेड इससे अव्यक्त, इत्यादि।

'मैं' अपरिमित है, आदि अन्त रूपी परिमित इसमे नहीं है, इसका आदि अन्त किसी ने देखा नहीं, देश-काल क्रिया से अनवच्छिन्न है, अतीत है, परे है। जो पदार्थ कुछ क्रिया करे, जिसमें कुछ परिवर्तन हो, अदल-बदल हो, वही देश और काल से परिच्छिन्न होगा; इस स्थान से इस स्थान तक, इस समय से इस समय तक। देश, काल, क्रिया, यह तीनो अन्योऽन्याश्रित हैं, अलग नहीं की जा सकती। जहाँ जिसमे क्रिया नही, वहां देश, काल, आदि, अन्त, मेड़, मर्यादा, सीमा, हद भी नही। 'मैं' मे ये तीनों नही। इसका विरोधी 'यह' सर्वथा परिमित है। और 'यह' का 'मैं' से, 'मैं-यह' करके, सयोग होता है, और 'यह नही (हूँ)' करके वियोग। इन दोनो अत्यन्त विरुद्ध भावों का योग पद्य 'मैं' की अपरिमित पारमार्थिक सम्पूर्ण दृष्टि से तो सम्भवता है, पर 'यह' की परिमित, व्यावहारिक, खण्ड दृष्टि से नहीं बनता। इसलिए अ-यौगपद्य, अर्थात् क्रम, संसार में, देख पडता है। पहले प्रवृत्ति, तदनन्तर निवृत्ति; पहले सृष्टि, पीछे लय; जन्म, तब मरण; अध्यारोप, फिर अपवाद।

इस 'क्रम' ही का नाम 'काल' है। एक देश, एक स्थान, मे अनेक वस्तुओ, पदार्थों का सम्भव—यह क्रम से, काल से, होता है; ऐसे सम्भव का बीज, हेतु,

कारण, मूल रूप ही काल है।

अनेको का, 'नाना' का, एक साथ, एक काल में सम्भव, सहास्तित्व, यौगपद्य ही 'देश', 'ख', आकाश है।

'मैं-यह-नही-(हूँ)', इस स्व-भाव के अन्तर्गत जो क्रम की, प्रवृत्ति-निवृत्ति, सृष्टि-लय, रूपी ससरण की, संसार की 'आवश्यकता' है, 'अवश्य भाविता' है, तथा असख्य वस्तुओं, पदार्थों, सर्वदा वर्तमान अणुओ के यौगपद्य की आवश्यकता, अनिवार्यता, निश्चितता, नियति, है, यही 'माया', शक्ति, दैवीप्रकृति आदि बहुनाम वाली भगवती, सहस्रों स्तुतियों और उपासनाओ की इष्ट देवता है।

अवश्य ही इन भावो को ठीक प्रकार से समझना दुष्कर है। उनको व्यक्त करने की भाषा भी क्लिष्ट है। मैंने उचित समझा कि पिताजी की भाषा उद्धृत कर दूँ जिससे पाठक उसके द्वारा उनके मूल सिद्धान्तों को जान सकें।

इस सबका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि पिताजी अपने ऐसे गूढ़ दार्शनिक भावों और विचारों के कारण अपने सासारिक कर्त्तव्यों की तरफ उदासीन थे। जैसा कि इस पुस्तक से स्पष्ट है, उनका दर्शन शास्त्र व्यावहारिक था, वे व्यवहार कुशल दार्शनिक थे। अवश्य ही उनके दर्शन की उनके जीवन क्रम पर अमिट छाप थी, जिस कारण वे सब स्थितियों को समुचित रूप से तत्काल समझ कर तत्सम्बन्धी अपने कार्य को निर्धारित करते थे, और सभी अवस्था में अपने को शान्त और सन्तुलित रखते थे और रख सकते थे।

अपने दार्शनिक विचारो के ही आधार पर सासारिक स्थितियों और घटनाओं का वे विश्लेषण कर उन लोगो को वे आदेश और उपदेश देते थे जो अपनी कठिनाइयों से व्याकुल होकर उनके पास इनके समाधान के लिए आते थे। उनके निज के कौटुम्बिक, सामाजिक, आर्थिक, सार्वजनिक जीवन पर उनके दर्शन का वास्तविक रूप में प्रभाव पडा था, और उसी से प्रेरित होकर और उसी से हर प्रकार की सान्त्वना प्राप्त कर उन्होंने अपना दीर्घकालीन जीवन यापन किया और सबको ही उससे शिक्षा दे गये कि किस प्रकार से सफलतापूर्वक कोई व्यक्ति विविध क्षेत्रो मे काम करता हुआ सद्गृहस्थ, दार्शनिक, विद्वान और व्यावहारिक सब एक साथ हो सकता है और समुचित और सुव्यवस्थित रूप से जीवन व्यतीत कर सुन्दर उदाहरण सबके ही लिए अपनी इहलीला समाप्त करते हुए छोड़ कर जा सकता है।

पिताजी की जीवनी का अध्ययन कर और उनके पुत्र के नाते उनके निकट बराबर रहकर, मैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि भगवद्गीता में योगी का जो वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण ने किया है, वह बहुत कुछ अंशो मे पिताजी ने अपने जीवन मे चरितार्थ किया। उनकी कार्य करने की प्रणाली वही थी, जिसका आदेश भगवान् ने अर्जुन को दिया था, अर्थात्—

योगस्थ. कुरु कर्माणि संङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

हे धनञ्जय ! तू आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुआ कर्त्तव्य कर्मों को कर। समत्व ही योग कहलाता है।

साथ ही उनके दिन-प्रतिदिन के आचार व्यवहार भगवान् के निम्नलिखित वक्तव्य के अनुकूल थे—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिल्कुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करने के स्वभाव वाले का और न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

परिशिष्ट—१

आत्म-कथा†

धर्म दृष्टि से परम पवित्रतम, परन्तु चर्म दृष्टि से नितान्त मलिन, दुर्गंध-पूर्ण, काशी नगरी मे, तिथि १२ जनवरी, सन् १८६९ ई० को, प्रातःकाल छ बजकर पाँच मिनट पर, किसी सूक्ष्म-लोक परलोक से, मैं इस स्थूल-लोक भूलोक में आया, और नयी आँखों से नयी दुनिया को देखने लगा। तब से ८८ वर्ष की समाप्ति तक वही अंग्रेजी, सस्कृत, कुछ थोडी फारसी का भी, संग्रह किया, स्कूल कॉलेज मे पढा, और वास करता रहा हूँ। केवल दो बार काशी के बाहर रहा; सन् १८९० से १८९८ ई० तक उत्तर प्रदेश मे मैजिस्ट्रेट के रूप मे अंग्रेजी सरकार का नौकर रहा। पुन. सन् १९२६ से १९३६ ई० तक चुनार मे, गंगा के किनारे, काशी से बीस मील ऊपर, रहा। फरवरी १९३१ ई० में काशी मे हिन्दु-मुस्लिम उपद्रव हुआ, जिसमें प्रायः पचास हिन्दू और मुस्लिम मार डाले गये, और प्रायः पाँच सौ घायल हुये, उसी के बाद, मार्च मास मे कानपुर मे बहुत अधिक भीषण उपद्रव हुआ जिसमें कम से कम पाच सौ हिन्दू और मुसलमान मारे गये और प्रायः पन्द्रह सौ घायल हुए। कराची मे उन्ही दिनों कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था; उसने तीन हिन्दू तीन मुसलमानो की कमेटी बना दी, और मुझे चेयरमैन बनाया, कि इन उपद्रवो के कारणो का अन्वेषण करूँ और रोकने का उपाय सुझाऊँ। मई, जून, जुलाई, तीन महीने हम लोग कानपुर की गलियो मे फिरे, साक्षियो के बयान लिखे, फिर काशी में तीन महीने मे बहुत परिश्रम से रिपोर्ट लिखकर कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के पास भेज दी। पुनः मित्रों के अनुरोध से सन् १९३५ के आरम्भ में दिल्ली की केन्द्रीय विधान सभा में मुझे जाना पडा; परन्तु १९३८ में उसे त्याग कर बनारस मे पुनः आ बसा।

सरकारी नौकरी का कार्य मैंने पिताजी की आज्ञा से किया था। उस समय मे सरकारी नौकरी बड़े गौरव और सम्मान की वस्तु समझी जाती थी। पर मेरा मन उस कार्य में नहीं लगता था। पिताजी का देहावसान १८९७ ई० मे हो गया था; अतः नौकरी त्याग कर मैं काशी में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना के कार्य में लग गया। काशी के कुछ सज्जन, सन् १८९३–९४ से ही एक स्वतन्त्र विद्यालय

† अपने देहावसान से एक वर्ष पूर्व डा० भगवान्दास जी ने इसी शीर्षक से यह लेख लिखा था।

स्थापित करने के विचार में थे, किन्तु पर्याप्त धन के संग्रह का उपाय सूझ नही पडता था। सन् १८६३ मे श्रीमती एनी बेसन्ट का शुभागमन काशी मे हुआ, उनसे चर्चा चली, उनको परमेश्वर ने अद्भुत वाग्मिता शक्ति दी थी; उन्होने धन-सग्रह के लिए भारत मे यात्रा करना स्वीकार किया; समय (अर्थात् शर्त) यह था कि विद्यालय और उससे सम्बद्ध बालकों और बालिकाओं की पाठशालाओ मे सत्य सनातन धर्म की भी शिक्षा दी जाय। अग्रेजी सरकार ऐसी शिक्षा अपनी बनायी शिक्षा-सस्थाओ मे नही दिलवा सकती थी; कारण स्पष्ट था, उसे विविध-धर्मावलम्बियों पर शासन करना था, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, यहूदी आदि; किस धर्म की शिक्षा दिलवाती ? परन्तु अग्रेजों तथा भारतीय ईसाइयो के लिए वह धर्म मे तटस्थ, 'सेक्युलरिस्ट', नही थी; सब बड़े नगरो मे, तथा शिमला, नैनीताल, रानीखेत, दार्जिलिंग, ऊटकमंड आदि पर्वतों पर, पचासों कोटि रुपये के व्यय से विशाल चर्च बनाये, और पाँच-छ कोटि रुपये, प्रतिवर्ष, कलकत्ते में बड़े आर्चबिशप से लेकर, जिस-जिस नगर मे ब्रिटिश सेना रहती थी, चैप्लेन के वेतनों पर, व्यय करती थी; तथा ईसाई लडके-लडकियो और युवा-युवतियों के लिए स्कूल कॉलिज भी बनवाये, और उनका मासिक वार्षिक व्यय भी स्वय करती थी। एव जो शिक्षा सस्थाएँ, विशेषतः लौकिक शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा भी देने के लिए स्थापित की गई थीं, यथा अलीगढ मुस्लिम यूनिवर्सिटी और, पीछे, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, को पर्याप्त धन से सहायता देती रही। सेन्ट्रल हिन्दू कॉलिज ने विशेष कारणो से अंग्रेज सरकार से कभी एक पैसे की भी सहायता नही ली थी।

श्रीमती एनी बेसेन्ट के नेतृत्व मे, कुछ हिन्दू और कुछ अग्रेज स्त्री और पुरुष, सेन्ट्रल हिन्दू कॉलिज के निर्माण और पालन-पोषण के कार्य मे लग गये। थियासोफिकल सोसाइटी की शाखाओ से इस कार्य में प्रचुर सहायता मिली। सब ने अपने-अपने नगरों में धन का संग्रह किया। पूर्व मे, बगाल मे, (स्वर्गीय) श्री उपेन्द्रनाथ वसु, दक्षिण में मेरे (दिवंगत) ज्येष्ठ भ्राता श्री गोविन्ददास, उत्तर प्रदेश, बम्बई, राजस्थान, पजाब, काश्मीर आदि में मैं, उनके साथ घूमते थे; एक व्याख्यान थियासोफिकल सोसाइटी के उद्देश्यों पर, एक सेन्ट्रल हिन्दू कॉलिज के लक्ष्यो पर, वे देती, और स्थानीय मित्र, सोसाइटी के लिए नये सदस्यों के नाम लिखते, तथा जो धन मिलता उसे संग्रह करके काशी भेजते।

राजा महाराजाओं ने प्रायः वार्षिक सहायता देना स्वीकार कर लिया। किसी ने तीन, किसी ने पाँच, किसी ने दस सहस्र रुपयो तक की वार्षिक सहायता देनी स्वीकार कर ली। विद्यार्थियो से मासिक फीस के भी रुपये आते थे। एवं १८९८ से आरम्भ करके १९१४ तक में, जब सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज, श्री मदन मोहन मालवीय, सर सुन्दरलाल, आदि की बनायी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी कमेटी को सौंप दिया गया, प्रायः पाँच लाख रुपये के गृह, प्राय इतने ही मूल्य के सरकारी प्रामिसरी नोट, प्राय इतने ही मूल्य का, पुस्तकों का तथा कुर्सी बेंच आदि का विशाल संग्रह तथा

सायंस की योग्याशालाओं की सामग्री, उनकी कमेटी को सौंप दी गयी। धर्म की शिक्षा देने के लिए हिन्दू कॉलेज के पुराने बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज ने एक श्रेणी, पुस्तको की, बनवायी थी। छोटी प्रश्नोत्तरी, बालक बालिकाओं के लिए, एक एलिमेंटरी, स्कूलों के ऊँचे वर्गों के लिए, एक ऐड्वांम्ड, विद्यालय विभाग के विद्यार्थियो के लिए। इन पुस्तको का बहुत प्रचार हुआ। छोटी प्रश्नोत्तरी का भारत की ग्यारह-बारह प्रान्तीय भाषाओ मे अनुवाद हुआ, और एक लाख से अधिक उसकी प्रतियाँ बिकीं।

यहाँ तक धर्म-शिक्षा-विषयक चर्चा हुई। अब निजी अनुभवों की चर्चा करूँगा। ८८ वर्ष के अपने जीवन में मैंने अद्भुत परिवर्तन देखा, न केवल काशी मे, अपितु समग्र भारत में। गार्हस्थ्य-जीवन के, शिक्षा के, आचार-विचार के, छूत-छात के, रेल-यात्रा के, समुद्र-यात्रा, व्यापार, व्यवहार, आर्थिक, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के सभी अगो के सम्बन्ध में। ८३–८४ वर्ष पहिले जब मैंने और छोटे भाइयों ने अक्षरारम्भ किया था, तब रात में, पीतल की दीवट पर, सर्षप तैल से भरी, पीतल की, छिछली कटोरी मे, रूई की तीन-चार बत्तियाँ बाल कर, उनके प्रकाश मे पढते-लिखते थे। नरकट वा क्लिक की लेखनी से नागरी लिखना सीखा, फिर जब अग्रेजी आरम्भ किया तो बत्तक के परों से; फिर लोहे ताबे पीतल के निबों की बारी आई; अब फाउन्टेन-पेन और टाइप-राइटर काम में आते हैं। पहले, देश का बना कागज, मोटा, चिकना, बहियो के काम में आता था, अब महाजनी कोठियों में भी, साधारण कार्यो के लिए, ब्रिटेन का कागज काम मे आने लगा। पहले, सस्कृत पुस्तकें ताल-पत्र पर, अथवा उसी जैसे पुष्ट कागज पर, लिखी जाती थीं। क्रमश छापेखाने चले; पहले लीथो, फिर टाइप; आरम्भ मे सस्कृत ग्रन्थ अलग-अलग पत्रो पर छपते थे, अब वह प्रकार उठ गया है। सस्कृत हिन्दी आदि भाषाओ की पुस्तकें, अग्रेजी पुस्तकों की सी छपती हैं; इससे पढने-लिखने के काम मे बहुत प्रसार हुआ है। नये प्रकार की पाठशालाएँ सहस्रों, विद्यालय सैकड़ों, विश्वविद्यालय बीसियो बन गये हैं, जिनमे से कई-कई लाख बी० ए०, बी० एससी०, एम० ए०, एम० एससी०, डाक्टर, एजिनियर, वकील, आदि प्रतिवर्ष निकलते हैं, और जीविका के साधन न मिलने मे बहुत दुख भोगते हैं, तथा इनमे से कितने ही चोरी, डकैती, हत्या आदि भीषण कर्मो से जीविका करने लगे हैं।

६०, ७० वर्ष पहिले, गैर-सरकारी बैंक प्राय. नही थे, केवल सरकारी इम्पीरियल बैंक था। 'प्रामिसरी नोट' भी सन् १८५७ के सिपाही युद्ध के बाद चले, अब तो भारत के सभी बडे शहरों मे गैर-सरकारी बैंक बन गये हैं। 'करेंसी नोट' कब भारत मे चले, इसका ठीक पता नही चलता; सरकारी 'रिजर्व बैंक' के भूतपूर्व गवर्नर श्री रामराव जी से मैंने पत्र द्वारा पूछा, उनको भी ठीक पता नहीं चला। ८०–९० वर्ष पहले, एक भी मिल नहीं थी, अब सैकडों सूती, ऊनी, रेशमी, कपड़े के बनाने की हो गयी हैं? एव भारी भारी रेलवे इन्जिन रेल की गाडियाँ वायुयान

समुद्रयायी वहित्र, युद्धक भी और व्यापारी भी, बनने लगे है। करेंसी नोटों का काम, पहिले महाजनी कोठियो की हुण्डियों से चलता था। इस लेखक के पूर्वज साह गोपालदास और उनके पुत्र साह मनोहरदास की ५२ (बावन) कोठियाँ भारत के अधिकांश बड़े नगरों में फैली थीं, और ईस्ट-इण्डिया कम्पनी को, एक बड़े नगर से दूर के दूसरे बड़े नगर तक, लाखों रुपये पहुँचाने मे सहायता देती थी, और समय-समय पर ऋण भी देती थी।

७०–८० वर्ष पहिले, १२ माशे का तोला होता था, और एक तोला सोने का दाम सोलह तोले चॉदी बँधा हुआ था; अब दस माशे का ही तोला (भरी) मानते हैं, और सोने चॉदी का भाव प्रतिदिन घटता बढता रहता है। साढे नौ रुपये का 'सावरेन' और ४५ रुपये की एक सेर, अर्थात् अस्सी रुपये भर, चाँदी, पहले विश्व-युद्ध के दिनो तक में बिकी; अब आज-काल (सन् १९५७) प्राय. ७०) का सावरेन, और प्रायः १८०) रुपये की एक सेर चाँदी हो रही है।

सम्पन्न घरो की स्त्रियों में पर्दा अत्यन्त था, उत्तर प्रदेश और बिहार मे, हिन्दुओ मे; और मुसलमानो में तो उससे भी अधिक। पजाब, बगाल, दक्षिण भारत की स्त्रियो में न पहले था, न अब हैं; अब तो लाखो लडकियाँ, समग्र भारत मे, स्कूल कालिजो में पढ़ती हैं, लड़को से अधिक बुद्धि और विद्या का परिचय देती है, ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी, आदि देशों मे अच्छी-अच्छी डिग्री प्राप्त करती हैं। पर्दा तो एकदम उठ गया है, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि मे भी; यह महात्मा गाँधी के सत्याग्रह आन्दोलन का प्रभाव है। काशी की 'असूर्यपश्या' गलियो मे, पाँच-पॉच छ-छ सहस्र 'असूर्यपश्या' स्त्रियाँ, एक दिन मे पर्दा छोड़कर, टौनहाल के मैदान मे जाकर एकत्र हुई, और जवाहरलाल जी की माता श्रीमती स्वरूप रानी, तथा मालवीय जी, तथा इस लेखक, के व्याख्यानो को उन्होने ध्यान से सुना। अब मुसलमानो में भी कम होता जा रहा है। अकबर इलाहबादी का प्रसिद्ध पद्य है—

स्टेशन पै नजर आयीं जो चन्द बीबियाँ
अदब से मैंने पूछा कि पर्दा क्या हुआ?
मुस्किरा के बोली, मालूम नहीं है आपको?
अरसा हुआ वो मर्दो की अक्ल पै पड गया!

समुद्र-यात्रा की दशा यह है कि जहाँ पचास साठ वर्ष पहले तक, जिसने समुद्रयायी वहित्र पर पैर रखा उसे तत्काल 'जात बाहर' किया। अब तो महा-महोपाध्यायो के, और बिरादरियो के चौधरियों के, पुत्र दूर-दूर देश जाते है और विद्या और शिल्प-कला सीख कर आते है, और बिरादरी में आदर सत्कार पाते हैं। छूत-छात के विषय मे, 'हिन्दू-दास' की ढाई सहस्र जात्युपजात्युपोपजातियो मे, जिस अनन्त परस्पर भेद के कारण, एक सहस्र वर्ष तक, अर्थात् महाराज हर्षवर्धन गुप्त के निधन से लेकर सन् १९४७ तक, विदेशियो, विधर्मियो की जूतियाँ खाते रहे है, अब पढ़े लिखे वर्ग में यह छूत छात प्राय मिट गयी है, सह भोजन का पूछना क्या,

सहस्रों 'असवर्ण' कहलाने वाले विवाह, पर जो ही सच्चे सवर्ण हैं, 'समान-शील-व्यसनेषु सख्य' न्याय से, हो गये हैं, और होते जाते हैं। 'हरिजनों' के विषय में बहुत लिख बोल चुका हूँ, अब उसको यहाँ पुनः दुहराना नहीं चाहता, केवल इतना ही कह कर सन्तोष करूँगा कि हमारे नये शासक, नेक-नीयत होते हुए भी, कई अच्छे कार्य देश हित के लिए आरम्भ करते हुए भी, कई भारी भूलें भी कर चुके है, और करते जाते हैं; उनमे एक यह है कि 'हरिजनों' को मन्दिरो में बलात् प्रवेश कराने के लिए कहीं-कहीं मजिस्ट्रेट, पुलिस, आदि की सहायता देते हैं; जिसका फल यह है कि 'हरिजन' कहलाने वाले वर्ग मे, जिनमें ही प्रायः दो सहस्र से ही अधिक जात्युपजातियाँ हैं, और जो परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं ही करते, न सहभोजन, उद्दण्डता बढती जाती है, और स्थान-स्थान पर मारपीट हो जाने की शंका उत्पन्न हो गई है। वेश-भूषा में भी प्रचुर परिवर्तन हुआ है; कश्मीर तथा अन्य हिम-प्रधान पर्वतीय बस्तियों को छोड़कर, प्रायः समग्र भारत में, हिन्दुओं में भी और मुस्लिमों में भी, स्त्रियाँ शाटी, साडी, पहनने लगी हैं; आभरण भी बहुत हल्के, सूफियाने और थोडे हो गये है, यथा कानो मे भारी तर्कों के स्थान मे 'इयरिंग' विविध प्रकार की, कलाई मे मोटे-मोटे सोने के कडो के स्थान में पतली स्वर्ण की जड़ाऊँ चूड़ियाँ, एवं कलाई घडी आदि; पैर के मोटे-मोटे चाँदी के कडे, छड़े, पाजेब आदि प्राय. सर्वथा उठ गये हैं। पाश्चात्य शिक्षा पाये पुरुष प्राय अंग्रेजी काट के वस्त्र, कोट, पतलून, नेक-टाई, आदि पहनते हैं; घर के बाहर, भीतर, चाहे अपनी पुरानी चाल की धोती पहनें। साठ, सत्तर वर्ष के पहिले जाडो मे रुई भरे कपड़े पहने जाते थे, अब ऊनी कपडो का युद्ध है। एक गुण तो एक दोष; रुई भरे कपडो में कीड़े नहीं लगते थे, पर दो तीन वर्ष में उनकी गर्मी निकल जाती थी, ऊनी कपडो मे कीड़े बहुत लगते हैं, किन्तु यदि इनसे रक्षा हो सके तो बीस-बीस तीस-तीस वर्षों तक अच्छा काम देते है। ऐसे परिवर्तनों का तो वर्णन कई-कई घण्टों और दिनों में भी समाप्त न हो, अत. अब समाप्त करना ही उचित है।

परिशिष्ट—२

भारतीय संस्कृति का सार†

भारतीय संस्कृति का हृदय, उसका मर्म और सार, जो कुछ भी मैं समझ पाया हूँ, उसको, बहुत संक्षेप से, आपको सुना देना चाहता हूँ।

इस संस्कृति के मूलाधार, उसके प्राणभूत, ये विश्वास है :

(१) परम पुरुष और मूल प्रकृति, चेतन और जड, के संयोग से यह सारी अनन्त सृष्टि बनी है।

(२) इस सृष्टि के अणु-भूत भू-गोल पर, परमाणुरूप मनुष्य, उसी चेतन और जड़ के रूपान्तर जीव और देह, चित्त और शरीर, के सयोग से बना है।

(३) परमात्मा के तीन गुण, सत-चिद्-आनन्द, और मूल प्रकृति के तीन, सत्व-रजस्-तमस्, है।

(४) तदनुसार, जीव के, चित्त के, तीन, ज्ञान-इच्छा-क्रिया, और शरीर के तीन, द्रव्य-गुण-कर्म हैं।

(५) पुरुष प्रकृति के स्वभाव का वर्णन करने वाली अध्यात्म-विद्या के सिद्धान्तो के अनुसार, मनुष्यों के चार प्रकार या वर्ण होते हैं, ज्ञान-प्रधान, क्रिया-प्रधान, इच्छा-प्रधान, और अव्यक्त-बुद्धि; इन्हीं को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहते हैं।

(६) मनुष्य के जीवन मे चार भाग स्वभावत: होते है, (क) विद्याध्ययन, (ख) जीविकोपार्जन और सन्तानोत्पादन, (ग) नि:शुल्क समाज-सेवा, (घ) शरीर छोडने और परलोक जाने, अथ च आवागमन से आत्यन्तिक छुटकारा और शाश्वत शान्ति पाने के लिए यत्न। इन्हीं को ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, सन्यासी, चार आश्रम कहते है।

(७) परमात्मा के जीवात्मा बनने का आशय यह है कि देहिता के सुख-दुखो का अनुभव करके, उनसे विरक्त होकर, लौटे अपने ऊपर आरोपित जीवात्मता को त्यागे, और परमात्मा को पहचान कर प्रशान्त हो जावे; 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित:'।

(८) उक्त उद्देश्य की पूर्ति चार प्रकारो से होती है, जिनको पुरुषार्थ कहते

---

† चतुर्थ भारतीय संस्कृति सम्मेलन के समक्ष नई दिल्ली में २ मार्च १९५२ को सभापति पद से दिये गये डा० भगवान्दास जी के भा[illegible] का एक अश

हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष । प्रथम और तृतीय आश्रमो मे धर्म, द्वितीय में अर्थ और काम, चतुर्थ में मोक्ष का साधन विशेषत: होता है, वा होना चाहिए ।

(९) चार पुरुषार्थों के साधन के उपाय बताने के लिए चार शास्त्र बने हैं, धर्म शास्त्र, अर्थ शास्त्र, काम शास्त्र, मोक्ष शास्त्र । जितने भी सैंकडो शास्त्र बने हैं या बन सकते हैं वे सभी इन चार की अवान्तर शाखा प्रशाखा वा सहायक हैं ।

(१०) 'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः', के सिद्धान्त के अनुसार सु-व्यूढ़, सु-संघटित, सु-संग्रथित समाज में ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए, अपनी योग्यता के अनुसार चारों पुरुषार्थ साधने का अवसर मिल सकता है ।

ये ही विश्वास और सिद्धान्त भारतीय सस्कृति के सार और मूलाधार हैं; शेष सब इनकी टीका है ।

परिशिष्ट—३

पारिवारिक किंवदन्तियाँ

मैंने अपने कुटुम्ब के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ बहुत छोटी अवस्था से ही सुन रखी थीं। मेरी दायी अजनासी जिसे हम सब 'नैया' कहकर पुकारते थे और जिसने ही हम भाई-बहनों को पाला था, बड़े प्रेम से बाल्यावस्था में इन किंवदन्तियों को सुनाया करती थी। वह कुटुम्ब का प्रारम्भ साह मनोहर दास से ही करती थी। उसके पहले का उसे कोई पता नही था। इस कारण मैंने भी साह मनोहर दास तक ही अपने कुटुम्ब को सीमित रखा था, और उसके पहले के पूर्व-पुरुषो को जानने का मेरे मन में जैसे कभी विचार ही नहीं आया था। मेरे चाचाजी साह राधाचरणजी ने कुटुम्ब की वंशावली प्रकाशित करायी थी और उसकी प्रतियाँ मेरे पास भी बहुत दिनों से रहीं। आश्चर्य है कि मैंने साह मनोहर दास के पहले के नामो को देखने और जानने का कभी प्रयत्न ही नही किया। इस प्रेममयी वृद्धा ने मुझसे कहा था कि साह मनोहर दास कह गये हैं कि हमारी कमाई हमारे घर वाले सात पुश्तो तक खावेंगे। उसके बाद जो लोग होगे, अपनी फिकर करेंगे। मैं उनसे सातवी पीढी का हूँ। इस कारण मुझे अपने लिए किसी प्रकार की चिन्ता कभी नहीं रही, पर इस बाल्यावस्था में सुनी हुई किंवदन्ती के कारण आगे की पुश्त के लिए बराबर चिन्ता लगी रही और है। ईश्वर ने जिस तरह साह मनोहर दास जी के वंश के सात पुश्तों तक के कुटुम्बी-जनों को आनन्द और वैभव में रखा, वैसे ही अनन्त काल तक रखे रहें, यही मेरी अभिलाषा, आकांक्षा और शुभ कामना हो सकती है और है।

दूसरी किंवदन्ती यह थी कि साह मनोहर दास के बनाये हुए और उन्ही के नाम से प्रसिद्ध कलकत्ते के बडा बाजार मे जो कटरा है और जो इस वंश की हमारी विशेष शाखा का प्रधान पोषक पुश्त दर पुश्त सन् १७६६ से रहा है, उसमे घर की स्त्रियों को जाने की मनाही है। अगर कोई वहाँ जायगी तो अन्धी हो जायगी। दायी का कहना था कि रात्रि के समय साह मनोहर दास सोने की खड़ाऊँ पहनकर निकलते थे और कटरे मे गश्त लगाते थे। स्त्रियों को उनका ही अभिशाप है कि वह वहा न जायँ। इसका कोई कारण मुझे नहीं बतलाया गया। अप्रैल सन् १९२६ की घटना है। मैं अपनी स्त्री और बच्चों को लेकर कलकत्ते और जगन्नाथपुरी की यात्रा करने गया था। उन दिनों कलकत्ते में हिन्दू-मुस्लिम दंगा एकदम हो गया। कटरे के पास के धर्मशाला में हम लोग ठहरे थे एक दिन प्रात काल अपनी पत्नी को

लेकर पुराने पीपे के पुल पर घूमने गया। अब तो पीपे का पुल नही है। उसके स्थान पर विशाल लोहे का पुल बन गया है। पुल से लौटते हुए धर्मशाले के रास्ते मे ही कटरा पडता था। मैंने पत्नी से कहा कि चलो कटरा देख लो। उसने मुझसे कहा कि मुझे मत ले चलो। यहाँ घर की स्त्रियो को जाने की कड़ी मनाही है। मैंने कहा कि यह सब व्यर्थ की रूढ़ि की मूर्खता-भरी बाते है, चलो। प्रात:काल का समय था, बहुत कम लोग सड़क पर देख पड़ रहे थे, कटरे के गणेश फाटक से मैं घुसा। पत्नी ने एक कदम ही भीतर रखा था कि कुछ भयभीत होकर बाहर आ गयी, मैं भी लौट आया। उसकी अवस्था उस समय केवल ३० वर्ष की थी। उसका स्वास्थ्य अच्छा था। किसी प्रकार की चिन्ता मन मे नही आ सकती थी, पर तीन महीने के भीतर उसे चेचक का प्रकोप हुआ। हजार प्रयत्न करने पर भी उसे कोई बचा न सका। अपने जीवन के अन्तिम तीन दिन वह नेत्रहीन भी रही, मैं तब से बहुत डर गया। किन्हीं बहुओ को कटरे की तरफ जाने ही नहीं देता। सुना है कि जब मेरी ताई साह गोविन्द दासजी की पत्नी बड़ा बाजार से गुजरती थीं, तो वह गाडी से दूसरी तरफ देखती थी जिससे कि कटरे पर जो सडक के किनारे ही स्थित है, उनकी दृष्टि ही न पड़े, अस्तु।

पाठको को यह जानकर सम्भवत कुतूहल होगा कि मेरे कुटुम्ब में यह परम्परा चली आती है कि काले जन्तु न रखे जायँ। मैंने सुना है कि कुटुम्ब की कोई साध्वी स्त्री किसी समय सती हुई थी और चिता पर से उन्होंने यह आदेश दिया था कि हमारे घर में काले जन्तु न रखे जायँ। जिस समय सभी सम्पन्न घरों मे हाथी रखने की बडी प्रथा थी, उस समय भी मेरे घर पर हाथी नहीं थे। भैस भी नही रखी जाती। मेरे यहाँ घुड़सवारी का बडा शौक सदा से रहा। सन् १६१८ में मैं बडा सुन्दर काला घोड़ा खरीद कर लाया। मेरी माता ने उसे देखते ही कहा—इसे फौरन निकालो। हमारे घर पर काले जानवर नही रखे जाते। मैंने यह सर्वथा व्यर्थ की बात समझकर माता के आदेश की अवहेलना की। एक दिन सायँकाल बहुत दूर रोहनियाँ के थाने तक घोड़े पर मैं निकल गया। उसे बहुत दौडाया, मैं अकेला ही था। लौटते समय जब घोड़ा और सवार दोनों ही थक गये थे, मैं घोड़े पर बैठा हुआ धीरे-धीरे चला आ रहा था। अवश्य ही लापरवाह होकर बैठा रहा हूँगा। मुझे कुछ पता नहीं, पर स्पष्ट है कि घोडे ने एकाएक भारी ठोकर खायी होगी। मालूम होता है मैं बुरी तरह गिरा और बेहोश हो गया। होश आने पर मैंने देखा, घोड़ा पास खडा है और मैं खून से नहा रहा हूँ। कुछ लोग इकट्ठा हो गये। लहरतारे के पास की घटना है। एक सज्जन ने कृपा कर सिकरौल स्टेशन से किराये की गाडी मँगवा दी। मैं घर लौटा। मैंने घोड़े को लगाम से पास के पेड में बाँध दिया जिसे पीछे साईस ले आया। मुझे काफी चोट आयी जिसका प्रभाव ४० वर्ष पीछे आज भी बना है। घोड़ा निकाला गया। इसके बाद जानवर तो दूर रहा काली मोटर रखने का भी साहस मुझे नहीं हुआ मेरे चाचा साह

को जानवरो की बड़ी पहचान थी। हाथी, घोड़े, गाय, भैंस—सबको वे अच्छी तरह जानते थे, एक बार उन्होने भैंस पाली, इसके बाद वे अधिक दिन जीवित नहीं रहे। ऐसी घटनाओं से अन्ध-विश्वास की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। सम्भवतः इसकी अवहेलना करना उचित नही है। चाहे कोई कितना ही साहस क्यो न करे, मन मे भावना बनी ही रहती है और उसका प्रभाव जीवन पर पड़े बिना नही रहता। इस प्रकार भविष्यवाणी भी अपने को स्वय सिद्ध कर ही लेती है। मनुष्य तो अनुभव के आधार पर सचेत ही रह सकता है। उसे ऐसा ही रहना चाहिए।

किवदन्तियों और ऐतिहासिक घटनाओं का अपूर्व समन्वय सन् १७९९ के सिरगापटाम (श्रीरगपट्टम्) के युद्ध के वृत्तान्त में होता है। टीपू सुल्तान का अग्रेजो के साथ यहाँ भीषण युद्ध हुआ था। साह मनोहर दास अंग्रेजों की फौज को रसद पहुँचाते थे, यही पर सम्भवत: उन्होंने अपनी धनराशि एकत्र की थी। इसके बाद मालूम पड़ता है कुटुम्ब ने सभी स्थानों से अपना व्यापार व्यवसाय बटोर लिया और काशी मे ही स्थायी रूप से उसके सदस्यगण रहने लगे। उनकी कोठियों की इसके बाद कोई सूचना नही मिलती। सिरगापटाम से साह मनोहर दास कई सुन्दर ऐतिहासिक वस्तुएँ भी अपने साथ ले आये जिनका सम्बन्ध टीपू सुल्तान से था। उसमे शख और झाझ मैंने अपने दादाजी साह माधवदास के पास देखे थे। साह माधोजी की शाखा में तलवार और छुरा था। किंवदन्ती है कि राणा जंग बहादुर का मेरे कुटुम्ब के साथ बहुत सम्बन्ध था। ये काशी के ही कहे जाते है। जब नेपाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ये काशी आये और पुराने मित्रों से मिलने गये तो उस समय के हमारे पूर्वज साह रामदास अथवा साह (गोरे) हर्षचन्द्र जी ने इस तलवार को राणा साहब को भेंट कर दी। उसे मैंने काठमांडू के सग्रहालय में सन् १९४७ में देखी। जब मैंने उसकी कथा बतलायी तो महाराणा पद्म शमशेर जंग बहादुर राणा ने मुझसे कहा कि हम यह तो जानते थे कि यह काशी से आयी थी पर हमें यह नही मालूम था कि आपके कुटुम्ब मे यह थी। जो छुरा साह मनोहर दास अपने साथ लाये थे उस पर टीपू सुल्तान का नाम अंकित है। बहुत स्थानो पर घूमता हुआ अब यह हैदराबाद मे सर सालार जग के संग्रहालय मे है।

किंवदन्तियों की चर्चा करते हुए यह भी कह देना अनुचित न होगा कि साह मकुन्दलाल (झक्कड़ साह) की दिनचर्या और साह मनोहर दास की काशी से कलकत्ते की यात्रा के कारण और प्रकार के सम्बन्ध में बहुत कहानियाँ प्रचलित रही हैं। मेरी दायी ने कुछ मुझे सुनायी थी। कुल की परम्परा में दो विश्वासो के सम्बन्ध मे यहाँ विशेष रूप से मैं कुछ कहना चाहता हूँ क्योंकि इनका प्रभाव मेरे ऊपर बहुत पड़ा जिसके कारण मैंने कुछ कार्य करने का प्रयत्न भी किया। एक तो यह कि कलकत्ते के मैदान की जो करीब ७५ बीघे (५० एकड़) भूमि है वह साह मनोहर दास की थी और उन्होंने उसको गोचर भूमि के रूप मे नगरी

को प्रदान कर दी थी। अपने लिए उन्होंने केवल दो ही बीघा भूमि बडा बाजार मे रखी जिस पर कि उनका कटरा आज भी है। कहते हैं कि यही कटरा 'पुराना बाजार' अर्थात् 'ओल्ड मारकेट' था जिसके कारण जब आज का प्रसिद्ध 'हौग्ज मारकेट' बना तो उसे 'नया बाजार' अर्थात् 'न्यू मारकेट' के नाम से जाना गया। मैं नही कह सकता कि उसमें कितना तथ्य है, पर इसमें कोई सन्देह नही कि जिस प्रकार 'हौग्ज मारकेट' के विविध विभाग हैं उसी प्रकार साह मनोहर दास कटरा मे भी छीटपट्टी, तुलापट्टी, लोहापट्टी, मूँगापट्टी आदि के नाम से भिन्न-भिन्न स्थान अब भी जाने जाते है, और यद्यपि उन वस्तुओ की निर्दिष्ट स्थान पर आज बिक्री न भी हो तो कटरा के अग इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं।

मैदान के सम्बन्ध मे इतनी प्रसिद्धि है कि मुझे स्मरण है कि मेरे दादाजी के समय के हकीम मौलवी हाशिम अली साहब ने जो दादाजी के देहावसान के बाद बहुत दिनों तक जीते रहे और पुराने प्रेम के वश प्रतिदिन एक बार हमारे घर पर हम सब लोगों को देखने आया करते थे, मुझसे बाल्यावस्था मे एक अवसर पर कहा था कि यदि वह जमीन अपने घर में होती तो हमारा कुल सम्भवत: देश मे सबसे धनी कुल होता। मुझे यह भी याद है कि मैंने उस समय मौलवी साहब को उत्तर दिया था कि यदि हमारे पूर्वज वह जमीन अपने पास रखे रहे होते और उसका दान कर इतना पुण्य न कमाये होते, तो सम्भवत: हमारे कुल के पास वह सम्पत्ति भी न होती जो आज है। जो कुछ हो, इस तरफ मेरा ध्यान विशेष रूप से प्रसिद्ध पुरातत्त्व वेत्ता डॉक्टर श्री राखालदास बन्द्योपाध्याय (डॉक्टर आर० डी० बनर्जी) ने आकृष्ट किया। उन्हें मैं सन् १६२४ से जानता रहा जब वे काशी आये हुए थे और मोहन-जो-दरो पर हिन्दू-विश्वविद्यालय मे उनका भाषण हुआ था। इस प्रसिद्ध स्थान का पता उन्होंने ही लगाया था और इसके आधार पर अपने भारत की विकसित सभ्यता को आज से करीब ५ हजार वर्ष पहले की सिद्ध किया था। हम सभी उस समय बडे आह्लादित हुए थे कि हमारी सभ्यता का सूत्रपात इतने दिनो का माना जाने लगा था। राखाल बन्द्योपाध्याय विलक्षण विद्वान थे। वे तो एक-एक पत्थर को देखते ही उसका इतिहास बतला देते थे। उनका ऐतिहासिक ज्ञान इतना विस्तृत था कि उनसे बातचीत कर विस्मय होता था। सन् १६२६ के अन्त या सन् १६३० के आरम्भ की बात होगी जब काशी में उनसे मुलाकात होने पर उन्होने मुझसे कहा—'तुम क्यों अपनी जमीन पर ट्राम गाड़ी वालों को दखल करने देते हो?' मुझे यह सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ क्योकि उनका तात्पर्य मैं एकाएक न समझ सका। पूछने पर मालूम हुआ कि वे कलकत्ते के मैदान का सकेत कर रहे हैं जिस पर कुछ स्थान ट्राम वालो ने अपने अधीन कर अपनी पटरी बिछायी है।

इस पर मैंने उनसे कहा कि सुनने को तो मैंने भी सुन रखा है कि यह मैदान मेरे घर वालों ने दान में दे दिया था, पर इसका प्रमाण तो मेरे पास नही है साथ ही जब वह जमीन दान में दे दी गयी तो उस पर अब हमारा क्या अधिकार

रह गया । इस पर उन्होने कहा कि जब तुम दूसरे बार कलकत्ते आओ तो मैं तुम्हें मुर्शिदाबाद के पुस्तकालय मे ले चलूँगा और वहाँ पर तुम्हें इस सम्बन्ध की मूल दस्तावेज दिखाऊँगा । थोड़े ही दिन बाद मुझे राजनीतिक असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध मे जेल-यात्रा करनी पड़ी । जब तक मैं वहाँ से लौटा तब तक डॉक्टर बनर्जी का देहान्त १७ मई सन् १६३० को हो चुका था । ससार से एक बड़ी विभूति और ज्ञानराशि उनके साथ उठ गयी । मुर्शिदाबाद पुस्तकालय में जाने का अवसर मुझे नही मिला । अपने कुटुम्ब की माधोजी कोठी के नाम की प्रसिद्ध शाखा के अपने भाई साह दामोदर दास के द्वारा मुझे कलकत्ते के मैदान मे जो कुण्ड है और जिसकी 'मनोहरदास टंक' के नाम से प्रसिद्धि है, उसके सम्बन्ध में कुछ पत्रादि मिले जिनसे यह मालूम हुआ कि साह मनोहर दास और अंग्रेजी ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के बीच मे उस तालाब के सम्बन्ध मे १६वी शताब्दी के आरम्भ में कुछ पत्र-व्यवहार हुआ था । मैंने मुर्शिदाबाद पुस्तकालय के अध्यक्ष से पत्र-व्यवहार किया । पीछे पाकिस्तान में वहाँ के नवाब साहब से मुलाकात होने पर उनसे भी यह चर्चा की । पर मूल दस्तावेज नही मिल सका । इसकी मैंने इधर-उधर बहुत खोज की पर कही से कोई सन्तोषप्रद उत्तर नही मिला ।

जब मैं सन् १६३५ मे केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का सदस्य चुना गया तो मैंने रक्षा सचिव सर रिचर्ड टाटनहम और सहायक सचिव सर टेनांट स्लोन से कहा कि मैदान पर सगमरमर का पट लगाने की अनुमति दी जाय जिससे कि मैं अपने पूर्वजों का स्मृति-चिन्ह वहाँ पर स्थापित कर सकूँ । तब से लेकर १२ वर्षों तक विविध अधिकारियो से इस सम्बन्ध में मेरा पत्र-व्यवहार होता रहा । सब प्रमाण ही माँगते रहे जो मैं नही दे सकता था । उस समय के न्याय-सदस्य सर नृपेन्द्र सरकार और एडवोकेट जनरल सर विनोद मित्र से भी मेरी बाते हुईं । उन सबों ने कहा कि हम जानते है कि यह मैदान तुम्हारे वश वालों का दिया हुआ है और हम अवश्य तुम्हें स्मृति-चिन्ह स्थापित करने में सहायता देंगे । पर मेरे पास कोई लिखित प्रमाण न होने के कारण मैं इस कार्य में सफलता न पा सका । मुझे यह भी स्मरण है कि इस प्रसंग मे, मैं डॉक्टर प्रफुल्ल चन्द्र घोष से मिला था जब वे बगाल के मुख्य-मन्त्री थे । उन्होंने मुझसे कहा कि यह बात हम जानते हैं, पर तुम इसे अपने मुँह से मत निकालो क्योकि कलकत्त की आबादी भयकर रूप से बढती जा रही है और हमे मैदान पर इमारते बनानी होंगी । यह स्थान गौओं के चरने के लिए दिया गया था, इस कारण इस काम मे बाधा पड़ रही है । यदि तुम इसकी चर्चा करोगे तो हमारा काम न हो सकेगा सो तुम्हें चुप रहना चाहिए ।

अन्त में जब डाक्टर विधान चन्द्र राय बंगाल के मुख्य-मन्त्री हुए जिन्हें भी यह सब कथा मालूम थी, तो उन्होने मुझे सहर्ष इसकी अनुमति दी और बुधवार, १२ अक्टूबर सन् १६४८ (विजयादशमी) को राज्यपाल डाक्टर कैलाशनाथ काटजू के हाथों मनोहरदास कुण्ड पर स्मृति पट लग गया जिससे हम सबको ही सन्तोष हुआ

जब मैंने मुख्यमन्त्री डाक्टर विधानचन्द्र राय को अपने कुटुम्ब की तरफ से धन्यवाद का पत्र भेजा तो उनका उत्तर आया कि मुझे हर्ष है कि कलकत्ते के प्रमुख प्रतिष्ठित परोपकारी पुरातन नागरिक की स्मृति जाग्रत रखने मे मैं सहायक हो सका। मैदान के दान के सम्बन्ध मे मुझे अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला। पुरातत्त्व वेत्ताओं का इस सम्बन्ध में विचार अनिश्चित है और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है इस स्मृतिपट लग जाने के बाद मैंने अपना मन उधर से हटा लिया है। मुझे वही सन्तोष है कि अपने पूर्वजों के प्रति छोटी सी श्रद्धांजलि अर्पित करने का मुझे भी अवसर मिला। मैं ऊपर कह आया हूँ कि मेरा ध्यान अपने वंशावली मे साहू मनोहर दास तक ही था और अब तक प्रधानत. उन्हीं की चर्चा भी की है। पिताजी साहू डाक्टर भगवान् दास जी जब भी कभी वंश के सम्बन्ध की कथाएँ मुझे सुनाते थे, तो साहू मनोहर दास और उनके बाद की विभूतियों की ही चर्चा करते थे। इनके पहले के पूर्वजों का संकेत करते मैंने उन्हें भी कभी नही पाया।

सन् १६१५ मे अपने छोटे चचेरे भाई साहू श्रीरंजन के विवाह मे मैं बिहार प्रदेश के मुंगेर जिला स्थित बेगूसराय नगरी मे गया था। वहाँ से कुछ अन्य नवयुवक बरातियों के साथ उसी जिले के अन्तर्गत सीताकुण्ड भी देखने गया। वहाँ पर पण्डो की बातों से पता लगा कि वह साहू मनोहर दास का बनवाया हुआ है। पण्डे जब हम सबसे बातें कर रहे थे तो उन्हें यह नही मालूम था कि हम उसी कुल के हैं। जब साहू मनोहर दास की कृतियो का विस्तार से मुझे पता लगा तो इस स्थान के पुनरुद्धार और यहाँ पर भी स्मृतिपट लगाने की प्रबल अभिलाषा मुझे हुई। बिहार शासन के पुरातत्त्व विभाग ने इसकी पुष्टि की कि यह कुण्ड साहू मनोहर दास का ही बनवाया हुआ है। इसका पानी बहुत ही गरम है और इससे नहाना स्वास्थ्यकर भी है। बगल के कुण्ड का पानी ठण्डा है, पर इसका अत्युष्ण है। बिहार के मुख्यमन्त्री डाक्टर श्री श्रीकृष्ण सिंह जी की कृपा से इस स्थान पर साहू मनोहरदास का स्मृतिपट लगाने की अनुमति मुझे मिली, और उन्ही के हाथ शनिवार, १० मार्च सन् १६५६ (महा-शिवरात्रि) को उसका उद्घाटन भी बड़े समारोह से हुआ। साहू मनोहर दास का बनवाया हुआ बगल में मन्दिर का भी जीर्णोद्धार हुआ। सुना है उसमें राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की कुल पाँच मूर्तियाँ किसी समय थी। अब उनका कोई पता ही नही था। मद्रास के संग्रहालय में जो राम और सीता की सुन्दर मूर्तियाँ हैं, उन्ही की तरह दो मूर्तियां वहाँ से बनवाकर मैंने भेजी जिनकी स्थापना इस मन्दिर मे पीछे की गयी। मुख्यमन्त्री जी उसी जिले के रहने वाले थे, पर उनका इस स्थान विशेष से पहले परिचय नहीं था। उसकी सुन्दरता देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। मुझसे उन्होंने कहा कि आपने अच्छा किया मेरा ध्यान इधर दिलवाया। उस स्थान की उन्नति के लिए स्मृतिपट उद्घाटन के समय उन्होंने शासन की तरफ से कई सहस्र रुपया व्यय करने का वचन भी दिया। अवश्य ही मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि इस भूले हुए स्थान की स्मृति जागृत हो सकी

हमारे कुल में दूसरा यह विश्वास प्रचलित था कि साह मनोहर दास ने अपने समय अर्थात् १८वी शताब्दी के अन्त और १९वीं शताब्दी के आरम्भ में सारे देश में ५२ कोठियाँ स्थापित की थी। जिस समय में विविध अधिकारियों से कलकत्ता के मैदान में स्मृतिपट लगाने के सम्बन्ध में बातें कर रहा था, उस समय अपने पुराने वकील और मित्र सर धीरेन्द्र मित्र के दिल्ली के मकान पर इत्तिफाक से डाक्टर सुरेन्द्रनाथ सेन से मुलाकात हो गयी। वे उस समय केन्द्रीय शासन के पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष थे। ये भी बड़े प्रवीण विद्वान्, इतिहासज्ञ, और पुरातत्त्व-वेत्ता थे। जब उन्होने धीरेन्द्र मित्र से यह जाना कि मैं अमुक कुल का हूँ तो वे बडे प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि तुम मेरे कार्यालय में चलो। तुम्हारे कुल के बहुत से पत्रादि मेरे पास हैं। उन्हें मैं तुम्हे दिखलाऊँगा। फारसी से उनका अग्रेजी में अनुवाद हो रहा है। अवश्य ही तुम्हें इनमें रस आवेगा। मैं उनके कार्यालय में बड़ी उत्सुकता से गया। उन्होंने बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया। वे बड़े प्रसन्न हुए कि उनसे मेरी मुलाकात हो गयी। मेरी प्रसन्नता और कृतज्ञता तो स्वाभाविक ही थी।

वे पुरानी दस्तावेजों का अंग्रेजी में अनुवाद करा रहे थे। हमारे पूर्वजों के नाम इनमें बार-बार आये है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी से और हमारे कुटुम्बीजनो से जो पत्र-व्यवहार हुआ था उसकी प्रतिलिपियाँ वहाँ से मुझे मिली। कोठियों के सम्बन्ध की परम्परागत किंवदन्ती की आंशिक पुष्टि भी हुई। ५२ कोठियों का तो पता नही लगा, पर दस्तावेजों में २२ कोठियों का नाम दिया हुआ है। इनकी सूची साह गोपाल दास की मृत्यु के बाद साह मनोहर दास ने स्वय ही ९ मार्च सन् १७८७ को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालको के पास भेजी थी। इससे मालूम होता है कि इनके व्यापार केन्द्र कलकत्ता, मद्रास, मछलीपट्टम, सूरत, बम्बई ऐसे काशी से दूरस्थ नगरों में उस समय स्थापित हो चुके थे। इन दस्तावेजों में मेरे पूर्वजों में प्रथम नाम साह गोपाल दास का ही आता है और अवश्य ही उन्ही के समय इन सब कोठियों की स्थापना भी हुई थी। इन उद्धृत दस्तावेजों में से पहला सन् १७७५ का है। ऐसी अवस्था में अवश्य ही साह गोपाल दास जी की तरफ विशेष रूप से मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ। यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि काशी के वयोवृद्ध लोकप्रसिद्ध पण्डित छन्नूदत्त व्यास जी बहुत दिन हुए किसी अवसर पर मुझ से मिलने आये थे और उन्होने साह गोपाल दास की विशेष रूप से चर्चा की थी। काशी में जिस महल्ले में मेरे वंशजों के बहुत से मकान हैं, वह गोपाल दास साह के महल्ले के ही नाम से प्रसिद्ध है। जानने को तो मैं महल्ले का नाम बाल्यावस्था से ही जानता था, पर उस पर कभी भी कोई विशेष ध्यान मैंने नही दिया था। इन दस्तावेजों को पढ़कर साह गोपालदास की तरफ मेरी विशेष श्रद्धा हुई और यद्यपि साह मनोहरदास ने अधिक धन कमाया था, पर काशी से बाहर देश के विभिन्न भागो मे साहस के साथ अपने कुटुम्ब के रोजगार का विस्तार साह गोपालदास ने किया था।

इन दस्तावेजों से मुझे मालूम हुआ कि हमारे पूर्व-पुरुषों का ईस्ट इण्डिया

कम्पनी से कितना निकट और विविध रूप का व्यापारिक सम्बन्ध था। ये कम्पनी के महाजन थे, अंग्रेजी फौजों को रसद पहुंचाने वाले थे और उसके लिए सिक्का भी ढालते थे। जब मैं मद्रास का राज्यपाल होकर वहाँ पहुँचा और वहाँ के पुरातत्त्व विभाग वालो को मालूम हुआ कि मैं अमुक कुल का हूँ, तो उन्होंने अपने यहाँ से भी बहुत से दस्तावेजो को निकाल कर मुझे दिये जिनमे ईस्ट इण्डिया कम्पनी और अपने कुल का निकट सम्बन्ध का और भी पता लगा। एक विद्वान् ने तो मुझ से यहाँ तक कहा कि यदि आपके कुल से कम्पनी को उस समय सहायता न मिली होती तो उसका काम ही न चलता। इसके प्रमाण मे भी उन्होंने मुझे बहुत से पत्र दिखलाये। मुझे यह जानने का कुतूहल हुआ कि ऐसे समय जब यातायात का कोई प्रबन्ध नही था, किस तरह मेरे पूर्वज दूर-दूर प्रदेशो मे घूमते थे। विद्वानों से पूछने पर मालूम हुआ कि ये लोग काशी से कलकत्ता और कलकत्ता से मछलीपट्टम और वहाँ से मद्रास बैल-गाड़ियों पर आते जाते थे और स्थान-स्थान पर अपनी कोठियाँ स्थापित कर अपना काम करते थे। दस्तावेजों से यह भी मालूम हुआ कि कभी-कभी ये रास्ते में लूट लिये गये हैं। कम्पनी ने इन्हे इसके लिए हर्जाना भी दिया है। समय-समय पर जैसा जगन्नाथपुरी की तीर्थयात्रा के अवसर पर इनकी रक्षा के लिए साथ फौजी सिपाहियो की टुकडी भी भेजी है।

साहु गोपाल दास जी का नाम इस प्रसग में प्रशंसा सहित विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि पीछे इन्हीं का काम बढ़ाकर इनके पुत्र साहु मनोहर दास ने अत्यधिक धन कमाया, पर साहु गोपाल दास ने ही कुल के वैभव का सूत्रपात किया था, इस कारण उन्हे ही अपने अधिक यशस्वी पुत्र से बड़ा मानना चाहिए। अवश्य ही पुत्र ने लौकिक दृष्टि से उनसे कही अधिक वैभव प्राप्त किया जिसके कारण उनका ही नाम अधिक प्रचलित रहा और कुटुम्ब मे भी उन्ही का यश अधिक माना गया और उन्ही का नाम भी अधिक स्मरण किया गया। तथापि मेरी समझ मे प्रधान श्रेय साहु गोपालदास को ही देना चाहिए। ऐसी धारणा होने पर मेरी इच्छा हुई कि जिस प्रकार कलकत्ते मे साहु मनोहरदास का स्मृतिपट लगा उसी प्रकार मद्रास मे साहु गोपाल दास का लगना उचित होगा। भारत-शासन के शिक्षामन्त्री मौलाना अबुल कलाम आजाद की कृपा से और श्री राजगोपालाचारी की सहायता से मद्रास के फोर्ट सेन्ट जार्ज के सग्रहालय में स्मृतिपट लगाने की मुझे अनुमति मिली। मुझे विशेष प्रसन्नता है कि जिस स्थान पर करीब दो सौ वर्ष पहले हमारे भारतीय व्यापारी अंग्रेजी व्यापारियों से व्यवहार करते थे उसी स्थान पर यह पट लगा। उसके उद्-घाटन के समय मैंने १४ अप्रैल सन् १६५५ में बड़ा समारोह किया था। मद्रास नगर के पुराने अंग्रेजी व्यापारियों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया था। ये लोग बड़े उत्साह और प्रसन्नता से आये थे। इनमे से एक ने मुझ से कहा कि आपके पूर्वज के साथ ही मेरी दूकान के उस समय के प्रबन्धक भी यही रोजगार करने आते रहे होंगे।

जैसा मैं ऊपर कह आया हूँ साहु मनोहर दास मुझ से सातवी पीढ़ी के पूर्व

पुरुष थे और इनके नाम से मैं बाल्यावस्था से ही परिचित था। अब मैं एक पीढी और ऊपर गया, और साह गोपालदास के शुभ नाम से परिचय पाकर कृत-कृत्य हुआ। मद्रास के समारोह का समाचार उत्तर प्रदेश के पत्रो में भी छपा। मिरजापुर निवासी श्री विश्वनाथ पाण्डेय 'प्रणव' ने इसे देखा और मुझे उन्होने पत्र लिखा कि उनको अपने जिले के अन्तर्गत चुनार के आस-पास के पहाडो और जगलो मे कई बड़े-बड़े सुन्दर पत्थर के कूप मिले है जिन पर 'साह गोपालदास पुत्र साह भैयाराम' ऐसे वाक्य अंकित हैं। उस शिलालेख की प्रतियाँ उन्होने मेरे पास भेजी और पीछे काशी मे मुझ से कृपा कर वे मिले भी। मुझे अवश्य ही बडा कुतूहल हुआ और मैंने स्वय चाहा कि इन कूपों को देखूं। खेद है कि मैं अब तक वहाँ नहीं पहुँच सका, पर मेरे चचेरे भाई साह सूर्यप्रताप ने मेरे आग्रह पर इनमें से कुछ कुओ का निरीक्षण किया है। वहाँ जाने का रास्ता विषम है, पर मालूम पडा है स्थान सुन्दर और दर्शनीय है। मेरे छोटे चाचा साह सीताराम जी ने मुझ से एक बार किसी प्रसंग मे कहा था कि उनका विचार है कि हमारे पूर्वज मुगल सम्राट हुमायूँ की सेना के साथ उनके पूर्वीय प्रदेशो के युद्ध मे आरम्भ में आये। पहले चुनार मे ही ठहरे। पीछे काशी आकर बस गये।

इस कुल की रक्षा, समृद्धि और वैभव मे स्त्रियों का भी बडा हाथ रहा है। इनमे से एक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वे साह विश्वेश्वरदास उर्फ साह सरयूदास की पत्नी थीं और मेरी परदादी। उनका शुभ नाम पार्वती देवी था। इनका हस्ताक्षर मुझे प्रभास तीर्थ (सोमनाथ, जिला जूनागढ, गुजरात प्रदेश) में अपने कुटुम्ब के पण्डे की बही में देखने का शुभ अवसर मिला है। उन्होने बडी विषम स्थिति मे कुटुम्ब की रक्षा की थी। साह सरयूदास के पिता अर्थात् श्रीमती पार्वती देवी के श्वसुर साह जानकी दास का काशी नगरी से करीब २० मील दूरी पर बनारस जिले के ही अन्तर्गत महदा गाँव मे सन् १८४६ मे बनवाया हुआ जनजन्तु के हित के लिए तालाब मौजूद है। मेरी बाल्यावस्था के समय के हमारे कुल के गाँवों के जिलेदार ठाकुर बागेश्वरी सिंह वही के रहने वाले थे और उन्होंने कई बार मुझ से कहा था कि वहाँ पर आप लोगो का तालाब है। आप उसको क्यो छोडे हुए हैं। उस पर आपको अपना अधिकार रखना चाहिए और उसका जीर्णोद्धार भी करना चाहिए। यह बात मुझे याद थी और कांग्रेस के कार्य के सम्बन्ध मे जिले का दौरा करते हुए मैंने इसे सन् १९२२ में प्रथम बार देखा भी था। उस समय इत्तिफाक से ठाकुर बागेश्वरी सिह के पुत्र भी वही घूमते-फिरते मिल गये थे। एक बार सन् १९२६ मे भी निर्वाचन के कार्य के सम्बन्ध में मुझे इसे देखने का अवसर मिला था। उस समय मेरे बड़े चचेरे भाई साह श्रीनिवासजी भी साथ में थे। मेरे मन में इस तालाब का भी ध्यान था। इस सम्बन्ध के सब पत्रादि अपने कुटुम्ब से मुझे मिल गये। ऐसी बातों में साह श्रीनाथजी सदा ही तत्पर रहे और उन्ही के द्वारा मुझे ये पत्र प्राप्त हुए थे। जिला अधिकारियो की कृपा और सहयोग से सरकारी दस्तावेजो द्वारा सब बात

प्रमाणित हुई और पिताजी डाक्टर साहु भगवान्‌दास जी की अनुमति से इस पर शुक्रवार १३ नवम्बर सन् १९५३ को स्मृतिपट बड़े समारोह से लगाया गया। पिताजी ने स्वय ही सब कृत्य सम्पन्न किया। इस कुण्ड का नाम 'पार्वती कुण्ड' रखा गया और शिलालेख में इतिवृत्त बतलाते हुए इसके द्वारा साहु जानकी दास और उनकी पुत्रवधू श्रीमती पार्वती देवी के प्रति कुटुम्ब की तरफ से श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का मुझे सुअवसर मिला।

अपने कुटुम्ब के सम्बन्ध मे एक बात और कह देना चाहता हूँ जो मुझे बहुत अच्छी लगी। मैंने देखा कि इस कुटुम्ब के लोगों में सम्भवतः बिना उनके जाने ही परम्परागत तीन विशेषताएँ आ रही हैं जिनका अब तक नैसर्गिक रूप से स्वत ही पालन होता रहा, चाहे स्थिति कितनी ही कठिन और गम्भीर क्यों न रही हो। एक तो मैंने देखा है कि हमारे कुटुम्बीजनो को अपने पिता के प्रति बड़ा ही सम्मान रहा है। उनकी बात किसी ने कभी नही टाली या काटी। ऐसे पुत्र भी जो साधारण तौर से लापरवाह रहे हैं या अपने तक ही अपने को सीमित रखना चाहा है, उन्होंने भी अपने पिता के आदेशो का पालन ही किया चाहे इसके कारण उन्हें स्वय कष्ट हुआ हो या कार्य-विशेष में पिता से वे सहमत न रहे हों। जब किन्हीं की मृत्यु हो जाती है तो उनकी इच्छाओ का पालन करने की सम्भवतः लोगो मे भावना नहीं ही रहती यदि कानून का कोई दवाब न हो, विशेषकर जब उसके कारण अपने ऊपर कुछ बन्धन लगता है या अपनी कुछ हानि होती है। मुझे बहुत से ऐसे दृष्टान्त मिले हैं जिनसे यह प्रमाणित हुआ कि अपने कुटुम्ब में पिता की बात की पुत्र ने कभी अवहेलना नही की। दूसरी बात मैंने यह भी देखी है कि स्त्रियो का इस कुल में बहुत मान रहा है। यों तो झगड़ों की कोई कमी नहीं रही है, परन्तु यथासम्भव स्त्रियों का आदर सत्कार बराबर किया गया और जहाँ तक हो सका निवार्य कष्टों से उनकी रक्षा की गयी। तीसरी बात मैंने यह भी देखी है कि यहाँ की पुत्रियो ने अपने ससुराल की कभी भी शिकायत नहीं की। कितने ही बडे-बड़े कष्ट उन्हें उठाने पड़े हैं, पर उन्होंने अपने मुँह से अपने नये कुटुम्बी-जनो की बुराई कभी नही की, न उन्होंने अपने पैतृक कुल के गौरव का अभिमान कर अपने पति के कुल की मर्यादा कम करनी चाही। विवाह के बाद जिस ही कुल में गयीं उसी का उन्होने मान किया और उसी को बड़ा माना। उनके मन मे अपने नये घर के ही प्रति सदा श्रद्धा और प्रेम रहा। मैं इन तीनों बातों को बहुत महत्त्व देता हूँ, और मेरी यही अभिलाषा है कि यह परम्परा इस कुल में बराबर बनी रहे और अन्य कुल के सदस्यगण भी इसे अपने प्रतिदिन के व्यवहार में ग्रहण करे।

परिशिष्ट—४

जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ

ईस्वी सन्

१८६९	डाक्टर भगवान्दास जी का जन्म
१८७९	डाक्टर भगवान्दास जी की स्नेहमयी दादी श्रीमती पार्वतीदेवी का देहान्त, जन्म-मृत्यु के रहस्य की जिज्ञासा का आरम्भ
१८८४	क्वीन्स कालेज, बनारस से कलकत्ता यूनिवर्सिटी के बी० ए०
	श्रीमती चमेली देवी के साथ विवाह
१८८५	क्वीन्स कालेज, बनारस से
	कलकत्ता यूनिवर्सिटी के एम० ए० आनर्स (दर्शनशास्त्र)
	पुत्री शान्ता का जन्म
१८८७	पुत्री विमला का जन्म
१८९०	सरकारी नौकरी का आरम्भ
	पुत्र श्रीप्रकाश का जन्म
१८९४	पुत्र चन्द्रभाल का जन्म
१८९७	पिता श्री माधवदास का देहान्त
	पुत्री सुशीला का जन्म
१८९८	सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र
१९००	पुत्र सूर्यकान्त का जन्म
	दी साइन्स ऑफ इमोशन्स का प्रकाशन
	ज्येष्ठ पुत्री शान्ता का विवाह
	पुत्र सूर्यकान्त का देहान्त
१९०४	**दि साइन्स ऑफ पीस** का प्रकाशन,
	दि सनातन धर्म का प्रकाशन,
	द्वितीय पुत्री विमला का विवाह
१९०५	पुत्री विमला का देहान्त
	दि भगवद्गीता का प्रकाशन
१९०८	ज्येष्ठ पुत्र श्रीप्रकाश का विवाह

१९०९ विदेश यात्रा के सम्बन्ध में बिरादरी से निष्कासन
१९१० **प्रणववाद** (अंग्रेजी) का प्रकाशन,
दि साइन्स ऑफ सोशल आर्गनाइजेशन आर लाज ऑफ मनु इन दि लाइट ऑफ थियासौफी का प्रकाशन
१९११ तृतीय पुत्री सुशीला का विवाह
पुत्र श्रीप्रकाश की विदेश यात्रा
१९१२ थियासोफिकल सोसाइटी में कलह
१९१४ जामाता ब्रजचन्द्र का देहान्त
१९१६ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में सक्रिय सहयोग
पौत्री प्रभावती का जन्म
द्वितीय पुत्र चन्द्रभाल का विवाह
१९१७ पौत्र इन्दुभूषण का जन्म
पौत्री सुधावती का जन्म
१९१९ उत्तर प्रदेश राजनीतिक सम्मेलन का सभापतित्व
१९२० पौत्र विधुशेखर का जन्म
पौत्र यशोवर्धन का जन्म
१९२१ अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन का सभापतित्व
दि मीनिंग ऑफ स्वराज्य का प्रकाशन
काशी विद्यापीठ की स्थापना उसके प्रथम कुलपति, अध्यक्ष तथा दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक
प्रिन्स ऑफ वेल्स के बहिष्कार के लिए एक साल की सजा
१९२२ देश-विदेशों में तीव्र आन्दोलन होने पर दो महीने बाद जेल से रिहाई
किन्तु अन्य साथियों के छूटने तक विद्यापीठ में बन्दी जीवन
ऑल इण्डिया स्टूडेन्ट कान्फ्रेन्स, गया, का सभापतित्व
छोटे भाई राधाचरण साह का देहान्त
पौत्र तपोवर्धन का जन्म
१९२३ पौत्र सुशील कुमार का जन्म
देशबन्धु चितरंजन दास के साथ स्वराज्य की योजना प्रस्तुत
बनारस म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन
अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन, बनारस की अध्यक्षता
१९२४ **कृष्ण : ए स्टडी इन दि थियारी ऑफ अवतार्स** का प्रकाशन
१९२५ चुनार में विश्राम
पौत्र शशिभूषण का जन्म
१९२६ पुत्रवधू (श्री श्रीप्रकाश की धर्मपत्नी) श्रीमती अनुसूया देवी का देहान्त

ज्येष्ठ भ्राता गोविन्द दास का देहान्त
१९२७ पौत्र चितरन्जन साहु का जन्म
१९२८ समन्वय का प्रकाशन
१९२९ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्‌ की सम्मानित उपाधि
१९३० पुत्र श्रीप्रकाश की नमक सत्याग्रह मे जेल यात्रा
१९३१ राजबन्दियो के योग क्षेम की व्यवस्था
बनारस मे हिन्दू मुस्लिम दगे के समय जान का खतरा उठाकर शान्ति स्थापन
कानपुर के हिन्दू मुस्लिम दंगे की जाँच के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस के करांची अधिवेशन में नियुक्त जाँच समिति के अध्यक्ष (समिति की सस्तुतियाँ प्रकाशित होने के पहले ही तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नमेन्ट द्वारा जब्त कर ली गयी थी)
१९३२ पौत्री प्रभावती का विवाह
लगान-बन्दी सत्याग्रह में पुत्र श्रीप्रकाश की जेल यात्रा
राजबन्दियों के योग-क्षेम की व्यवस्था
बिहार प्रान्तीय अस्पृश्यता निवारण सम्मेलन छपरा का सभापतित्व
महात्मा गांधी के अनशन की घोषणा तथा उनके निमन्त्रण पर हरिजन मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में शास्त्र चर्चा के लिए पूना यात्रा
१९३३ पौत्री प्रियम्वदा का जन्म
१९३४ काशी में सत्याग्रह आन्दोलन तथा हरिजन मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध मे महात्मा गांधी आदि अखिल भारतीय नेताओं के आगमन के समय स्वागत समिति की अध्यक्षता
पौत्री सुधावती का विवाह
१९३५ सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली की सदस्यता और चुनार से काशी वापस आना
१९३६ भारत माता मन्दिर काशी के उद्घाटन के समय महात्मा गांधी आदि अखिल भारतीय नेताओ का आगमन तथा उसकी स्वागत समिति की अध्यक्षता
१९३७ इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्‌ की सम्मानित उपाधि
१९३८ **योगसूत्र भाष्य कोश** (अग्रेजी-सस्कृत) का प्रकाशन
दि सायन्स आॅफ सेल्फ का प्रकाशन
१९४० **मानव धर्मसार** (संस्कृत) का प्रकाशन
१९४१ व्यक्तिगत सत्याग्रह मे पुत्र श्रीप्रकाश की जेल यात्रा
१९४२ **मानवार्थ भाष्य** (सस्कृत तथा हिन्दी) का प्रकाशन
भारत छोडो आदोलन मे पुत्र श्रीप्रकाश की जेल यात्रा

	डाक्टर भगवान्दास जी की भीषण अस्वस्थता
१६४३	**पुरुषार्थ** का प्रकाशन
	पौत्र इन्दुभूषण का विवाह
	वर्ल्ड वार इट्स ओनली क्योर : वर्ल्ड आर्डर एण्ड वर्ल्ड रेलिजन का प्रकाशन
१६४४	द्वितीय जामाता महावीर प्रसाद का देहान्त
१६४६	पौत्र यशोवर्धन का विवाह
	पौत्र विधुशेखर का विवाह
१६४७	पुत्र श्रीप्रकाश पाकिस्तान मे भारत के प्रथम हाई कमिश्नर
१६४६	पुत्र श्रीप्रकाश असम के गवर्नर
	पुत्र चन्द्रभाल उत्तर प्रदेश विधान परिषद् के अध्यक्ष
	पुत्र शशिभूषण का विवाह
	एनशिएन्ट साइकोसिन्थिसिस वर्सस माडर्न साइको एनालिसिस का प्रकाशन
१६५०	पुत्र श्रीप्रकाश भारत सरकार के उद्योग तथा वाणिज्य और वैज्ञानिक शोध मन्त्री
१६५२	पुत्र श्रीप्रकाश मद्रास के गवर्नर
१६५४	पौत्र श्री चितरन्जन साहु का विवाह
१६५५	भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा 'भारत रत्न' का प्रथम अलंकरण प्रदान
१६५६	पौत्र तपोवर्धन का देहान्त
	पुत्र श्रीप्रकाश बम्बई तथा नया राज्य बनने पर महाराष्ट्र के राज्यपाल
१६५७	छोटे भाई सीताराम साहु का देहान्त
१६५८	**विविधार्थ** का प्रकाशन
	देहान्त